ब्राह्मणग्रन्थ

एक अनुशीलन

डॉ० रञ्जना

इस ग्रन्थ में

मानवता के इतिहास में मन्त्र ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य प्राचीनतम ज्ञानकोष है। प्रस्तुत प्रबन्ध में ब्राह्मण-साहित्य के विषय, स्वरूप, प्रकृति तथा उसकी प्रतीकात्मकता पर गवेषणात्मक विवेचन किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रमुख उद्देश्य संहितामन्त्रों का व्यावहारिक ज्ञान कराते हुए विधि एवं अर्थवाद स्पष्ट करना है। ये ग्रन्थ यज्ञ एवं पौरोहित्यकर्म पर आप्त-प्रमाण हैं। इनमें यज्ञ-संस्कृति का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। यज्ञ, पुरोहित, देवता, राक्षस, ऋत, सत्य, अमरत्व, ब्रह्म, क्षत्र एवं मीमांसा आदि तत्त्वों की मार्मिक समीक्षा की गयी है। ब्राह्मणों में बिखरे ज्ञान-विज्ञान के अक्षय्य कोष की जानकारी कराते हुए इनमें प्रयुक्त प्रतीकों को समझने की अन्तर्दृष्टि वेदों के विमर्श में अपरिहार्य बतलायी गयी है। मानव-जीवन को मनोवाक् एवं कर्म-रूप तपोयज्ञ से जोड़कर उसे अमरत्व प्रदान करने वाली पद्धति की जो उद्-घोषणा वेदों ने की है वह विश्व-संस्कृति में नितान्त अनूठी है। संक्षेप में, सम्बुद्ध लेखिका द्वारा ब्राह्मणसाहित्य के प्रतिपाद्य एवं प्रयोजन का अति समर्थ शैली में अङ्कित समीक्षात्मक एवं आधिकारिक आकलन एक स्पृहणीय प्रयास है।

—प्रकाशक

ब्राह्मण ग्रन्थ - एक अनुशीलन

डॉ० रञ्जना
एम० ए०, डी० फिल्०,
लेक्चरर, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शिवाराधन प्रकाशन
484, पुराना कटरा,
इलाहाबाद
1988

लेखिका :

डॉ० रञ्जना

एम० ए०, डी० फिल्०

लेक्चरर, संस्कृत विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रकाशक

शिवाराधन प्रकाशन

484, पुराना कटरा,

इलाहाबाद

1988

© डॉ० रञ्जना

मुद्रक :

भार्गव प्रिन्टर्स,

लखनऊ

मूल्य रु० **160-00**

समर्पण

ऋषि - पितृ - ऋण - मुक्ति हेतु स्मेरमुख

मनीषी साक्षाद्वेदमूर्ति दिवंगत

परमहंस पितामह

पं. रामानन्द जी मिश्र

को

यह श्रद्धा-प्रसून

साभिवादन

सविनय

समर्पित

है।

Dr. Sadashiv A. Dange
M. A., Ph. D., D. Litt.

Ex. R. G. Bhandarkar, Prof., and Head,
Deptt. of Sanskrit,
University of Bombay

Resi. :
'Girnar'
Gokhale Road, Mulund (E),
BOMBAY - 400 081.
PHONE - 561 81 35

बम्बई ८१
दि. २४-८-८७

डॉ. रञ्जनाजी का ग्रन्थ: ब्राह्मण ग्रन्थ-एक अनुशीलन: पढ़कर सन्तोष हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों में पाये जानेवाले मन्त्र और विधि इनके सामञ्जस्य पर, तथा देवताओं के विकासपर इस ग्रंथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न सराहनीय है। पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों के मतों का परामर्श लेकर, लेखिका ने सहजसरल भाषा में ब्राह्मणग्रन्थों का अपना अध्ययन और मन्तव्य प्रस्तुत किया है। 'ब्रह्म' में कर्म और मन्त्र इन दोनों का सामञ्जस्यपूर्ण अन्तर्भाव है यह लेखिका का विचार परम्परापर आधारित है। इस विचार का विवेचन स्तुत्य है। 'मन्त्र-कृत्' संबन्धी, 'मन्त्रको प्रकट करनेवाला' यह, लेखिका का स्पष्टीकरण भी ग्राह्य है। ग्रन्थ लेखिका की चिकित्सकता तथा प्रज्ञा का प्रमाण है। अत: यह केवल पठनीयही नहीं, संग्राह्य भी है।

सदाशिव अं. डांगे

S A Dange 24.8.87

महामण्डलेश्वर डॉ० स्वामी श्यामसुन्दरदास शास्त्री
एम० ए० सांख्ययोगवेदान्ताचार्य, साहित्यायुर्वेदाचार्य,
बी.आई.एम.एस.

दूरभाष : ३११
श्री साधु गरीबदासीय
सेवाश्रम ट्रस्ट, मायापुर,
हरिद्वार-२४९४०१

दिनांक १४-१२-८७

शुभासंनम्

डॉ० रञ्जनाजी की पुस्तक 'ब्राह्मण ग्रन्थ एक अनुशीलन' पढ़कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। मन्त्र एवं ब्राह्मण मिलकर वेद का निर्माण करते हैं। ब्राह्मण-साहित्य मुख्यतया याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा विधि की विवेचना करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ब्रह्म' एवं 'मन्त्र' की विशद व्याख्या की गई है। मन्त्रों में ज्ञान एवं कर्म दोनों ही अन्तर्निविष्ट हैं। अतएव ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड विषयक समस्त विन्दुओं का निर्वचन एवं स्पष्टीकरण किया गया है।

विदुषी लेखिका ने भारतीय आर्ष-परम्परा तथा पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टि-कोण को प्रस्तुत करते हुए यज्ञ-विधान, देवता एवं राक्षस तत्त्व, ब्राह्मणों में निहित ज्ञानकोश तथा ब्राह्मण कालीन संस्कृति जो वर्णाश्रम परक होते हुए भी मूलतः धर्मनिरपेक्ष थी, आदि विषयों का विवेचन वड़ा ही पाण्डित्य पूर्ण किया है। 'ऋत' 'सत्य', ब्रह्म-क्षत्र, अमरत्व एवं मीमांसा आदि तत्त्वों का मर्मस्पर्शी विमर्श अत्यन्त अनूठा है जो लेखिका की वैदिक वाङ्मय में गहरी पैठ का परिचायक है। वेदों के अपौरुषेयत्व एवं सनातनत्व के प्रतिपादन में लेखिका ने पाश्चात्य विद्वानों के पूर्वाग्रहों से प्रभावित वेद-विषयक मतों का निरसन करते हुए आस्तिकता प्रधान प्राचीन पद्धति को अति समर्थ शैली में पुनः स्थापित किया है। वैदिक साहित्य के तत्त्ववोध में प्रयुक्त 'प्रतीकों' को ढूंढ निकालकर उन्हें समझाने का लेखिका का सत्परामर्श वैदिक विमर्श में एक नयी दिशा प्रदान करता है। डॉ० रंजनाजी का यह ग्रन्थ प्राञ्जल भाषा में लिखा हुआ एक उत्कृष्ट कोटि का शोध ग्रन्थ है जिसमें वेद के जिज्ञासुओं को वेदों के गूढ़ार्थ को समझने में अपार सहायता एवं नवीन दिशा मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

डॉ० रंजनाजी ने अपनी संरचना में जहाँ पाश्चात्य विद्वानों की चर्चा की है उसमें प्रसिद्ध जर्मनी के विद्वान् मैक्समूलर की वैदिक निष्ठा का भी चित्रण किया है जिससे भारतीय ऋषि-मुनि परम्परा एवं वैदिक सिद्धान्तों का अनायास स्मरण हो जाता है। मैक्समूलर लिखता है कि मेरा देश 'जर्मन' नहीं अपितु 'शर्मन' है, 'जर्मन, शब्द अपभ्रंश है।

डॉ० रंजनाजी की इस वैदुष्यपूर्ण संरचना ने हमें पुरातन युग अथवा वैदिक काल का हठात् स्मरण करा दिया जब मानव समाज में पुरुषों के समान नारियां भी शिक्षा के क्षेत्र में अपना प्रभाव प्रताप रखती थीं। नारियां यज्ञोपवीत, कुशा, मेखला धारण कर हवन याग करती थीं। अग्निदेव की अर्चना करती थीं। इनमें गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषियां भारत की गौरव प्रसिद्ध हैं। भारत-भूमि, अवतार-भूमि, देव-भूमि अन्वर्थनामा है।

पुरा कल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धन मिष्यते
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥

अन्त में, मैं ऐसी विलक्षण प्रतिभासम्पन्न लेखिका को उक्त रचना के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ तथा उसके प्रकाशन के लिए विशेष शुभकामना करता हूँ।

विद्यावारिधि विदुषी रंजना वेदरंजना
भारतभारती स्वस्था तल्लीना स्यान्निरंजने

इति शम्।

सदा शुभचिन्तक—

स्वामी श्याम सुन्दरदास शास्त्री

मंत्री
भारत साधु समाज।

पुरोवाक्

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। —ऋग्वेद

लगभग दस वर्ष पूर्व इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 'प्राच्यन्याय में कथा का उद्भव और विकास' विषय पर शोध कार्य सम्पन्न करने के अनन्तर यह सोच रही थी कि पठन-पाठन का क्रम कैसे और सार्थक बनाऊं कि संयोगवश उसी समय प्रोफेसर मैक्समूलर का ग्रन्थ पढ़ने को मिल गया। जीवन भर वेदों का गूढ़ अनुशीलन करने के वाद प्रोफेसर मैक्समूलर ने वेदों, उनके द्रष्टा दिव्य ऋषियों तथा भारत भूमि के वारे में जो कुछ भी कहा वह अपने में ही अद्वितीय है :—

'If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that nature bestows in some parts a very paradise on earth-I would point to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of the choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we, in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one semitic race, the Jews, may draw that, corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more human a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life-again I should point to India.[1]'

यद्यपि मेरे पिताश्री एवं गुरुवर प्रो० डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र यही चाहते रहे कि दर्शन के किसी विषय पर आगे शोध कार्य करूँ, किन्तु दार्शनिक परम्परा के भी उत्स एवं इतर समस्त ज्ञान के मूल स्रोत वैदिक-साहित्य पर कुछ चिन्तन-

1. एफ० मैक्समूलर : इण्डिया वॉट् कैन इट् टीच् अस

मनन कर अपनी विचार दृष्टि विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने की प्रबल उत्कण्ठा हुई। इस उत्कण्ठा को अनुष्ठान में परिवर्तित करने का श्रेय श्रद्धेय स्व०प्रो० डॉ० सूर्यकान्त को रहा है जो वैदिक वाङ्मय में न केवल पारंगत थे, अपितु प्राच्य एवं पाश्चात्य मनीषा के मञ्जुल, सामंजस्य थे। उनकी गवेषणा-दृष्टि नवोन्मेष-शालिनी व अति-कुशाग्र थी। नव-पुरातन के वह मर्मज्ञ थे। वह जब पिताजी के घर आया करते थे तो बारम्बार मुझसे यह कहते, 'तेरा पिता तो दर्शन का पण्डित है, बेटी! तू दर्शन की जड़ में पैठकर देख क्या मेधा थी उन ऋषियों की जिन्होंने मानव इतिहास के उषःकाल में हो सृष्टि एवं सर्जक से जुड़ी जिज्ञासाओं को पूर्वपक्ष बनाकर किस जीवन-जगत्-अध्यातम की दिव्य समन्वित दृष्टि दी जो बौद्धिक व्यायाम न बनकर विश्व के लिये सनातन शान्ति की छाया बनी।' प्रोफेसर मैक्समूलर तथा उस ऋषिकल्प मनीषी के प्रेरक वचनों ने मुझे ब्राह्मण ग्रन्थ पढ़ने के लिये साहस व सम्बल प्रदान किया। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय उन्हें शतशः प्रणामाञ्जलियाँ अर्पित हैं।

ब्राह्मण-साहित्य आज भी अनुसन्धाता व गवेषकों के लिए रहस्यपूर्ण चुनौती बना हुआ है। इसमें कोई दो राय नहीं कि आधुनिकतम पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान हमारी वैदिक थाती का उच्छिष्ट-सा दिखलायी देता है। वैदिक साहित्य ने मानव के ऐहलौकिक जीवन की गति को मनोवाक् एवं कर्मरूप जिस तपोयज्ञ से जोड़कर उसे अमरत्व में परिणमित करने की उद्घोषणा की है, वह विश्व की किसी भी संस्कृति में दिखाई नहीं देती।

वेद ज्ञान के पवित्रतम एवं प्राचीनतम ग्रन्थों का समन्वित नाम है। 'वेद' शब्द मूलतः ज्ञानार्थक है। 'ऋक्प्रातिशाख्य' के वृत्तिकार विष्णुमित्र ने 'वेद' शब्द का अर्थ लाभ एवं ज्ञान दोनों ही रूपों में करते हुए कहा है—'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिः धर्मादि-पुरुषार्थाः इति वेदाः', अर्थात् जिनसे पुरुषार्थचतुष्टय जाना व पाया जाय, वे वेद हैं। व्युत्पन्न वेदभाष्यकार सायण ने कहा है—

'अलौकिकं पुरुषार्थोपायं यो वेत्यनेनेति वेद-शब्द-निर्वचनम्।' इष्टप्राप्त्य-निष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।' अर्थात् जीवन में इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण में वेद साधनभूत अलौकिक उपायों का ज्ञान कराता है। शुक्लयजुर्वेद तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वेद का ज्ञानार्थ ही स्वीकार किया है।

पाश्चात्य विद्वानों उदाहरणार्थ, ग्रिफिथ, मैक्समूलर, मैक्डॉनल एवं विन्टर-नित्ज़ आदि ने 'वेद' शब्द का ज्ञान अर्थ ही माना है। इनके अनुसार 'वेद' शब्द हिन्दुओं के एक प्राचीन प्रारम्भिक विशिष्ट साहित्य को द्योतित करता है। विन्टरनित्ज़ ने 'वेद' का अर्थ करने में न केवल ज्ञान पर वल दिया है, अपितु वेद में पवित्र धार्मिक ज्ञान का अंकन होना बतलाया है। वैदिक वाङ्मय न केवल आधुनिक भारत के लिये अपितु समूची मानवता के लिये प्राचीन भारत की सर्वातिशायिनी एवं अतिसमृद्ध धरोहर के रूप में अमर है। वैदिक साहित्य प्राचीनतम भारोपीय साहित्य का मूर्त निदर्शन है जिसमें भारत की अध्यात्म-प्रधान सभ्यता एवं सस्कृति को मनोरम झांकी दिखायी देती है।

मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों भाग मिलकर वेद का प्रणयन करते हैं। सायण ने मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि को ही एकीकृत रूप से वेद कहा है—'मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः'। अन्य सभी परम्परावादी विद्वानों की भी यही धारणा रही है। भगवान् आदि शंकराचार्य ने इसी मत से सहमति व्यक्त करते हुये कहा है—ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं शक्यते।' आधुनिक विद्वानों ने भी मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों के युगपत् रूप को ही वेद माना है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का समाज-सुधारक व्यक्तित्व ही ब्राह्मणों को वेद न मानने का मुख्य कारण रहा है। वास्तव में देखा जाय तो यह विवाद व्यर्थ का विवाद है। ब्राह्मणों में यज्ञ-विधान एवं इतर धार्मिक अनुष्ठान वर्णित हैं। यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये मन्त्र की ही भांति ब्राह्मण भी अपरि-हार्य हैं। इसी क्रम में मन्त्र एवं ब्राह्मणों का स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है। पूर्वमीमांसा सूत्रों के अनुसार मन्त्र कर्म प्रेरक हैं तथा कर्म हेतु आदेश देते हैं, शेष ब्राह्मण कहलाते हैं। आपस्तम्ब का कथन है कि कर्मप्रेरक ब्राह्मण कहलाते हैं। अर्थवाद, निन्दा व स्तुति करने वाले, परकृति एवं पुराकल्प ब्राह्मण कहलाता है, इसके अतिरिक्त अंश मन्त्र हैं। इस प्रकार समस्त वेद-राशि मन्त्र एवं ब्राह्मणों से सम्पृक्त है जो ब्राह्मण भाग के माध्यम से विविध यज्ञ, होम, दान, स्तुति, उपासना रूप कर्मों को प्रेरित करती है।

कालक्रम से मन्त्रों के वास्तविक अर्थ तथा यज्ञों में उनके विनियोग की विधि धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही थी। अतः ऋषियों ने ऐसे साहित्य की अनि-वार्यता का अनुभव किया जो संहितामन्त्रों का अर्थबोध करा सके तथा यज्ञों में उनका सही-सही विनियोग भी सुस्पष्ट कर सके। मूलतः ब्राह्मण ग्रन्थ इस कमी

की पूर्ति करते हैं। यज्ञों का वास्तविक स्वरूप, अभिप्राय, रहस्य एवं उनकी प्रतीकात्मकता (Symbolism) ब्राह्मणसाहित्य के वर्ण्य-विषय बने। समाज के विकास के साथ देश, काल एवं अध्यापन की सीमाओं तथा कठिनाइयों के कारण वैदिक परम्परा में शनैः शनैः शाखाओं का जन्म हुआ। शाखा गुरु-शिष्य की उस परम्परा का नाम है जो एक अतिविशिष्ट वैदिक पाठ में निष्ठा रखती थी। प्रत्येक शाखा द्वारा अपनाया गया पाठ अपना वैशिष्ट्य रखता है। वैदिक संहिताओं के विभिन्न पाठ-पाठान्तर इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि वैदिक काल में प्रत्येक संहिता के लिये अनेक शाखाएँ रही होंगी। आज बहुत सी संहिताएँ काल के गर्त में चली गयी हैं।

इस प्रबन्ध में 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ निरूपित करते हुए ब्राह्मण-साहित्य के विषय, स्वरूप तथा प्रकृति पर विचार किया गया है। यह विचारणीय है कि यज्ञ मृत्यु के बाद स्वर्ग-सुख पाने हेतु मात्र औपचारिक कर्मकाण्ड नहीं है। यज्ञ का मूलभूत उद्देश्य नैतिक चेतना को शाश्वत अमरत्व की ऊँचाइयों तक उठाना था जिसके लिये स्वः (स्वर्ग) का नाम दिया गया। द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ दोनों ही मानव को उन ऊँचाइयों तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। इसीलिये कर्म एवं ज्ञान में परस्पर कोई विरोध नहीं है। वास्तव में संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् सभी एक दूसरे से सम्पृक्त हैं तथा एक दूसरे को एक भावसूत्र में पिरोये हुए हैं। ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्म अथवा मन्त्र की जिनमें कर्म एवं ज्ञान दोनों का समावेश है, विशद व्याख्या करना है। मन्त्रों को समझने में जहाँ-जहाँ व्याख्या की आवश्यकता पड़ी उनकी व्याख्या करने तथा कर्मकाण्ड से सम्बद्ध प्रकरणों एवं ज्ञान-विषयक बिन्दुओं को स्पष्ट करने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गये।

मन्त्र और ब्राह्मण साहित्य की पूर्वापरता की बहस भी निर्मूल है। लेखिका की यह दृढ़ धारणा है कि यह बात निर्विवाद सिद्ध नहीं की जा सकती कि सम्पूर्ण ब्राह्मण-साहित्य मन्त्र-साहित्य के बाद का है, क्योंकि तब यह बतलाना कठिन हो जायेगा कि आखिर मन्त्रों को कैसे समझा गया तथा उनके निर्माण काल में उनका उपयोग कैसे किया गया विशेषकर उस स्थिति में जबकि मन्त्रों का उपयोग हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करने वाले प्राचीनतम व्याख्यान हैं, किन्तु वे मन्त्रों की शब्दशः व्याख्या नहीं करते। ब्राह्मणों का उद्देश्य मन्त्र और यज्ञ में मन्त्र और विनियोग के बीच की कड़ी जोड़ना है, मन्त्र के प्रत्येक शब्द का अर्थ करना नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञानुष्ठान की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं

तथा वे ज्ञान-विरुद्ध कोई बात नहीं करते। इसके विपरीत ये ग्रन्थ प्रायः यह उद्घोष करते हैं कि यज्ञ के प्रयोजन का ज्ञान उतना ही प्रभावशाली व महत्त्वपूर्ण होता है जितना यज्ञ का अनुष्ठान कर्म।

वैदिक धर्मानुयायी के लिये यज्ञ एवं पौरोहित्य के इतिहास पर ब्राह्मण ग्रन्थ उसी प्रकार आप्तप्रमाण हैं जैसे पूजा आराधना के क्षेत्र में यजुर्वेद की संहिताएँ हैं। वैदिक प्रतीकों को समझने में ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रभूत सहायता मिलती है।

वेद अपौरुषेय हैं। जिन पार्थिव व्यक्तियों का नाम-सम्बन्ध वैदिक संहिताओं से बतलाया गया है वे उनके रचनाकार नहीं, बल्कि उनके द्रष्टा व उद्घोषक थे। इन नामों के सम्बन्ध में यह सदैव ध्यान में रखना होगा कि ये व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं हैं, अपितु सामान्य संज्ञा हैं। वास्तव में ये नाम किन्हीं पुरुषविशेषों के नाम नहीं थे, बल्कि ये प्रतीकात्मक अथवा किन्हीं के गुण-समुच्चय का बोध कराते हैं। 'कन्या', 'कृष्ट', 'अत्रि', 'गोतम', 'शुनः शेप', आदि शब्द व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं, अपितु ये आध्यात्मिक विजय के द्योतक हैं जो मानवता के अनुभव में बारम्बार आते रहते हैं। इस सन्दर्भ में 'शतपथब्राह्मण' में एक मनोवैज्ञानिक बिन्दु प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार देवों ने वेदों को मनः समुद्र से उत्पन्न किया[1]। ऋषियों ने अव्यक्त रूप से विद्यमान वेदों को मनः समुद्र से निकालकर उन्हें भौतिक रूप से प्रत्यक्ष रख दिया। ऋषियों द्वारा वेदों को मन की अर्द्धचेतनावस्था से खींचकर चेतनावस्था में लाया गया है। इस धारणा से स्पष्ट है कि ऋषियों ने वेदों का न तो आविष्कार किया और न ही उनकी रचना की, बल्कि उन्हें विश्व के समक्ष मात्र उद्घाटित किया।

इसी क्रम में शब्द 'मन्त्रकृत्' को भी समझ लेना चाहिये। 'मन्त्रकृत्' का अर्थ मन्त्रकर्ता न होकर मन्त्र को प्रत्यक्ष 'प्रकट' करने वाला है। मन्त्र अर्थात् 'वाक्' का अन्वेषण ऋषियों ने तप के माध्यम से किया—'यां ऋषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः। अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण। तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु प्रकृतस्य लोके[2]।' इससे ध्वनित होता है कि ऋषियों के नाम चित्त की वृत्ति को इंगित करते हैं, मानव को नहीं। इसलिये 'शतपथ-ब्राह्मण' में ऋषि वसिष्ठको प्राण (वायु) भरद्वाज को मन, जमदग्नि को चक्षु, विश्वामित्र को कर्ण (श्रोत्र) एवं ऋषि विश्वकर्मा को वाक् कहा गया है— 'प्राणो वै वशिष्ठ ऋषिः मनो वै

1. श० ब्रा० 7 4.2.52
2. तै० ब्रा० 2.8.8.5

भरद्वाज ऋषिः। चक्षुर्वै जमदग्निः। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः वाग्वै विश्वकर्मर्षिः'। ब्राह्मणों में व्यक्त निष्ठा के अनुसार वेद उन ऋषियों के समक्ष प्रकट हो जाता है जो एतन्निमित्त तप ठान लेते हैं। यह भारतीय आस्था का एक अनुभूत तथ्य है।

'महाभारत' में अनेक स्थलों पर यह आया है कि गुरु जब अपने शिष्य के चरित्र व स्वभाव से संतुष्ट व प्रसन्न हो जाता था तो उसे यह आशीर्वाद देता था कि वह वेदों का पूर्ण ज्ञाता व पटु हो जाय। यह वरदान शिष्य को अनायास ही सर्वविद्या-पारंगत कर देता था। इसका सीधा-सादा यह अर्थ है कि वैदुष्य हेतु 'ज्ञानार्जन-क्रिया' नहीं, अपितु गुरुकृपा अनिवार्य थी। अतः वैदिकसाहित्य मानव-बुद्धि-जन्य न होकर दिव्यदृष्टि से स्वतः प्रस्फुटित हुआ माना गया। 'वेद मानव-कल्पना की प्रसूति नहीं है' यह कथन तर्कसंगत भले ही न लगे, किन्तु अनुभूति की यही वास्तविकता है। अनुभूति सदैव दिव्य होती है। वह मानव-मस्तिष्क में मात्र अवतीर्ण होकर प्रत्यक्ष हुआ करती है। 'आवेस्ता' की गाथाओं में शब्द 'देखना' प्रस्फुटन के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। यह साम्य वैदिक साहित्य में यथावत् विद्यमान है। 'ऋषि' शब्द का अर्थ ही द्रष्टा है। अतः ऋषि मन्त्र-द्रष्टा थे, मन्त्रकर्त्ता नहीं। वेद नित्य हैं, अमर हैं। उनमें अक्षुण्णता के बीज निहित हैं। अतएव मन्त्रों के यथार्थ स्वरूप एवं भाव को हम तब तक समझ नहीं सकते जब तक हम उनके नित्यत्व को मान न लें। वेद में 'नमुचि' के आख्यान को तत्त्वतः तभी समझा जा सकता है जब वेद की नित्यता को मान लिया जाय।

ब्राह्मण ग्रन्थों में देवविषयिणी अवधारणा पर विचार इनके प्रतिपाद्य विषय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ब्राह्मण साहित्य के अनुसार देवगण वे शक्तियाँ हैं जो भू लोक में आने वाले 'जीवों' को भी द्योतित करती हैं। ब्राह्मणों के अनुसार देवगण भी पहले मरणधर्मा रहे, किन्तु 'संवत्सर' की उपलब्धि से उन्हें अमरत्व की सिद्धि मिली[1]। सृष्टि प्रक्रिया में देवगण पहले उद्भूत हुए तथा मनुष्य बाद में उत्पन्न हुए—'प्राचीन प्रजनना वै देवाः प्रतीचीन प्रजनना मनुष्याः', (श०ब्रा०)। आद्यवस्था में देवगण और मनुष्य सहवासी रहे होंगे, किन्तु विकास की उस स्थिति में भी देव विलक्षण शक्ति से सम्पन्न थे। मानव के लिए प्रत्यक्ष वस्तु देवों के लिये परोक्ष थी तथा मानव के लिए परोक्ष वस्तु देवों के लिए प्रत्यक्ष थी। इस शक्ति वैलक्षण्य तथा अमरत्व की प्राप्ति हेतु देवों को घोर तप करना पड़ा। शतपथ-ब्राह्मण का उपर्युक्त कथन कि देवगण को अमरत्व तब

---

1. 'मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः। स यदैव ते संवत्सरमापुः अथामृता आसुः'। श० ब्रा० 7.4.2.40

प्राप्त हुआ जब वे संवत्सर को प्राप्त हुये—प्रतीकों से गर्भित है। 'सवत्सर' काल का प्रतीक है। अतएव देवगण तभी अमरत्व पाने में सफल हुये होंगे जब उन्होंने काल पर आधिपत्य प्राप्त किया होगा। इस प्रकार काल-तत्त्व से जीवात्मा (प्रजा) का तादात्म्य बोध जीवात्मा को देवत्व की श्रेणी में बैठा देता है। विकास-क्रम में जैसे-जैसे जैविक शक्तियां कालजयी होती गयीं तैसे-तैसे ये ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोक-सोपानों पर परस्पर आकर्षण, संतुलन एवं सामञ्जस्य बनाने में व्याप्त होती गयीं। इन दैवी शक्तियों की विशिष्ट क्रियात्मकता, गुण-वत्ता एवं उनकी प्रकृतियों के अनुरूप ही संभवतः ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हें वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों में विभाजित किया गया।

यज्ञकर्म से देवगण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः यज्ञ देवों का आत्म-तत्त्व है। यज्ञ ही देवों का भोज्य है। सूर्य देवों की ज्योति है। पशु भी देवों का अभिन्न अंग है, क्योंकि यज्ञ में पशु-प्रयोग निहित है। देव एवं मनुष्य दोनों पशु पर ही जीवित हैं। ओषधियां देवों की पत्नी कही गयी हैं। इस प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड एक अनादि एवं अनन्त शक्ति का मूर्त रूप है। देव, मनुष्य, पशु एवं वनस्पतियां सभी विराट् (वि-राज-प्रकाशमान) शक्ति के अविभाज्य अंग हैं। इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में पशु, मनुष्य एवं वनस्पति में कोई तात्त्विक भेद नहीं रह जाता। ब्राह्मणों में यह निश्चित धारणा व्यक्त की गयी है कि यज्ञकर्म द्वारा मनुष्य देवत्व की कोटि में पहुँच जाता है। मनुष्य का गन्तव्य भी देवत्व प्राप्त कर द्युलोकवासी होना कहा गया है। देव सत्यमय हैं, सर्वज्ञ हैं, किन्तु देवों को अपना देवत्व बनाये रखने के लिये 'ऋत' एवं 'सत्य' की सार्वभौम एवं नियामक लीक पर सदैव चलना पड़ता है, अन्यथा उन्हें भी मरणशील रूप धारण कर जन्म-मरण के चक्र में पुनः प्रविष्ट होना ही पड़ता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'।

देवों के साथ ही ब्राह्मणों में असुरों के विषय में गहन विमर्श किया गया है। ब्राह्मण साहित्य में देवासुर संघर्ष एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। देवासुर संघर्ष के ये वर्णन परवर्ती पुराण साहित्य के लिये उपजीव्य स्रोत के रूप में रहे हैं। ब्राह्मणों में यदि 'देव' शब्द प्रकाश (ज्ञान) का प्रतीक है तो असुर अन्धी शक्ति-मत्ता का। 'असुर' शब्द 'रा' धातु से निष्पन्न 'असु' (प्राण) से बना है जो शक्ति-सम्पन्नता का अर्थ द्योतित करता है। ये असुर प्राण तथा इन्द्रियों में ही रमण करते रहते हैं। ब्राह्मणों के अनुसार देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें हैं। ब्राह्मणों में असुरों को सपत्न तथा देवों को भ्रातृव्य कहा गया है। असुर प्रजा-

पति की जाँघ से उत्पन्न हुए बताये गये हैं जो इनकी वासनात्मक प्रवृत्ति का द्योतन करते हैं। भौतिक शक्ति-संवर्धन ही इनका प्रमुख उद्देश्य रहता है। इनका बौद्धिक पक्ष गौण रहता है।

समस्त भौतिक पदार्थ असुरों के अधीन व उनका भोग्य कहा गया है जबकि देवों के अधिकार-क्षेत्र में मात्र 'वाक्' बतलाया गया है। यज्ञानुष्ठान देवों के अंश में चला गया। संघर्ष के अन्त में देवों का बुद्धि-वैभव ही असुरों की भौतिक शक्ति पर बिजय पाता है। देवों के पुरोहित बृहस्पति हैं, असुरों के 'उशनस् काव्य'। बृहस्पति 'मेधा' का प्रतीक है जबकि 'उशनस् काव्य' उद्दाम वासना का। 'उशनस् काव्य' का अर्थ ही 'काल्पनिक इच्छा' है ('वस्' धातु-इच्छा अर्थ में प्रयुक्त है तथा काव्य-काल्पनिकता का प्रतीक है)। असुर कल्पना के सहारे नित्य नयी-नयी वासनाओं की इच्छा करते रहते हैं। अतएव स्वभावतः देव धर्मार्जन करते हुए तथा असुर भोगार्जनरत दिखाये गये हैं। देवों तथा असुरों की परस्पर होड़ का आधार यज्ञ-प्रक्रिया बताई गयी है। जो कार्य देव करते हैं, वही असुर भी करना चाहते हैं, किन्तु दोनों की कार्य-शैली में मौलिक भेद रहता है। देव मेधावी हैं, अतएव नवीन तकनीक व शैली अपनाते हैं, असुर इस बुद्धि-चातुर्य के आगे टिक नहीं पाते। ब्राह्मणों के अनुसार देवासुर संघर्ष का कारण भौतिक सुखोपलब्धि भी है। देव बुद्धिमान् हैं, अतः शान्त होकर बैठ जाते हैं, जबकि असुर संसार पर आघात पहुँचाते रहते हैं। वास्तव में असुर मनुष्य थे। अतएव देवासुर संघर्ष काल्पनिक नहीं था। देव विवेकी मस्तिष्क के द्योतक हैं जो बुद्धि एवं पाशविक शक्ति में सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। इसलिए देव 'ऋत' एवं 'सत्य' के विरुद्ध कभी नहीं जाते। असुर बुद्धिविहीन हैं, अविवेकी हैं, अतएव ज़िद्दी, तामसी व अवष्टम्भक हैं। ब्राह्मण-साहित्य की पृष्ठभूमि में वृत्र इसी आसुरी प्रवृत्ति का प्रतीक है, किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं। वृत्र अगणित हैं। इसका शाब्दिक अर्थ 'ढंकना', 'अवरुद्ध करना' अथवा 'रोकना' है[1]। वस्तुतः मानव-मन में छिपी यह कुप्रवृत्ति ही है। सनातन काल से समस्त शुभ कृत्यों में 'वृत्र' बाधक शक्ति का काम करता आया है। इस विरोधी शक्ति का दमन इन्द्र द्वारा कराया गया है। अतएव 'वृत्र' पाप का बन्धु व पर्याय है। जब-जब पाप बढ़ जाता है तो वह सहज सात्त्विक प्रवृत्ति को धक्का पहुंचाता है। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि 'नमुचि', 'बल', 'शुष्ण' आदि नाम अवरोधक तत्त्व के ही प्रतीक हैं।

1. वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्तो नाम। श० ब्रा० 1.1.3.4

संस्कृत की 'मुच्', 'सृज्', 'स्रथ्', 'स्पृ', तथा 'हृ' आदि धातुएं उपसर्गों से संयुक्त होकर छोड़ने, त्यागने अथवा छुटकारा देने का अर्थ प्रदान करती हैं। अतः 'सृष्टि' शब्द का वही अर्थ है जो 'मोक्ष' का है। सृष्टि-विकास की प्रक्रिया में बीज की मुक्ति ही तो होती है जो छूटकर विस्तृत आकार प्राप्त करता है। मोक्ष में भी स्थूल से मुक्ति मिलकर सूक्ष्म कलेवर की प्राप्ति होती है। 'नमुचि' की कथा 'मुक्ति' के सनातन संघर्ष का उदाहरण है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विवेक बल से मन एवं इतर इन्द्रियों में समन्वय व नियन्त्रण रखना ही देवत्व है तथा इसकी विरोधी प्रवृत्ति असुरत्व। ब्राह्मणों में वर्णित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'देवासुर संघर्ष' सत् एवं असत् के परस्पर संघर्ष का प्रतीक है। विरोधी गुणों-प्रवृत्तियों की एकत्र सह-स्थिति प्रकृति का एक विचित्र नियम है। असत् सत् को एवं असुरत्व देवत्व को न केवल प्रत्यक्ष स्फुट कराने में सहायक होता है, प्रत्युत अपने विरोधी गुण के कारण ही विरोधी को स्थिति भी प्रदान कराता है। ब्राह्मण-साहित्य के विमर्श में यह दृष्टि नितान्त उपयोगी प्रतीत होती है।

ग्रन्थ में वेद के रचनाकाल पर उपलब्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के मत-मतान्तर का विवेचन भी किया गया है। वास्तव में वेदों के निर्माण-काल में पूर्वापरता की धारणा सही धारणा नहीं कही जा सकती। लेखिका की अल्प मति में वैदिक साहित्य के विभिन्न अंगोपांगो में परस्पर भाषा-शैलीजन्य विशिष्टताएं अवश्यमेव विद्यमान रही हैं, उनमें कालक्रम की पूर्वापरता नहीं रही है। मन्त्र एवं ब्राह्मण ऐसे दो विशिष्ट प्रकार के साहित्य एवं वाणी-विलास को प्रस्तुत करते हैं जिनकी रचना में समकालिकता थी, ऐसा हमारा विश्वास है। पूजा-आराधना विषयक मन्त्र यज्ञकर्म का प्रयोग बताने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों से अपनी विशिष्टता एवं पृथक्ता अवश्य लिये हुए हैं, किन्तु यह पृथक्ता रूप-शिल्प एवं शैलीगत है, इनके परस्पर पूर्ववर्ती अथवा पश्चवर्ती होने के कारण नहीं। ब्राह्मण-साहित्य ज्ञान-विज्ञान के अक्षय्य कोष हैं। अतएव अध्यात्मवाद, विश्वसृष्टि सम्बन्धी अवधारणाएँ, ओषधि, वनस्पति, मनोविज्ञान, निरुक्त, शिक्षा, छन्दस् कलाएं, धर्म, समाज, वर्णव्यवस्था, राज्यतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता, व्रात्या, ब्रह्मक्षत्र, पुनर्जन्म, ऋत, सत्य, अनृत, अमृत, ऋणत्रय एवं मीमांसा आदि ऐसे विषयों पर भी विवेचन किया गया है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित व चर्चित हैं।

वैदिक साहित्य के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है

कि भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को समझने हेतु अनेक प्रकार की व्याख्याएं व उद्भावनाएं की हैं। पाश्चात्यों की दृष्टि सामान्यतया तुलनात्मक, धर्मशास्त्रीय एवं भाषा-वैज्ञानिक रही है। वे भारतीय परम्परा व मान्यता को समझ ही नहीं सके। इस प्रक्रिया में इन आधुनिक समीक्षकों ने वैदिक साहित्य को अनेक कृत्रिम भागों में बांट दिया तथा उनको ऐसी एकाङ्गी समीक्षा की कि एक भाग को दूसरे से असम्पृक्त एवं अलग-थलग कर दिया। फलतः वे प्रतिपाद्य से दूर चले गये। नक्षत्र-शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की गयी व्याख्याएं भी निरापद नहीं रहीं। वेदों की व्याख्या में एक अन्य पद्धति 'रहस्यमयी' पद्धति रही है। मनु ने इसका अनुसरण करते हुये कहा है कि वेदाध्यापन में 'कल्प' (विनियोग) तथा 'रहस्य' (गुह्य तत्त्व) को भी पढ़ाना चाहिये। अभिधेयार्थ पढ़ाने के बाद गुरु अति समर्थ शिष्य के कान में रहस्य का ज्ञान भी कहता था। ये रहस्य कदापि लिपिबद्ध नहीं हुए, श्रुति परम्परा से ही पीढ़ी दर पीढ़ी चलते रहे। इसीलिए श्रुति की महती परम्परा भी इन्हें लुप्त होने से बचा नहीं सकी।

आज सायण द्वारा मान्य यज्ञ-कर्मकाण्ड पद्धति तथा पाश्चात्यों द्वारा बहुचर्चित प्रकृतिवादिता के सिद्धान्त का सामान्यतया समादर है, किन्तु इसके भी नेपथ्य में वेदों का गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। वेदवित् आज भी अतृप्त है, जिज्ञासु है। इस जिज्ञासा की शान्ति हेतु वेदों में 'प्रयुक्त प्रतीकों का वास्तविक अर्थ समझने की नितान्त आवश्यकता है। ब्राह्मणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वेदों में उनके अर्थ की जानकारी हेतु पर्याप्त निर्देशक इंगित उपलब्ध हैं। इनमें प्रकृति के मूलभूत उपादानों अर्थात् विश्व-प्रकृति एवं परमात्मा के विराट्रूप का जिसमें मानव काया में लिपटा जीव अन्तर्ग्रस्त है, विवेचन वाञ्छनीय है। इस पद्धति से वेद का अध्ययन करने का तात्पर्य है मानव जीवन का विराट्-ब्रह्माण्ड की पृष्ठभूमि में अध्ययन करना। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध में ब्राह्मण साहित्य में आये तत्त्वों, पदार्थों एवं प्रकरणों आदि का प्रतीकार्थ समझने के मन्तव्य से अध्ययन किया गया है तथा सर्वत्र लेखिका की यही चेष्टा व दृष्टि रही है। यह एक समन्वयात्मक दृष्टि है जिसे पाने हेतु वैदिक आस्तिकता व मान्यताओं में आस्था अनिवार्य है। आधुनिक भौतिकवादी पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर ही इसे पाना संभव है। यह अति प्राचीन भारतीय परम्परा की दृष्टि रही है। हमारा प्रयास मात्र इतना है कि इसे आधुनिकों की पूर्वाग्रहग्रसित व्याख्याओं से मुक्त कराकर तर्क प्रमाण के आधार पर पुनः प्रतिष्ठापित किया जाय।

यह ग्रन्थ नित्यवन्द्य पूर्वजों, पूज्यपाद गुरुओं तथा कृती वेदविदों के आशीर्वाद का प्रसाद रूप है, मेरे प्राक्तन जन्मों के सुकृतों-संस्कारों का मूर्त फल है। वैदिक वाङ्मय दुरूह, किन्तु नारिकेल-फल-सम्मित है। जो इसका कठोर बाह्य-भेदन कर सकता है वही इसका अमिय-पीयूष पी सकता है।

इस ग्रन्थ में यथाशक्ति यथाबुद्धि प्रमुख ब्राह्मणों का ही मुख्यतः अध्ययन किया गया, साकल्येन ऐसा संभव नहीं है। यह प्रयास कितना सफल व सार्थक बना है यह तो विवेकी पाठक ही बता सकेंगे। पर्याप्त सावधानी बरतने पर भी अनेकत्र अनेकविध त्रुटियां रह गयी हैं। जो त्रुटियां टंकण, मुद्रण सम्बन्धी हैं उन्हें सुधी, सम्बुद्ध अध्येता स्वयमेव ठीक कर लेंगे, किन्तु जो त्रुटियां मेरी अव्युत्पत्ति-अशक्तिजन्य हैं उनके लिये तो सर्वतोभावेन क्षमा ही मांगूंगी। तथापि ब्राह्मण-साहित्य के अध्ययन-चिन्तन में यह ग्रन्थ यदि लेशमात्र भी लाभप्रद सिद्ध हुआ तो स्वयं को कृतकृत्य मानूंगी। विद्वानों के सुझाव स्वागत योग्य ही नहीं, अपितु, मेरे लिये सत्प्रेरणा के स्रोत रहेंगे।

प्रबन्ध के प्रकाशन के समय अपनेसद्‌गुरु व आचार्य प्रातः स्मरणीय ब्रह्मलीन डॉ० जितेन्द्रचन्द्र भारतीय को कोटिशः वन्दन करती हूँ जिन्होंने आध्यात्मिक दीक्षा देकर न केवल मेरा जन्म सार्थक बनाया, अपितु ऋषि-ऋण के प्रतिदान में कुछ लिखने के लिए मुझे निरन्तर साहस एवं प्रेरणा भी प्रदान की।

परम श्रद्धेय, विद्वन्मूर्धन्य मनीषी डॉ० सदाशिव ए० डाँगे, भूतपूर्व आर० जी० भण्डारकर प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बम्बई विश्वविद्यालय तथा पूज्यपाद महामण्डलेश्वर डॉ० स्वामी श्यामसुन्दर दास जी की आजीवन ऋणी रहूँगी, क्योंकि मेरी प्रार्थना पर इन दोनों महानुभावों ने स्वल्पावधि में भी पाण्डुलिपि पढ़कर इस ग्रन्थ को अपने आशीर्वचन से अभिषिक्त किया है।

भार्गव प्रिन्टर्स के प्रोप्राइटर श्री प्रभातनारायण भार्गव एवं उनके मुख्य कार्यकर्ता पं० शिवप्रसाद मिश्र को हार्दिक साधुवाद अर्पित है जिनकी लगन व परिश्रम से पुस्तक को यह कलेवर व रूप मिला है।

अन्त में, अजर-अमर क्रान्तदर्शी ऋषियों को कोटिशः नमन करते हुए यह प्रयास विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करती हूँ।

इलाहाबाद : —डॉ० रञ्जना

मकरसंक्रान्ति, गुरुवार,

दिनाङ्क 14 जनवरी, 1988 ई०

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

द्वितीय अध्याय

ब्राह्मणों में यज्ञ-विधान

तृतीय अध्याय

ब्राह्मणों में देवता

चतुर्थ अध्याय

ब्राह्मण ग्रन्थों में ज्ञान-कोष

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय :—

भारत की प्राचीन संस्कृति के सभी ज्ञाता 'वेद' एवं वैदिक साहित्य से भलीभाँति परिचित हैं। वेद ज्ञान के पवित्रतम एवं प्राचीनतम ग्रन्थों का समन्वित अभिधान है, नाम है। वेदों के गंभीर, सनातन एवं सार्वभौम रूप ने विश्व के चिन्तकों को सदियों से मन्त्रमुग्ध किया है। अतएव सर्वप्रथम 'वेद' शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

'वेद' शब्द का अर्थ:—

शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'वेद' शब्द विद्धातु में घञ् प्रत्यय लगकर बना है। 'विद्' धातु का सम्बन्ध विद्लृलाभे एवं 'विद् ज्ञाने' दोनों से ही है। 'ऋक्प्रातिशाख्य' के वृत्तिकार विष्णुमित्र ने उक्त दोनों ही अर्थों का उल्लेख किया है:—

'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिः धर्मादिपुरुषार्थाः इति वेदाः।'

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक पुरुषार्थचतुष्टय जिनके द्वारा जाना जाय या प्राप्त किया जाय, वे वेद हैं। इस प्रकार वेद शब्द का अभिधेयार्थ 'ज्ञान' है।

व्युत्पन्न वेदभाष्यकार सायण ने इसी के समान 'वेद' शब्द का अर्थ[1] किया है। जीवन में वाञ्छनीय अथवा इष्ट की प्राप्ति एवं अवाञ्छनीय अथवा अनिष्ट के निवारण में वेद साधनभूत अलौकिक उपायों का ज्ञान कराता है। 'अमरकोश' एवं क्षीरस्वामी ने 'वेद' शब्द की सीमित परिभाषा की है—'विदन्त्यनेन धर्मं वेदः।' अर्थात् जिसके द्वारा धर्म को जाना जाता है, वह वेद है। सत्याषाढ़श्रौतसूत्र तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार शब्द एवं उसके अर्थ के द्वारा आरम्भ किये जाने वाले कर्मों तथा उनकी परिसमाप्ति का उपदेश जिसके द्वारा किया जाय, उसके

---

1. 'अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्त्यनेनेति वेदशब्दनिर्वचनम्। इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'। 'ऋग्भाष्यभूमिका'।

लिए 'वेद' शब्द अभिहित[1] होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा किये गये 'वेद' शब्द के निर्वचन से यही धारणा बनती है कि उन्हें भी 'वेद' शब्द का ज्ञान अर्थ ही अभीष्ट है[2]। शुक्ल यजुर्वेद में भी 'वेद' शब्द का ज्ञान के अर्थ में प्रयोग किया गया है।[3]

आधुनिक वेदविचारक पाश्चात्य विद्वानों उदाहरणार्थ, ग्रिफिथ, मैक्समूलर, मैक्डॉनल एवं विन्टरनित्ज आदि ने 'वेद' शब्द का 'ज्ञान' अर्थ ही स्वीकार किया है। इन विद्वानों के अनुसार 'वेद' शब्द हिन्दुओं के एक प्राचीन प्रारम्भिक विशिष्ट साहित्य को द्योतित करता है। विन्टरनित्ज ने 'वेद' का अर्थ करने में न केवल ज्ञान पर बल दिया है, अपितु वेद में पवित्र धार्मिक ज्ञान का अंकन होना बतलाया है।

वेद एक अति विशाल अपौरुषेय साहित्य-सम्पदा का नाम है जिसकी उद्-भावना अति प्राचीन काल में हुई। वेदसाहित्य पवित्रतम एवं उदात्ततम है। भारतीय परम्परानुसार वेद प्राचीन आर्य संस्कृति के स्रोत हैं। वेदों में सन्निहित धर्म कर्मकाण्डप्रधान है। इन कर्मकाण्डों अथवा यज्ञानुष्ठान से लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही प्रकार के फलों की प्राप्ति संभव है। हमारे क्रान्तदर्शी प्राचीन ऋषियों ने समस्त वैदिक साहित्य किंवा समग्र वैदिक वाङ्मय को श्रुतियों की सहस्रों वर्षों की अव्याहत एवं अटूट परम्परा के माध्यम से आज तक पूर्णरूपेण सुरक्षित रखा है। यह उनकी असाधारण प्रतिभा एवं उनके भविष्यद्रष्टा होने का प्रभूत परिचय देता है। वास्तव में यही उनका 'ऋषि' नाम सार्थक कर देता है। श्रुति की यह अजस्र प्राणदायिनी परम्परा गुरुमुख से वेदवचन सुना सुनाकर तथा मूल ग्रन्थों के बारम्बार आलोडन-विलोडन, कर्मकाण्ड एवं पाठ से सदियों से मानव-मन एवं आत्मा के अन्तराल तक ज्ञान का भास्वर प्रकाश बिखराती आयी है। यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय न केवल आधुनिक भारत के लिए अपितु समूची मानवता के लिए प्राचीन भारत की सर्वातिशायिनी एवं अतिसमृद्ध धरोहर बनकर

---

1. 'शब्दार्थारम्भणानान्तु कर्मणां समाम्नायसमाप्तौ वेदशब्दः।'
2. "विद् ज्ञाने विद् सत्तायाम् विद्लृ लाभे विद्विचारणेएतेभ्यो "हलश्च" इति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ् प्रत्यये कृते "वेद" शब्दः साध्यते।······विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्या सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।"·········ऋगादिभाष्यभूमिका।
3. वेदेन रूपे व्यपिवत् सुतासुतौ प्रजापतिः–शुक्ल यजुर्वेद 19.78

अमर हो गया है। सी० कुन्हन राजा ने तभी तो कहा है—'What is called Vedic literature is a vast and wealthy heritage for modern India from old and is also a great heritage for the present day humanity.[1]

वस्तुतः वैदिक साहित्य प्राचीनतम भारोपीय साहित्य का मूर्त निदर्शन है जिसमें प्राचीन भारत की अध्यात्म प्रधान सभ्यता एवं संस्कृति की मनोरम झाँकी दिखाई देती है।

मन्त्र एवं ब्राह्मणों का वेदत्वः—

वास्तव में वेद एक[2] है, अनन्य है, यद्यपि इसे विभिन्न भागों में प्रस्तुत किया गया है। मन्त्र एवं ब्राह्मण[3] दोनों भाग मिलकर वेद का प्रणयन करते हैं। सायण ने मन्त्र ब्राह्मणात्मक शब्द राशि को ही समन्वित रूप से वेद कहा है, 'मन्त्र ब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः।' तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने भी मन्त्र एवं ब्राह्मणों को मिलाकर ही 'वेद' का अभिधान किया है,—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद इति नामधेयंषडङ्गमेक इति।' इस अभिधान से यह भी अर्थ स्पष्ट है कि मन्त्र एवं ब्राह्मणों के अतिरिक्त वेदांगों को भी वेद के अन्तर्गत माना गया है। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि, कुल्लूक भट्ट और सर्वज्ञनारायण की भी यही मान्यता रही है। इसी प्रकार का अभिमत सर्वानुक्रमणी की वृत्तिभूमिका में आचार्य षड्गुरुशिष्य ने व्यक्त किया है,—'मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेद शब्दं महर्षयः।' अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र में भी मन्त्र, ब्राह्मण दोनों को ही वेद के रूप में स्वीकार किया गया है,—'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानिच'। शंकराचार्य ने भी इसी मत से सहमति व्यक्त करते हुए कहा है,—'ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं शक्यते।'

मन्त्रों के साथ-साथ ब्राह्मणों के वेदान्तर्गत माने जाने के बिन्दु पर प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों ही श्रेणी के विद्वानों में परस्पर मत-वैमत्य रहा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उद्घोषणा की कि केवल मन्त्रसंहिता भाग ही वेद है। उनकी यह स्पष्ट धारणा थी कि ब्राह्मणों को वेद नहीं माना जा सकता। उन्होंने ब्राह्मणों

1. सी० कुन्हन राजा,—'सर्वे आव् संस्कृत लिट्रेचर' पृष्ठ 48
2. डब्लू कैलेण्ड काण्वः—शतपथब्राह्मण, वाल्यूम I, इन्ट्रोडक्शन पृ० 3
3. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। आपस्तम्ब परिभाषासूत्र 1.33, सत्याषाढ़श्रौतसूत्र 1-1-7; कात्यायनपरिभाषासूत्र 1-9 बौधायन गृह्यसूत्र 26-3

को मन्त्र भाग का भाष्य माना है। इन भाष्यों को वह वेद मानने के लिये कदापि तैयार नहीं हैं। पाश्चात्यों में प्रोफेसर एच० एच० विल्सन का भी यही अभिमत है—'We may venture to affirm, in opposition to the consentient assertions of Brahmanical scholars and critics that neither of these works has the slightest claim to be regarded as the counterpart and contemporary of the samhita, or as an itegral part of the Veda.'

कतिपय विद्वानों ने ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि मन्त्रकाल में 'वेद' शब्द त्रिविध मन्त्रों के लिए ही प्रचलित था। धीरे-धीरे कालक्रम से जब इन तीनों ही मन्त्रों की संहिताएँ संकलित हुई तो वे भी वेद में आ गयीं। यही स्थिति ब्राह्मणकाल तक रही। इन विद्वानों का तर्क है कि तब तक ब्राह्मणों का वेद में अन्तर्भाव नहीं हुआ था, क्योंकि ब्राह्मणों के प्रणेता वेदों एवं ब्राह्मणों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करते हैं। उनका यह भी मत है कि 'ब्राह्मणों' की 'वेद' के अन्तर्गत गणना सूत्रकाल की देन है। अधिकांश सूत्रकारों ने मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का ही वर्णन किया है।

गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों के वेदत्व पर इस प्रकार की शंका करना निर्मूल एवं अव्यावहारिक है। वैदिक परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती आयी है। मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के रचयिता तत्त्वद्रष्टा थे। वेद अध्यात्मविद्या की विपुल राशि है। इन ऋषियों को तत्त्व की साक्षात्कृति संहिताओं के रूप में ही हुई थी। अतएव यह कहना कि इनकी रचना लौकिक साहित्य की तरह विभिन्न कालों में हुई, निरापद नहीं है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का समाज-सुधारक व्यक्तित्व ही ब्राह्मणों को 'वेद' न मानने का मुख्य कारण रहा। वास्तव में देखा जाय तो यह विवाद व्यर्थ का विवाद है। ब्राह्मणों में यज्ञ विधान एवं इतर धार्मिक कर्मकाण्ड वर्णित हैं। यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए मन्त्र की ही भाँति ब्राह्मण भी अपरिहार्य हैं। अतएव आरम्भ से ही मन्त्र एवं ब्राह्मण के युगपत् रूप को ही 'वेद' मानना उचित होगा।

मन्त्र क्या है ? ब्राह्मण क्या है ? इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। पूर्वमीमांसा सूत्रों के अनुसार मन्त्र वह है जो कर्म हेतु प्रेरणा अथवा आदेश देता है, शेष ब्राह्मण[1] कहलाता है। आपस्तम्ब स्पष्ट रूप से कहता है कि

1. 'तच्योदकेषु मन्त्राख्या। शेषे ब्राह्मण शब्दः'—पूर्वमीमांसा सूत्र 2-1-32-33

कर्म के प्रेरक ब्राह्मण हैं। व्याख्या करनेवाले (अर्थवाद), निन्दा एवं स्तुति करने वाले, अन्य द्वारा किये गये कृत्य (परकृति) प्राचीनकाल में घटित (पुराकल्प) का बोध कराने वाले अंश ब्राह्मण कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त अंश मन्त्र[1] कहलाते हैं।

'ऋग्भाष्यभूमिका' में सायण ने शबरस्वामी के मत से सहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि परम्परावादियों (सम्प्रदायवादियों) के अनुसार संहिताएँ[2] या तो मन्त्र हैं या ब्राह्मण। आचार्य सत्यव्रतसामश्रमी[3] का अभिमत है कि दोषयुक्त होते हुए भी आपस्तम्ब की परिभाषा स्वीकार्य है, क्योंकि मन्त्र, जो कि कर्म प्रेरक हैं ब्राह्मणों में ही आ जाते हैं। वह जैमिनि की अपेक्षा आपस्तम्ब का दृष्टिकोण इस आधार पर स्वीकार कर लेते हैं कि जैमिनि की परिभाषा संहिता का यथार्थ चित्रण नहीं कर पाती। ए० चिन्नस्वामी शास्त्री ने आपस्तम्ब का दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा है कि वेदों की अपौरुषेय शब्दराशि मन्त्र एवं ब्राह्मण से सम्पृक्त है जो ब्राह्मण[4] अंश के माध्यम से विविध यज्ञ, होम, दान, स्तुति, उपासनारूप कर्मों को प्रेरित करती है। महनीय मंत्र संहिताओं में संगृहीत हैं जिन्हें ऋक्-संहिता कहा गया। देवों के नामोल्लेखपूर्वक हवन एवं अर्पण के निमित्त प्रयोज्य मन्त्रों का संकलन यजुर्वेद संहिता में किया गया है। देवों का आवाहन एवं स्तुति करने हेतु गेय ऋचाओं का संकलन सामवेद-संहिता में किया गया है। ऋक् छन्दोबद्ध, यजुष् गद्यबद्ध एवंसामगानबद्ध मन्त्र हैं। अथर्वण ऐसे ऋक्[5] मन्त्र हैं जिनका उपयोग विभिन्न प्रयोगों, आशीर्वचनों, उपचार आदि के निमित्त किया जाता है। सच पूछा जाय तो 'अथर्वसंहिता' प्रयोगात्मक कृत्यों-कलापों का बृहद् वेद-भण्डार है। ब्लूमफील्ड का कथन है–

---

1. 'कर्मचोदना ब्राह्मणानि। ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः। निन्दा प्रशंसा परकृतिः पुराकल्पश्च। अतोऽन्ये मन्त्राः। आपस्तम्ब-परिभाषासूत्र। .34–37-7
2. 'सम्प्रदायविद्‌भिः व्यवह्रियते।'
3. 'ऐतरेयालोचनम्' पृ०।
4. अपौरुषेयः शब्दराशिः मन्त्रब्राह्मणात्मनाभिन्नः। ब्राह्मणभागेन तत्तद्यागहोमदानस्तुत्युपासना रूपाणि कर्माणि विदधाति।,

   ए० चिन्नस्वामी शास्त्रीः––आब्जेक्ट्स आव् आफरिंग्स इन द श्रौत सैक्रिफ़ाइसेज, प्रिन्सेज ऑव्वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़ 10, 1938 पृ० 99
5. मात्र तीन ऐसे अध्यायों को जो पूर्णतया गद्य में हैं छोड़कर।

"Atharva Samhita is the Veda of practical performance par excellence."[1]

पहले यह निवेदन किया जा चुका है कि कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि प्रारम्भ में वेद एक ही था। इन विद्वानों के अनुसार वेद-व्यास ने वेद को यज्ञोपयोगी बनाने के लिए चार संहिताओं में बाँट दिया—'वेदं तावदेकं सन्तम्…… सुखग्रहणायव्यासेन समाम्नातवन्तः'।[2] यहां यह उल्लेखनीय है कि मन्त्रों के वास्तविक अर्थ तथा उनके यज्ञों में विनियोग की विधि धीरे-धीरे कालक्रम से अस्पष्ट होती जा रही थी। अतः इस पृष्ठभूमि में ऋषियों ने ऐसे साहित्य की अनिवार्यता का अनुभव किया जो संहितामन्त्रों का अर्थबोध करा सके, साथ ही साथ यज्ञों में उनका सही-सही विनियोग भी स्पष्ट कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्राह्मणग्रंथों का प्रणयन किया गया।

'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ—

ब्राह्मण के बारे में सामान्य धारणा यह रही है कि ग्रन्थवाचक ब्राह्मण शब्द 'ब्रह्मन्' शब्द से निष्पन्न है तथा यागवाचक 'ब्राह्मण', शब्द 'बृह्' वर्द्धने धातु से निष्पन्न होने से वृद्धि अर्थ को द्योतित करता है। इस प्रकार सामान्य मतानुसार यज्ञ की अनेकानेक विधियों एवं क्रियाओं को बताने वाले ग्रन्थ का नाम 'ब्राह्मण ग्रन्थ' है। आपस्तम्ब-परिभाषासूत्र की व्याख्या में कपर्दी ने कहा है कि मनन करने से मन्त्र होते हैं तथा अभिकथन करने से ब्राह्मण कहलाते हैं[3], 'मन्त्रो मननात् ब्राह्मणमभिधानात्'। ग्रन्थ का बोध कराने वाला 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ है। ग्रन्थवाचक 'ब्राह्मण' शब्द का अति प्राचीन प्रयोग तैत्तिरीय संहिता[4] में मिलता है, एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि।' ब्राह्मणग्रन्थों, निरुक्त तथा पाणिनि की "अष्टाध्यायी" में यही प्रयोग मिलता है। यत्रतत्र "ब्राह्मण" शब्द का पुंल्लिग में भी प्रयोग मिलता है, 'य इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम्'[5]। वैदिक साहित्य में 'वाक्' शब्द 'सत्य' या 'यज्ञ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार 'वाक्' शब्द ब्राह्मण ग्रन्थ

1. ब्लूम फील्ड : "कान्ट्रिब्यूशन्स टु द इन्टरप्रिटेशन् ऑव् द वेद", ए० जे० पी० 11, 1890, पृ० 342
2. दुर्गाचार्यः निरुक्तवृत्ति-1; 20
3. दर्शपौर्णमास प्रकाशसूत्र-32, पृ० 74
4. तै० सं० 3-7-1-1
5. महाभारत उ० पर्व, अ० 13

के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'वागिति ब्राह्मणमुच्यते[1]।' भाष्यकार उव्वट ने ब्राह्मण शब्द को साक्षात् "श्रुति" माना[2] है, 'श्रुतिर्ब्राह्मणम् ।'

वास्तव में 'ब्राह्मण' शब्द ही ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रकृति का सम्यक् परिचय देता है। सामान्यतया 'ब्राह्मण' वह है जो 'ब्रह्म' से सम्बद्ध हो। 'ब्राह्मण' तथा ब्रह्म शब्दों के भाव एवं अर्थ पर अनेक मत हैं। संहिताओं में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग अत्यन्त विशिष्ट एवं तकनीकी अर्थ में किया गया है। कतिपय उदाहरणों से इनके तकनीकी अर्थ का ज्ञान हो जाएगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है,[3] 'यह ब्राह्मण पशुवन्ध यज्ञ में विचारणीय है, अन्य यज्ञों में नहीं।' यहाँ शब्द 'एतत् ब्राह्मणम्' एक ऐसे अभिकथन को संकेतित करता है जो पूर्व में वर्णित किसी यज्ञ प्रक्रिया या यज्ञ-विधान को सन्दर्भित करता है।

इसी अर्थ में यह 'एतदेव[4] सावित्रे ब्राह्मणमथो नाचिकेते, (यही ब्राह्मण सवितृ तथा नाचिकेत) में प्रयुक्त हुआ है जहाँ कि अंगों को ब्राह्मण के रूप में उल्लिखित किया गया है। यह स्पष्ट है कि 'ब्राह्मण' शब्द का यह प्रयोग न तो किसी अन्य ब्राह्मण ग्रन्थ[5] की ओर संकेत करता है तथा न उसे उद्धृत करता है। पी० डी० गुणे का कथन है, "A Brahmana does not quote another Brahmana words like "तस्योक्तं ब्राह्मणम्' do not refer to Brahmana in the sense of a theological work".

कभी-कभी 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग पूरे भाग के अर्थ में हुआ है जैसा कि 'यदेते[6] ब्राह्मणवन्तः पशव आलभ्यन्ते················(ब्राह्मणों में अभिहित ये पशु··········)। किसी-किसी संदर्भ में 'ब्राह्मण' शब्द अर्थवाद (व्याख्या) के तात्पर्य में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ, 'यदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम्[7] (वह जो

---

1. बौ० ध० सू० 1-7-10
2. यजु० उ० भाष्य 18-1
3. वेदि तृतीयेयजेत्। त्रिषत्या हि देवाः। सत्यमग्निं चिनुते। तदेतत् पशुबन्धे ब्राह्मणं ब्रूयात्। नेतरेषु यज्ञेषु।' तै० ब्रा० 3-12-5-10.
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3-12-5-12.
5. पी० डी० गुणेः—"ब्राह्मण कोटेशन्स इन द निरुक्त', कमेमोरेटिव् एसेज प्रेजेन्टेड टु आर० जी० भण्डारकर, पृ० 52-53
6. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1-2-5-43
7. पं० ब्राह्मण 11-3-2-3

गायत्र का ब्राह्मण है), 'गौरिवीत ब्राह्मणमुक्तम्'[1] (गौरिवीत ब्राह्मण बताया गया) 'एतत् ब्राह्मणमुच्यते[2], (इस प्रकार ब्राह्मण बताया गया है), 'दिवाकीर्त्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते[3], (दिवाकीर्त्यों के ब्राह्मण में इसकी व्याख्या की जाएगी) आदि। शतपथब्राह्मण में व्याख्या (अर्थ) की तीन विधियाँ बतायी गयी हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक अध्याय का प्रवेश कराते हुये सायण का कथन है, 'मन्त्रा उक्ताः अधुना तेषां ब्राह्मणमभिधीयते' (यहाँ तक मंत्रों पर विचार किया गया, अब उनके ब्राह्मण को बतलायेंगे)। स्पष्ट है कि यहाँ सायण ने 'ब्राह्मण' शब्द को टीका (व्याख्या) के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

सामान्यतः ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमुख प्रयोजन संहिता में अंकित विषय के व्यावहारिक प्रयोग की जानकारी देना बताया गया है। इस प्रकार ब्राह्मणों को मन्त्रों के व्याख्यान के रूप में माना गया है। वास्तव में उन्हें व्याख्यात्मक टिप्पणियों के रूप में लिया जाना चाहिए, क्योंकि उनका अभिप्राय मन्त्रों की व्याख्या करना नहीं है। व्याख्या तो यत्र-तत्र ही मिलती है। कुछ ही महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या की गयी है। कुछ मन्त्रों की तो कोई व्याखया नहीं की गयी है। प्रो०कीथ की भी यही धारणा[4] है। उनका कथन है—"The Brahmana portion does not attempt to deal with every verse of the Samhita," इन्हीं परिस्थितियों में यह कथन मिलता है कि मन्त्र का स्वरूप ही अपना ऐसा विलक्षण महत्त्व बतला देता है[5]। इसी भाव को 'नात्र तिरोहितमिवास्ति[6] (मन्त्र में कुछ भी छिपा हुआ नहीं है) कथन समर्थित करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण ग्रन्थ व्याख्यात्मक टिप्पणियों के रूप में हैं। इस बात का समर्थन ब्राह्मणों में ही मिल जाता है।

जूलियस एगर्लिंग ने कृष्ण यजुर्वेद पर लिखते[7] हुए ब्राह्मण की व्युत्पत्ति की

---

1. पं० ब्रा० 13-3-5, द्रष्टव्य पं ब्रा० 13-3-1, 2
2. श० ब्रा० 11-4-8-8
3. श० ब्रा० 4-1-5-15
4. ए० बी० कीथ :—'द वेद आव् द ब्लैक यजुष् स्कूल इन्टाइटिल्ड तैत्तिरीय संहिता' अनूदित-(एच०ओ०एस० 18) पृ० XXIV
5. 'रूप एवं एषां एतन्महिमानं व्याचष्टे'। तै०ब्रा० 3.3.2.1. आदि।
6. श०ब्रा० 14.1.4.11–14.
7. विशद अध्ययन हेतु देखें जूलियस एगर्लिंग:—'शतपथ ब्राह्मण' अनूदित एस०बी०ई० 12 इन्ट्रोडक्शन पृ० XXII-XXIII

ओर संकेत किया है। 'ब्राह्मण' मूलतः उपदेशों के ऐसे पिण्ड हैं जो विभिन्न प्रकार की पूजा एवं कर्मकाण्ड की पद्धतियों के महत्त्वपूर्ण विन्दुओं को स्पष्ट करते हैं। अपने प्रणेता आचार्यों से श्रुति के माध्यम से ये ब्राह्मण ग्रन्थ शिष्य परम्पराओं को शाखानुक्रम से प्राप्त होते आये हैं जो आज धार्मिक ग्रन्थों के रूप में विद्यमान हैं। इस प्रकार का एक बृहद् उपदेश खण्ड 'ब्राह्मण' कहलाया। ऐसी धारणा सम्भवतः इसीलिए बनी कि इनका प्रणयन पौरोहित्य करने वाले सामान्यतया ब्राह्मण वर्ण के लोगों को कर्म काण्ड में मार्ग दर्शन कराने के लिये था अथवा ये उपदेशात्मक वचन अधिकांशतः वैदिक एवं यागादि क्रियानुष्ठानों में पर्यवेक्षण कार्य करने वाले ऐसे पारंगत ऋषियों के आप्तवचन थे जो ब्राह्मण एवं पौरोहित्य कर्म में सर्वथा समर्थ एवं निष्णात थे।

वेबर[1] एवं व्हिटनी आदि पाश्चात्यों ने 'ब्राह्मण' शब्द को 'प्रार्थना' 'पूजा' के अर्थ में स्वीकार किया है। वेबर का कथन है "the word Brahmana signifies that which relates to prayer Brahmana"। डा० एस० एन० दास गुप्त ने इस मत का समर्थन करते हुए इसे सही माना है। मैक्समूलर का अभिमत है[2] कि मूलतः 'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण वचनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, भले ही यह प्रयोग पुरोहित ब्राह्मणों के सामान्य अर्थ में अथवा पुरोहित ब्राह्मण के विशिष्टार्थवाचक के रूप में हुआ हो। ऐतरेय[3] ब्राह्मण के अपने संस्करण की भूमिका में हॉग का कथन है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द पुरोहित ब्राह्मण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। हॉग के मतानुसार सच पूछा जाय तो किसी भी विशिष्ट कर्मकाण्ड की क्रिया अथवा सन्देहग्रस्त धार्मिक विन्दु पर नियम अथवा आप्तवचन के रूप में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग हुआ करता था। अतः इसकी सत्ता एक उपदेशात्मक विधि की थी। बाद में चलकर सम्पूर्ण पाठ इस शब्द के अर्थ की परिधि में आ गये। हॉग ने कहा है, "Strictly speaking only the rule regarding the performance of a particular rite, or the authoritative opinion on a particular point of speculative theology went by this name......After-wards the term 'brahmanam' which meant only a single dictum was applied to the whole collection".

1. वेबर: एच० आई० एल० पृष्ठ 11
2. मैक्समूलर: एस०बी०ई०। इन्ट्रोडक्शन I XXVI
3. हॉग: ऐतरेय ब्राह्मण (हॉग का संस्करण) वाल्यूम I, इन्ट्रोडक्शन पृ० 4, 6

आचार्य सामश्रमी ने उक्त मत पर अपनी सहमति[1] प्रदान की है, किन्तु उनको यह भी धारणा है कि ब्राह्मण अंशों का सम्बन्ध पुरोहित ब्राह्मण से ही है, ब्रह्म से नहीं। यज्ञों में मन्त्रों के प्रयोग एवं विनियोग की विधि स्पष्ट करना 'ब्राह्मण' ग्रन्थों का कार्य है। इनमें वैदिक मन्त्रों की यज्ञपरक व्याख्या मिलती है। इन ग्रन्थों की 'ब्राह्मण' संज्ञा के पीछे सामान्यतया निम्नांकित तीन कारण माने जाते हैं :—(1) ब्रह्म का तात्पर्यार्थ है वेदमन्त्र। वेद मन्त्रों की व्याख्या एवं उनका विनियोग बतलाने के कारण इन्हें 'ब्राह्मण' कहा गया। (2) ब्रह्म का का अर्थ 'यज्ञ' भी है, अतएव यज्ञ की विधि एवं यज्ञ से सम्बद्ध अपेक्षित जानकारी देने वाले ग्रन्थ को ब्राह्मण अभिहित किया गया। (3) 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ गुह्य रहस्य भी है। अतएव वेदों में छिपे गूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त करने के कारण इन ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' कहा गया। आपस्तम्ब ने यज्ञानुष्ठानादिक कृत्यों के निमित्त प्रेरणा देने वाले ग्रन्थ को ब्राह्मण कहा :—'कर्मचोदना ब्राह्मणानि।'

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि 'ब्राह्मण' शब्द उस व्याख्यान के लिये प्रयुक्त हुआ है जो मन्त्र का विनियोग अथवा मन्त्र की व्याख्या अथवा जो किसी यज्ञ की कर्म-विधि स्पष्ट करता है।[2] ब्राह्मण अथवा इसके उस अंश को भी जिसमें उक्त व्याख्यान ग्रन्थ (स्पष्टीकरण टिप्पणी) दी गयी हो, 'ब्राह्मण' शब्द से पुकारा गया है।[3] इस निष्कर्ष से ज्ञात होगा कि उपर्युक्त विद्वान् यद्यपि आपस्तम्ब की स्थिति की मान्यता की चर्चा नहीं करते, किन्तु उनमें से अधिकांश ने उनका ठीक-ठीक अनुसरण किया है। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि शतपथब्राह्मण (१३.४.३.१.१५) में 'ब्राह्मण' शब्द वैदिक पाठ की 'क्रमयोजना' का कोई संकेत नहीं देना। (कथां सूक्तं, यजुषां अनुवाकं अथर्वणां पर्वं अङ्गिरसां पर्वं सर्पविद्यायाः पर्वं देवजनविद्यायाः पर्वं कतिचिदितिहासं किंचित् पुराणं साम्नां दर्शितम्)।

---

1. ऐतरेयालोचनम् पृ० 2
2. ब्राह्मणं नाम कर्मणः तन्मन्त्रणां च व्याख्यानग्रन्थः।
   भट्टभास्कर-तैत्तिरीय संहिताभाष्यम् 1-5.।
3. यहां यह उल्लेखनीय है कि शतपथब्राह्मण में प्रपाठक के अंशों को भी ब्राह्मण कहा गया है। उदाहरणार्थः—तस्मादपिऋच वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुम्व्यां वा अभिव्याहरेत् व्रतस्य अविच्छेदाय। (श० ब्रा० 11-4-1-10)। "कुम्व्या" का प्रयोग संभवतः 'वर्ग' या "अनुवाक" की भांति ब्राह्मण पाठ के लिए प्रयुक्त हुआ है। शतपथब्राह्मण के अनुसार 'पुरश्चरण' "ब्राह्मण" का दूसरा नाम है: श०ब्रा० 10-2-7-3) (तदेतद्यजुः सपुरश्चरणमधिदेवतम्)।

पाणिनि[1] के सूत्रों में एक शब्द 'अनुब्राह्मण' आया है। काशिका का अनुसरण करते हुए भट्टोजिदीक्षित ने 'अनुब्राह्मण को ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति एक ग्रन्थ माना है।[2] भट्टभास्कर तैत्तिरीय ब्राह्मण के कुछ भागों को अनुब्राह्मण मानते हैं, :–राजसूयानु ब्राह्मणम्, अश्वमेधानु ब्राह्मणम्। प्रोफेसर वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'अनुब्राह्मण' का अनुवाद, 'पूरक ब्राह्मण' किया है, क्योंकि यह संहिता के सम्बद्ध भागों के अनुपूरक का प्रयोजन सिद्ध करता है।

ब्राह्मणों का विषय एवं स्वरूप—

ब्राह्मणों के विषय के बारे में विद्वानों ने अनेक अभिमत प्रस्तुत किये हैं। शबरस्वामी ने मीमांसाभाष्य[3] में ब्राह्मणों के विषय को दस श्रेणियों में विभाजित किया है :—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः
परक्रिया पुराकल्पः व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दर्शते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।

प्रतिज्ञापरिशिष्ट में कात्यायन ने भिन्न प्रकार से ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य विषय के मिलते जुलते दस भाग माना है :— 'विधिर्निन्दाप्रशंसा-ध्यात्ममधियज्ञमधिदैवतमधिभूतमनुवचनं परकृतिः पुराकल्पः सृष्टिरिति ब्राह्मणम्'। प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रयोजन निर्वचन, मन्त्रों का विनियोग, प्रतिष्ठान (अर्थवाद) तथा विधि माना है—

'नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते ॥'

ब्राह्मणग्रन्थों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय विधि एवं अर्थवाद हैं। विधि ही कर्म में प्रवृत्त करती है। सायण के अनुसार विधियाँ दो होती हैं–(1) अप्रवृत्तप्रवर्तक (2) अज्ञातज्ञापक। कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विधियाँ अप्रवृत्त में प्रवर्तन कराती हैं जबकि ज्ञान अथवा ब्रह्मकाण्ड से सम्बद्ध विधियां अज्ञात का ज्ञान कराती हैं। विधि से अवशिष्ट भाग को अर्थवाद कहा जाता है—'ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः।'

---

1. अनुब्राह्मणादिनिः, पाणिनि, 4-2-62
2. सिद्धान्तकौमुदी 1272. ब्राह्मणसदृशः काशिका-ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थः।
3. शबरस्वामी मीमांसासूत्रभाष्य, 2, 1, 8

अर्थवाद का उद्देश्य है विधि का स्तवन। अर्थवाद के चार भेद हैं–(1) निन्दा (2) प्रशंसा (3) परकृति तथा (4) पुराकल्प।

शतपथब्राह्मण के अन्तिम भाग बृहदारण्यकोपनिषद् में किये गये विभाजन के अनुसार इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, तथा व्याख्यान विषय वर्णित हैं।[1]

उपर्युक्त प्रतिपाद्य विषयों की समीक्षा करने से यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में जो कुछ भी वर्णित है, चाहे वह प्रमुख प्रतिपाद्य हो या गौण—सभी का अभिधान इन अभिमतों में कर दिया गया है। निन्दा, प्रशंसा, संशय कल्पना, उपमानादि विषय स्वयं में कोई वर्ण्य-विषय नहीं हो सकते। किसी भी वस्तु या तत्त्व के प्रतिपादन में ये शैली के रूप में समझे जा सकते हैं जो प्रधान विषय के मात्र आनुषंगिक विषय बनकर आते हैं। इन अभिमतों का एक-मात्र तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विधि, समालोचना, व्युत्पत्ति निर्धारण, तर्कशास्त्र, इतिहास, पुराण, आख्यानोपाख्यान तथा अर्थवाद आधारभूत वर्ण्य विषय हैं। इनमें विधि तथा अर्थवाद ही मूलभूत अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय हैं, शेष का वर्णन आनुषंगिक रूप में किया गया है। यज्ञों की अनुष्ठान विधि का सम्पूर्ण चित्र ब्राह्मण साहित्य में ही मिलता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि यज्ञों का वास्तविक स्वरूप, अभिप्राय, रहस्य एवं उनकी प्रतीकात्मकता ब्राह्मण साहित्य के वर्ण्यविषय बने।

वेदों का अधिकांश भाग ब्राह्मणों से आच्छादित है। प्रत्येक संहिता में एक या एक से अधिक ब्राह्मण हैं। इस प्रकार दो ऋक् संहिता, तीन यजुष् संहिता, ग्यारह साम संहिता तथा एक अथर्व संहिता हैं। संहिता पाठों के बारे में ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड सम्बन्धी विवरण दिये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक समाज के क्रमिक विकास के साथ देश, काल एवं अध्यापन की सीमाओं तथा कठिनाइयों के कारण वैदिक परम्परा में शाखाओं का जन्म हुआ। सामान्यतया 'शाखा' शब्द को पाठ के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है जो ठीक नहीं प्रतीत होता। 'शाखा' वास्तव में आचार्य-शिष्य की उस परम्परा का नाम है जो एक विशिष्ट

---

1. 'इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि।' बृहदा० उप० 2, 4, 10 शाङ्करभाष्य।

वैदिक पाठ[1] में निष्ठा रखती थी। इस प्रकार एक शाखा[2] द्वारा अपनाया गया पाठ दूसरी शाखा द्वारा अंगीकृत पाठ से कुछ भिन्न एवं विशिष्ट हुआ करता था। विभिन्न पाठ-पाठान्तरों को देखने से इस बात का पुष्ट प्रमाण मिलता है कि आज की उपलब्ध शाखाओं की अपेक्षा वैदिक काल में प्रत्येक संहिता के लिये अनेकानेक शाखाएँ अवश्य उपलब्ध रही होंगी। यह उल्लेखनीय है कि आज बहुत सी संहिताएँ काल-कवलित हो चुकी हैं।

6180

अपने-अपने ब्राह्मणों के साथ संहिताएँ ऋत्विक् परिवारों द्वारा विशिष्ट रूप से अंगीकृत की गयीं। कालक्रम से यागक्रियाओं में उन पर इन ऋत्विक् परिवारों ने विशेषज्ञता अर्जित कर ली थी। जिस ऋषि ने ऋग्वेद[3] में विशिष्ट दाक्षिण्य अर्जित कर लिया था वही 'होतृ' (होता) बनने का अधिकारी था, जिसने यजुर्वेद में पटुता प्राप्त की थी वही 'अध्वर्यु' बन सकता था तथा सामवेद का विशेषज्ञ ही 'उद्गातृ' (उद्गाता) बनने योग्य था। ब्राह्मण पद हेतु चारों ही वेदों[4] में विशिष्ट योग्यता अनिवार्य मानी जाती थी। मन्त्रों एवं गाथाओं को छोड़कर समस्त ब्राह्मण केवल गद्य की विधा में कहे गये हैं। जैसा पूर्व में इंगित किया जा चुका है, ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड की विधि एवं प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। इनमें यज्ञों को सम्पन्न करने की विधि बताने के साथ ही उच्चारित किये जाने वाले मन्त्रों का अभिधान किया गया है। पहले अनेकशः निवेदन किया जा चुका है कि ब्राह्मणों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय यज्ञानुष्ठानों एवं इतर कर्मकाण्ड की विधियों-प्रक्रियाओं को इस प्रकार स्पष्ट करना तथा उन्हें सरलीकृत करना था कि यज्ञविधान में आस्था अक्षुण्ण बनी रहे। ध्यातव्य है कि प्रतीक, निर्वचन, अनुभव अथवा विज्ञान के आधार पर ब्राह्मण साहित्य यज्ञों एवं अनुष्ठानों में मन्त्रों के उपयोग तथा कर्मकाण्ड संबंधी अन्य प्रयोगों का विस्तृत विधान बतलाते हैं। इनमें प्रायेण गूढ़ अर्थ उद्घाटित मिलते हैं। ये

---

1. वासुदेवशरण अग्रवाल-'इण्डिया ऐज़ नोन टुपाणिनि' पृ० 286
2. विस्तृत विचार हेतु कृपया सं० सामश्रमी का 'ऐतरेयालोचनम्' पृ० 125 देखें।
3. जैसा पहले भी कहा गया है कि शब्द 'वेद' मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों का ही समन्वित रूप से अर्थ प्रदान करता है।
4. अथो खल्वाहुः। कथं अध्वर्युः बध्द च साम गायेत्। पं० ब्रा० 5-9-6 तदाहुः। यदृचा-होतृत्वं क्रियतेयजुषा आध्वर्यवं साम्नोद्गीतो अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति। अनया त्रय्या विधया इति ब्रूयात्।
   जै० ब्रा० 1-358

बारम्बार यह कहते रहते हैं कि देवगण को 'परोक्ष' अर्थात् 'रहस्यमय' अतिप्रिय है। इनमें पुनरुक्ति तथा साम्य का बाहुल्य है, 'Just as a relationship is believed to exist between all the constituents of the cosmos, so a psychological relationship is established between words of similar sound[1] or other obvious similarities.' इसी प्रकार का अभिमत एस०एन० दास गुप्त ने भी व्यक्त किया है :—

"The gifted mind of these cultured Vedic Indians was anxious to come to some unity. ......Any kind of instrumentality in producing an effect was often considered as pure identity."[2] ब्राह्मणों के अध्येता को यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि ब्राह्मण साहित्य अत्यन्त तकनीकी प्रकृति का साहित्य है, अतएव सामान्य पाठक को रुचिकर नहीं लग सकता। यह लौकिक संस्कृत की किसी भी साहित्यिक रचना की तरह नहीं है। वैदिक रचना होने के कारण इसका अछूता स्थान है। वेद वास्तव में अप्रतिम है, अनन्य है, अपने में ही एक पृथक् कोटि है। तभी तो इसके बारे में कहा गया है, "It is a library and literature."[3] इसे न तो मात्र साहित्यिक, न दार्शनिक तथा न कर्मकाण्डपरक कहा जा सकता है, यद्यपि ये तीनों इसमें उपलब्ध हैं। ब्राह्मण साहित्य का वर्गीकरण अपने में कोई अन्य ही है।

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग को आरण्यक[4] की संज्ञा दी गयी है। कुछ उपनिषद् विशेषकर तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य अपने आरण्यकों के अन्त में अभिहित हैं। आधुनिक युग में ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों को उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता मानते हुये पृथक्-पृथक् ही आकलित किया जाता है।

---

1. बी ह्वीमन-'इण्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलासफी' पृ० 128
2. एस० एन० दास गुप्त —एच० आई० पी० 1, पृ० 36
3. ई० वी० आर्नल्ड:—'वैदिक मीटर:' प्रिफेस, 1
4. ऐसे वैदिक पाठ को आरण्यक के नाम से पुकारा गया है जिसमें गूढ़ रहस्य की बातें अंकित हैं तथा जिसपर घर से दूर अर्थात् सामान्य प्राणियों से दूर एकान्त जंगलों में ही चर्चा एवं विचार करने की परम्परा थी। (तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'योऽरण्येनुवाक्यो गणः' कहकर इसे स्पष्ट किया गया है (तै० ब्रा० 1-7-7.43)।

ब्राह्मणों की संख्या एवं उनका परिचय :—

प्राचीनकाल में चारों वेदों की कुल 1130 सहिताएं उपलब्ध था तथा प्रत्येक शाखा का अपना एक ब्राह्मणग्रन्थ था। चरणव्यूह के मतानुसार ब्राह्मणों की कुल संख्या 1103 थी।[1] मैक्समूलर की यह धारणा[2] है कि संभवत: सूत्रकाल (नवीन काल) में ये ब्राह्मण ग्रन्थ लुप्त हो गये। जिस प्रकार वैदिक मंत्रों के द्रष्टा ऋषि कहलाते थे, उसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के प्रणयनकर्ता आचार्य कहलाये। आश्वलायन गृह्यसूत्रों में ऋषियों के तर्पण के साथ-साथ आचार्यों के निमित्त तर्पण का भी विधान है।[3] इसमें आचार्यों के तीन गणों का भी वर्णन है जो माण्डूकेय, शांखायन तथा आश्वलायन हैं। इन गणों से सम्बद्ध आचार्यों की सूची इस प्रकार है:—

1.	कहोल	2.	कौषीतकि	3.	महाकौषीतकि	4.	भरद्वाज
5.	पैंग्य	6.	महापैंग्य	7.	सुयज्ञ	8.	शांखायन
9.	ऐतरेय	10.	बाष्कल	11.	शाकल	12.	गार्ग्य
13.	सुजातवक्र	14.	औदवाहि	15.	सौजामि	16.	शौनक
17.	आश्वलायन।						

पण्डित राम गोविन्द त्रिवेदी के मतानुसार 1130 ब्राह्मण ग्रन्थों में से आज केवल अठारह ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध हैं।[4] आज तक उपलब्ध ब्राह्मण निम्न-लिखित हैं:—

ब्राह्मण-ग्रन्थ नाम	संहिता शाखा
1. ऐतरेय ब्राह्मण	(ऋग्वेदीय)
2. कौषीतकि अथवा शाङ्खायन-ब्राह्मण	”
3. शतपथब्राह्मण	(यजुर्वेदीय)

---

1. "ऋग्वेदस्य अष्टौ यजुर्वेदस्य षडशीतिः वेदा भवन्ति। सामवेदस्य किल सहस्रभेदाः अथर्ववेदस्य च नौ भेदाः भवन्ति। —चरणव्यूह,खण्ड 1-4
2. 'हिस्ट्री आव् एन्शियन्ट संस्कृत लिट्रेचर'—मैक्समूलर पृ०-329
3. आश्वलायन गृ० सूत्र,3-3
4. श्री रामगोविन्द त्रिवेदी 'वैदिक साहित्य'—प्रथम संस्करण—पृ०139

4.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	(यजुर्वेदीय)
5.	ताण्ड्यमहाब्राह्मण (पञ्चविंश)	(सामवेदीय)
6.	षड्विंशब्राह्मण	,,
7.	सामविधान ब्राह्मण	,,
8.	आर्षेयब्राह्मण	,,
9.	देवताध्याय अथवा दैवतब्राह्मण	,,
10.	उपनिषद् ब्राह्मण	,,
11.	संहितोपनिषद् ब्राह्मण	,,
12.	वंशब्राह्मण	,,
13.	जैमिनीय ब्राह्मण	,,
14.	गोपथ ब्राह्मण	(अथर्ववेदीय)

जैसा पहले कहा जा चुका है कि इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही ब्राह्मण हैं जो लुप्त हो गये हैं। श्रुतियों की जो शाखाएं कालक्रम से नष्ट होती गईं, उसी क्रम में उनके ब्राह्मण ग्रन्थ भी नष्ट होते गये। अनुपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में से अधिकांश का उल्लेख श्रौत ग्रन्थों में मिलता है। डॉ० बटकृष्ण घोष ने अनुपलब्ध ब्राह्मणों के उद्धरणों को इकट्ठा करके प्रकाशित किया है[1]।

इन लुप्त ब्राह्मणों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। इनमें से कुछ के तो उद्धरण प्राप्त होते हैं, किन्तु अन्यों के तो मात्र नाम का उल्लेख मिलता है।

१. शाट्यायन ब्राह्मण :—

इसके अधिकांश उद्धरण ऋग्वेद तथा ताण्ड्यब्राह्मण के सायण भाष्य में मिलते हैं। कतिपय उद्धरण ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य में मिलते हैं। जैमिनीय ब्राह्मण ग्रन्थ में भी अनेक उद्धरण मिलते हैं।

२. जैमिनीय तलवकार ब्राह्मण :—

इसे जैमिनीय अथवा तलवकार के नाम से जाना जाता है। इसका प्राप्त

1. डॉ० बटकृष्ण घोष 'कलेक्शन आव् फ्रैग्मेन्ट्स आव् लॉस्ट ब्राह्मणज', कलकत्ता 1935:

उल्लेख मात्र यह इंगित करता है कि इस ब्राह्मण का महत्त्व शाट्यायन की अपेक्षा गौण है।

3. **आह्वरक ब्राह्मण :—**

यह चरक शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मणग्रन्थ है जिसका संकेत चरणव्यूह में मिलता है।

4. **कालवत्रि ब्राह्मण :—**

इसका पुष्पसूत्र में उल्लेख किया गया है।

5. **माल्लवि ब्राह्मण :—**

यह सामवेदीय शाखा का ब्राह्मण है जिसका उल्लेख श्रौत ग्रन्थों, महाभाष्य एवं काशिका वृत्ति में मिलता है।

6. **चरक ब्राह्मण :—**

यह यजुर्वेदीय चरक शाखा से सम्बद्ध है।

7. **शैलालि ब्राह्मण :—**

इसका उल्लेख महाभारत एवं काशिकावृत्ति में मिलता है।

8. **हारिद्रविक ब्राह्मण :—**

इस ग्रन्थ का उल्लेख चरणव्यूह में अंकित है। यह यजुर्वेदीय शाखा से सम्बद्ध था।

9. **गालव ब्राह्मण :—**

यह शुक्ल यजुर्वेदीय गालव शाखा से सम्बद्ध था, इसी कारण इसका नामकरण है।

इन ब्राह्मणों के अतिरिक्त डॉ० बटकृष्ण घोष के ग्रन्थ से निम्नांकित ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम की जानकारी मिलती है :-

1. कंकति 2. जाबालि 3. पैंगायनि 4. माषशरावि
5. मैत्रायणीय 6. रौरुकि 7. श्वेताश्वतर 8. काठक

9. खाण्डिकेय 10. औरवेय 11. तुम्बरु 12. आरुणेय
13. सौलभ 14. पराशर 15. अध्वर्यु 16. वल्लभी
17. सात्यायनी ।

इन ब्राह्मणों के उद्धरण नहीं मिलते, मात्र इनकी नाम चर्चा हुई है । स्पष्ट है कि ये ब्राह्मण ग्रन्थ अपनी शाखा के प्रणेता आचार्यों के नाम से ही अभिहित हैं ।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण :—

ऋग्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में से केवल दो ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध हैं । ये हैं 'ऐतरेय' एवं 'कौषीतकि' अथवा 'शाँखायन' ।

ऐतरेय-ब्राह्मण :—

यह ऋग्वेद संहिता की शाकलशाखा से सम्बद्ध सबसे महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है । इसके प्रणेता का नाम महिदास ऐतरेय बताया जाता है । परम्पराप्राप्त किंवदन्ती के अनुसार महिदास इतरा नाम की किसी शूद्रा माता के गर्भ से पैदा हुए थे[1]। अनेक आधुनिक विद्वानों ने 'ऐतरेय' शब्द का 'ऋत्विक्' अर्थ किया है जिसे भाषा-वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर समर्थित किया गया है । उपर्युक्त किंवदन्ती के अनुसार महिदास इतरा नामक शूद्रा स्त्री से एक ऋषि द्वारा उत्पन्न हुए थे । ऋषिपिता अपने अन्य पुत्रों की अपेक्षा महिदास को नहीं चाहता था । वह यज्ञ-स्थान पर भी अपने अन्य पुत्रों के साथ उसे बैठने नहीं देता था । ऋषि के इस व्यवहार से दुखी होकर इतरा ने पृथिवी की आराधना को । पृथिवी ने एक देवी के रूपमें प्रकट होकर महिदास को प्रबुद्ध एवं विद्वान् होने का वरदान किया तथा उसे ऊँचे आसन पर आसीन कराया । यही महिदास ऐतरेय बाद में प्रकाण्ड विद्वान् बना । 'महिदास' शब्द पृथिवी देवता का सेवकत्व द्योतित करता है । महिदास ने ऐतरेय ब्राह्मण एवं ऐतरेय आरण्यक ग्रन्थों का प्रणयन किया[2] । षड्गुरुशिष्य ने ऐतरेय को याज्ञवल्क्य की इतरा कात्यायनी नाम की पत्नी का पुत्र माना है[3] ।

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण–सायण का भाष्य ।
2. ऐतरेय ब्राह्मण–सायणभाष्य ।
3. ऐतरेय ब्राह्मण–षड्गुरुशिष्य का भाष्य–अध्याय 1, पृष्ठ 4

ऐतरेय ब्राह्मण आठ पञ्चिकाओं में विभक्त है। प्रत्येक पञ्चिका में पाँच अध्याय हैं । इस प्रकार इसमें कुल चालीस अध्याय हैं । इन चालीस अध्यायों में 285 कण्डिकायें समाविष्ट हैं । इसमें 'होता' नामक ऋत्विक् के कार्यकलापों का विशिष्ट अभिकथन है । प्रथम एवं द्वितीय पञ्चिका में अग्निष्टोम नामक सोमयाग का प्रकृतिभूत यज्ञ वर्णित है । इसमें 'होता' के कार्यकलाप हेतु नियम बताये गये हैं । ग्रन्थ में सोमाहरण की रोचक कथा भी बतायी गयी है । गायत्री एक पक्षी का रूप धारण कर सोम को अपने पैरों से पकड़कर देवों के पास ले आयी थी । सोमपान के बारे में देवों में परस्पर विवाद पैदा हुआ। अन्ततः यह निश्चय किया गया कि जो सबसे अधिक तीव्र गति से दौड़े वही सोमपान करे । इस प्रक्रिया में इन्द्र एवं वायु विजयी हुए । मैत्रावरुण पीछे रह गये । तृतीय एवं चतुर्थ पञ्चिकाओं में प्रातः, माध्यन्दिन एवं सायं सवन नामक तीनों सवनों का वर्णन है। इनके सम्मुख प्रस्तुत किये जाने वाले 'शास्त्रों' का भी वर्णन किया गया है। अग्निष्टोम की विकृतियों जैसे, उक्थ्य, अतिरात्र तथा षोडशी आदि यागों का विवरण दिया गया है । आत्मा को सूर्य की उपमा देकर अमर बताया गया है ।[1] यहीं पर विवाह द्वारा पितृ-ऋण, स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण एवं यज्ञ के द्वारा देव-ऋण से मुक्त होने का उल्लेख किया गया है। इन्द्र और अग्नि को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है । प्रारम्भ में ही 'अग्निर्वै देवाना-मवमो' और 'विष्णुः परमः' कहकर स्तुति की गयी है। पञ्चम पञ्चिका में द्वादशाह यागों का वर्णन तथा षष्ठ पञ्चिका में बिविध प्रकार के सोमयागों का वर्णन है । इन यज्ञों की अनुष्ठान-प्रक्रिया के साथ ही सहयोगी ऋत्विजों के कार्यों के विवरण भी अंकित हैं। 'राजसूययाग' का सविस्तर विवेचन सप्तम पञ्चिका में किया गया है। इसी पञ्चिका में राजा हरिश्चन्द्र की रोचक तथा हृदयावर्जक कथा वर्णित है। नारद ऋषि बतलाते हैं कि पितृ-ऋण से मुक्ति हेतु पुत्रोत्पत्ति आवश्यक है। नारद के परामर्श के अनुसार हरिश्चन्द्र ने वरुण की उपासना की । वरुण ने पुत्र की बलि देने की शर्त पर उन्हें पुत्रोत्पत्ति का वर दिया। राजा के रोहित नामक पुत्र तो हुआ, किन्तु उन्होंने शर्त के अनुसार उसकी बलि नहीं दी । रोहित अपनी प्राण रक्षा हेतु धनुष लेकर अरण्य में चला गया। पिता हरिश्चन्द्र की जलोदर रोग से ग्रस्त अवस्था की सूचना पाकर रोहित जब जब वापस आता है तब तब इन्द्र उसे लौटा देते हैं। यह क्रम छः वर्षों तक

---

1. ऐ० ब्रा० तृ० पञ्जिका-'एष न कदाचन स्तमेति नोदेति तं यदस्तमेति इति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वाशात्मानम्.......कदाचन निम्नोचति ।

चलता है। इसी सप्तम पञ्चिका में शुनः शेप की रोचक कथा भी कही गयी है। पुरुषार्थ की महत्ता का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। अन्त में 'चरैवेति चरैवेति' का इन्द्र द्वारा दिया गया अमर उपदेश अंकित है-जंगल अर्थात् 'कष्टकारक एकाकी विचरण की परिस्थितियों में आगे बढ़ते रहो और पुरुषार्थ करते रहो।' इस उपदेशक्रम में पुष्प के रूप में इन्द्र ने कहा, 'कलियुग सोया रहता है और द्वापर जगा हुआ रहता है, त्रेता युग उठा रहता है तथा सत्ययुग सञ्चरण करता है। अतएव कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग के समान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होने से तुम विचरण करते रहो'।

कलिःशयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति ॥

इन्द्र पाँचवे वर्ष में पुनः रोहित से कहते हैं,'पुरुष विचरण करते हुए ही मधु और विचरण करते हुए ही मधुर उदुम्बर आदि फलों को प्राप्त करता है। सूर्य सर्वत्र विचरण करते हुए भी कभी आलस्ययुक्त नहीं होता। उस सूर्य के जगद्वन्दनीयत्व रूप को देखो। अतः तुम विचरण करते ही रहो'—

'चरन्वै मधु विन्दतिचरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति ॥'

अन्त में, हरिश्चन्द्र ने अजीगर्त मुनि के पुत्र शुनः शेप को भारी गोधन देकर खरीद लिया और पुरुषमेध याग प्रारम्भ किया। शुनः शेप द्वारा वरुण की स्तुति की जाती है। इससे शुनः शेप के प्राण बच गये तथा हरिश्चन्द्र भी नीरोग हो गये। तदनन्तर, रोहित राज्यसिंहासन पर बैठा। इस आख्यान का न केवल ऐतिह्यतत्त्व की दृष्टि से महत्त्व है, प्रत्युत इसमें मनोहारी साहित्य के दर्शन भी होते हैं। इस ग्रन्थ के अन्त में भारत की भौगोलिक छबि भी अंकित की गयी है। इसमें चतुर्विध मोक्ष का भी वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में, पौरोहित्य धर्म तथा पुरोहितों के राजनैतिक महत्त्वों का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण पर भाष्य लिखा है। अंग्रेजी में रूपान्तर करते हुये मार्टिन हॉग ने इसे सन् 1863 ई० में प्रकाशित किया था।

कौषीतकि अथवा शांखायन ब्राह्मण :—

यह ब्राह्मण भी ऋग्वेदीय शाङ्खायन शाखा का महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है। शांखायन ब्राह्मण में कौषीतकि आचार्य का उल्लेख पैंग्य आचार्य के विरोध में किया

गया है। इस शाखा के श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, उपनिषद् एवं आरण्यक तो आज उपलब्ध हैं; परन्तु मूल-संहिता नहीं मिलती। लम्बे-लम्बे गद्यांशों वाला यह ग्रन्थ तीस अध्यायों में विभक्त है। अध्याय सत्ताईस खण्डों में विभक्त हैं। इसके प्रणेता कुषीतक के पुत्र कौषीतक हैं। इसका बहुत कुछ विषयगत साम्य 'ऐतरेय ब्राह्मण' से है, किन्तु इसमें यज्ञ-विधान का निष्पादन ऐतरेय की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है। ऐतरेय में सोमयागों का वर्णन-बाहुल्य है। कौषीतकि में सोमयागों का महत्त्वपूर्ण स्थान चर्चित है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अन्तिम दस अध्यायों की विषय-सामग्री कौषीतकि में नहीं मिलती जिसके कारण प्रो० वेबर का कथन है कि ये अध्याय 'ऐतरेय ब्राह्मण' में बाद में प्रक्षिप्त हुए हैं।[1]

पं० भगवद्दत्त का मत है कि कौषीतकि एवं शांखायन ब्राह्मण वास्तव में अलग-अलग ग्रन्थ हैं। इन्होंने पृथक् प्रकाशित शांखायन ब्राह्मण का उल्लेख करते हुये विवेचन प्रस्तुत किया है।[2] इस ग्रन्थ में भी कौषीतकि की ही भाँति तीस अध्याय हैं। इन दोनों ब्राह्मणों में वास्तविक भिन्नता नगण्य है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। इसीलिये परम्परया इन्हें एक ही माना जाता रहा है। इस ग्रन्थ में रुद्र का विशिष्ट माहात्म्य वर्णित है जिसे देवों में श्रेष्ठ माना गया है। वास्तव में ऐतरेय एवं कौषीतकि दोनों ही ब्राह्मणों में एक ही प्रकार की धार्मिक उद्भावनाओं का अंकन मिलता है। कौषीतकि के प्रणयनकाल में समाज में मांसाहारिता के विरुद्ध उदीयमान संस्कारों का सम्यक् परिचय मिलता है, क्योंकि ग्रन्थ में मांसाहार के विरुद्ध घृणा का भाव स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त दिखायी देता है। उस समय समाज में मांस-भक्षण को गर्हणीय समझा जाता था। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि पशु परलोक में जाकर मनुष्यों (यज्ञकर्त्ताओं) को खा जाते हैं[3]। इस ब्राह्मण के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस का व्यापक वर्चस्व था, क्योंकि अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा कौषीतकि के प्रभूत उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इसके प्रणेता आचार्य कौषीतक के प्रति विशिष्ट सम्मान द्योतित होता है। तत्कालीन समाज में इनकी व्यवस्थाओं की बड़ी मान्यता परिलक्षित दिखाई देती है। कौषीतकि में आये अनेक स्थल अतिसमृद्ध, परमोन्नत आध्यात्मिक चेतना के अमूल्य निदर्शन हैं। उदाहरणार्थ,

---

1. ए० वेबर : 'द हिस्ट्री आव् इण्डियन लिट्रेचर'
2. पं० भगवद्दत्त- वैदिक वाङ्मय का इतिहास (ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ) पृष्ठ 14
3. अमुष्मिन् लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति'।

यह कहा गया है कि बोलते समय मनुष्य सांस नहीं लेता है, क्योंकि भाषणक्रिया में मानव प्राणों की आहुति[1] देता है तथा जब मनुष्य श्वास लेता है तो वह भाषण नहीं करता, क्योंकि श्वसन क्रिया के मध्य वह प्राणों में वाणी की आहुति देता है।

इस प्रकार की अमृतमयी आहुतियाँ हैं जिनका उत्सर्ग जाग्रत्, स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति में अजस्र रूप से मनुष्य करता रहता है। कौषीतकि में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यागों एवं चातुर्मास्यों का बिशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। विभिन्न प्रकार के सोमयागों एवं इतर यागों का सविस्तर निरूपण मिलता है। कौषीतकि को 'कहोड' अथवा 'कहोल' के नाम से भी अभिहित किया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्रों में इसका उल्लेख किया गया है[2]। इस ब्राह्मण को सर्वप्रथम लिण्डनर ने सन् 1887 ई० में प्रकाशित किया था। आर्थर बेरेडेल कीथ ने अपने वैदुष्यपूर्ण सम्पादन के साथ इसे सन् 1920 ई० में प्रकाशित किया। हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज़ में इसी लेखक द्वारा अंग्रेजी रूपान्तर-सहित ऐतरेय एवं कौषीतकि ब्राह्मणों के पारस्परिक अध्ययन का सुन्दर पुनर्मुद्रण हुआ है[3]।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण :—

यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं की संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं जिन पर यहाँ संक्षेप में विचार आवश्यक है :—

शतपथ ब्राह्मण :—

शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण विशालकाय होने तथा अपने विषय-बाहुल्य के कारण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ए०बी० कीथ एवं ओल्डेन वर्ग के अनुसार यह ब्राह्मण अतिप्राचीन है जबकि मैक्डॉनल इसकी भाषा एवं शैली के आधार पर इसे उतना प्राचीन नहीं बतलाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायेण इसमें सौ अध्याय होने के कारण ही इसका नाम 'शतपथ ब्राह्मण' पड़ा होगा[4]।

1. यावद् वै पुरुषो भाष्वते न तावत् प्राणितुम् शक्नोति। कौषीतकि ब्राह्मण 11, 13 ······ एतत्पूर्वे विद्वांसो अग्निहोत्रं जुह्वान् चक्रुः को०ब्रा० 2-5
2. आ० गृ० सूत्र 3-4-4
3. मोतीलाल बनारसीदास द्वारा पुनर्मुद्रित एवं प्रकाशित 'ऋग्वेद ब्राह्मणज'
4. ए०ए० मैक्डॉनल, 'अ हिस्ट्री आव् संस्कृत लिट्रेचर'—पृ० 212

कतिपय विद्वानों का कथन है कि चूँकि इस ग्रन्थ में पहले ६६ ही अध्याय थे जिसमें 34 अध्याय बाद में जोड़े गये और उनकी भाषा-शैली अपेक्षाकृत आधुनिक दिखायी देती है, अतएव इसका नामकरण बाद में हुआ होगा। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी अथवा माध्यन्दिन एवं काण्व दोनों ही शाखाओं के पृथक्-पृथक् शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। वाजसनेयी अथवा माध्यन्दिन, एवं काण्व दोनों शाखाओं के ब्राह्मण ग्रन्थों में विषयवस्तु गत साम्य दिखायी देता है; किन्तु वर्णनक्रमादि एवं अध्यायों में कुछ न्यूनाधिक्य के कारण भिन्नता भी है। प्रोफेसर वेबर के मतानुसार माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में 14 काण्ड, 100 अध्याय, 68 प्रपाठक, 438 ब्राह्मण एवं 7624 कण्डिकाएँ हैं[1] तथा काण्व शतपथ ब्राह्मण में 17 काण्ड, 104 अध्याय, 435 ब्राह्मण ओर 6806 कण्डिकाएँ हैं।

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के प्रारम्भिक काण्ड में दश्पूर्णमासेष्टियों के मुख्य एवं अवान्तर अनुष्ठानों का विशद वर्णन यागक्रम से किया गया है। द्वितीय काण्ड में आधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, उपस्थान, आग्रायण, दाक्षायण, पिण्ड पितृयज्ञ तथा चातुर्मास्य आदि यज्ञों का विस्तृत वर्णन किया गया है। तृतीय तथा चतुर्थ काण्डों में सोमयागों का विस्तृत विवेचन मिलता है। पञ्चम काण्ड में 'वाजपेय' तथा 'राजसूय' यज्ञ का प्रतिपादन किया गया है। छठें से लेकर दसवें काण्ड तक उखासंभरण, विष्णुक्रम, वनीवाहनकर्म अग्निचयन शतरुद्रियहोम तथा चिति सम्पत्तिका वर्णन है। ग्यारहवें से चौदहवें काण्डों में विविध विषय, उदाहरणार्थ; स्वाध्याय (ब्राह्मयज्ञ) आदि वर्णित हैं। ग्यारहवें काण्ड में पशुबन्ध, पंचमहायज्ञ तथा दर्शपौर्णमास के अवशिष्ट विधानों पर विवेचन किया गया है। ब्रह्मयज्ञ की प्रशस्ति 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' के महनीय सिद्धान्त का विवेचन अति-विशिष्ट प्रकरण हैं। बारहवें काण्ड में द्वादश सत्र, संवत्सर सत्र, सौत्रामणी एवं और्ध्वदैहिक क्रियाओं के अनुष्ठान का विशद प्रतिपादन किया गया है। तेरहवें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध, तथा सर्वमेध का वर्णन है। चौदहवें काण्ड में प्रावर्ग्य याग चर्चित है। इस काण्ड के तीसरे अध्याय के बाद के अध्याय बृहदारण्यकोप-निषद् के अन्तर्गत आ जाते हैं।

प्रथम काण्ड पञ्चक में याज्ञवल्क्यतथा द्वितीय काण्ड पञ्चक (छः से दस अध्याय तक) में शाण्डिल्य ऋषि का नामोल्लेख है। शाण्डिल्य ऋषि को दसवें काण्ड में अग्नि रहस्य का प्रवक्ता तथा चौदहवें काण्ड में याज्ञवल्क्य को सम्पूर्ण

---

1. वेबर : 'हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर' थर्ड एडिशन, लन्दन 1892, पृ० 117

शतपथ ब्राह्मण का प्रणेता माना गया है। इसी आधार पर मैक्डॉनल ने इन काण्डों का प्रणेता ऋषि शाण्डिल्य को स्वीकार किया है।

'शतपथ बाह्मण' के विविध विषयों में 33 देवों, 12 आदित्यों, 11 रुद्रों, 8 वसुओं तथा द्यावपृथिवी के वर्णन अत्यन्त हृदयावर्जक बन पड़े हैं। स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी मानी गयी है। इसमें स्त्री का उत्तराधिकार स्वीकार नहीं किया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण के पाठक के लिये अन्य सभी ब्राह्मण अत्यन्त सुगम प्रतीत होते हैं। यागों का विशिष्ट, वैज्ञानिक एवं व्यापक ज्ञान कराने वाला यह सर्वोत्तम ब्राह्मण ग्रन्थ है। यज्ञों का आध्यात्मिक रहस्योद्‌घाटन यहीं पर किया गया है। प्राचीन आख्यानों का सरस वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। भाषा तथा स्वरादि की दृष्टि से इसे सर्वप्राचीन ब्राह्मण सिद्ध किया गया है। माध्यन्दिन शाखा के 'शतपथ ब्राह्मण' का अंग्रेजी-अनुवाद जूलियस एगलिंग ने किया था। जू० एगलिंग ने काण्व शाखा के 'शतपथ ब्राह्मण' में आये अनेक स्थलों पर सुस्पष्ट टिप्पणियाँ देते हुये सुन्दर प्रकाशन किया है। प्रो० एल्बर्ट वेबर ने सायण भाष्य तथा दो टीकाओं के साथ 1855 में इसे सम्पादित किया था। डब्लू कैलेण्ड ने काण्व 'शतपथब्राह्मण' को 1928 ई० में प्रकाशित किया था।

वैदिक धर्म एवं दर्शन की स्थापना, आध्यात्मिक-चिन्तन, ईश्वरोपासना, सृष्टि विवेचनादि विषय जितने प्रामाणिक रूप से 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रतिपादित किये गये हैं, उतने अन्य ब्राह्मणों में नहीं। रोचक प्राचीन कथाओं, ऐतिहासिक तथ्यों, भौगोलिक वर्णनों एवं प्राचीन राजाओं आदि के आख्यानों ने बाद में लौकिक साहित्य के लिये अक्षय्य वर्णन सामग्री प्रदान किया है। अपने इसी उदात्त एवं व्यापक वस्तु-कलेवर के कारण यह ग्रन्थ विश्व का एक स्पृहणीय एवं महान् ग्रन्थ बन गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण :—

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का यह एकमात्र उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ है। इस पर सायण का भाष्य भी मिलता है। इसके अतिरिक्त भट्टभास्कर का अधूरा भाष्य भी उपलब्ध है। इसका प्रकाशन कलकत्ता से 1890 ई० तथा पूना से 1899 ई० में हुआ था। इसका पाठ भी स्वरसंयुक्त मिलता है जिसके आधार पर कुछ विद्वानों का अभिमत है कि यह ग्रन्थ भी अतिप्राचीन है। इसके संकलनकर्त्ता वैशम्पायन के शिष्य तित्तिर थे। इस ग्रन्थ

में मन्त्रों का वाहुल्य है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त हैं। प्रथम दो काण्डों में आठ-आठ अध्याय हैं जो 'प्रपाठक' कहलाते हैं। तृतीय काण्ड में बारह अध्याय हैं। इसका अवान्तर भाग अनुवाकों की संज्ञा से अभिहित है। प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय यागों का वर्णन किया गया है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणी, बृहस्पतिसव और वैश्वसव आदि विविध सत्रों का वर्णन मिलता है। यागानुष्ठानों में उपयुक्त होने वाले ऋग्वेद के मन्त्रों का निर्देश किया गया है। इस ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने सोमलता एवं तीन वेद प्रकट किये थे। सोम ने तीनों वेदों को मुट्ठी में छिपा लिया। प्रजापति ने स्थागर नामक औषध को पीसकर अपनी दूसरी कन्या सावित्री के ललाट पर लगा दिया। इस पर सोम ने तीनों वेदों को सावित्री को दे दिया[1]। इस ग्रन्थ में वर्णाश्रम कर्तव्यों का सुन्दर वर्णन है।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में ऋग्वेद के कुछ प्रश्नों का उत्तर भी वर्णित मिलता है। उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक महत्त्व के विषय भी यहाँ वर्णित मिलते हैं, किन्तु इन सभी वर्णनों की उपादेयता के पीछे यज्ञविधान ही प्रमुख है। तृतीय काण्ड में नक्षत्रेष्टि का वर्णन किया गया है। तृतीय काण्ड के चतुर्थ प्रपाठक में 'पुरुषमेध' के पशुओं का अभिधान है। इस काण्ड के अन्तिम तीन प्रपाठक 'काठक' के अभिधान से यजुर्वेदियों द्वारा अभिहित किये जाते हैं। आचार्य पंडित बलदेव उपाध्याय के मतानुसार[2] संभवतः यह काठक शास्त्रीय ब्राह्मण का अंश रहा हो तथा किसी उद्देश्य-विशेष से यहाँ संगृहीत किया गया हो।

इसमें सामवेद को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसमें भी यज्ञों का विशद विवेचन किया गया है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ पुराणों के लिए उपजीव्य एवं आकर-स्रोत सिद्ध हुआ है; क्योंकि पुराणों के अनेक आख्यानोपाख्यान एवं इतर वर्ण्यवस्तु यहीं से प्रेरणा-प्राप्त हैं। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में अनेक कथाएँ वर्णित हैं जैसे, अहल्या, शुनःशेप, नचिकेता, प्रजापति कन्याएँ तथा सोमकथा आदि। इनमें शुनःशेपकी कथा अतिमहत्त्वपूर्ण है। यम और नचिकेता की कथा का वर्णन अत्यन्त विशद एवं व्यापक ढंग से किया गया है।

प्रोफेसर डा० सूर्यकान्त ने इस ब्राह्मण में आये कतिपय अंशों को 'काठक-

1. तै० ब्रा० 2.3.10
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति' पृ० 207

ब्राह्मणसंकलनम्' के नाम से प्रकाशित किया है। कृष्ण यजुर्वेद की अन्य शाखाओं, कठ एवं मैत्रायणी का कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण उपलब्ध नहीं होता। 'शतपथ ब्राह्मण' के बाद तैत्तिरीय ब्राह्मण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें यज्ञ-कर्मकाण्ड का सांगोपांग विवेचन उपन्यस्त है। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण एक स्वतःपूर्ण एवं उपादेय ग्रन्थ है।

सामवेदीय ब्राह्मण :—

अन्य वेदों की अपेक्षा सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या सर्वाधिक है। सायण के मतानुसार सामवेद के आठ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधि अथवा सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, या दैवत, उपनिषद्, संहितोपनिषद् तथा वंशब्राह्मण। 'काशिका' में सामवेदीय माल्लवि, कालवव्रि, शैरुकि, शाट्यायन तथा पैंग्य आदि ब्राह्मणग्रन्थों का नामोल्लेख मिलता है। ये ब्राह्मणग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। इनके उद्धरण अवश्य मिलते हैं। इनकी विषय-सामग्री की समता को देखकर आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय का अभिमत है कि संभवतः इनमें से अनेक ब्राह्मण एक ही बड़े साम-ब्राह्मण के विधि भाग थे जो आज स्वतंत्र रूप से उपलब्ध मिलते हैं[1]। सम्प्रति उपलब्ध सामवेदीय ब्राह्मणों का अति संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

ताण्ड्य महाब्राह्मण (पंचविंश ब्राह्मण)—

इस ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद की ताण्डि शाखा से है। यह पचीस अध्यायों में विभक्त है। इसी कारण इसे 'पञ्चविंशब्राह्मण' की भी संज्ञा दी गयी है। इस ग्रन्थ के विषय-बाहुल्य के कारण इसके नाम के आगे 'महत्' शब्द का प्रयोग करके इसे 'महाब्राह्मण' भी कहा गया है। इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य 'ताण्डि' नामक ऋषि बताये जाते हैं। सामविधान ब्राह्मण में 'ताण्डि' नामक आचार्य का नामाभिधान मिलता है[2]।

'शतपथ ब्राह्मण' में भी 'ताण्ड्य' नामक ऋषि का प्रमाण मिलता है[3]।

---

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति' पृ० 209
2. डा० वे० रामचन्द्र शर्मा—सामविधान ब्राह्मण—तृतीय प्रपाठक (9), 8. द्वारा सम्पादित, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति, 1980.
3. 'शतपथब्राह्मण' 6, 1, 2, 25.

यह ब्राह्मणग्रन्थ पूर्व में स्वराङ्कित था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में स्वराङ्कन की परिपाटी समाप्त सी हो गयी । इस तथ्य का उल्लेख कुमारिलभट्ट के 'तन्त्रवार्तिक' में मिलता है[1] । इससे यही संकेत मिलता है कि ताण्ड्य ब्राह्मण प्राचीनकाल में अवश्यमेव स्वरसहित ही था ।

इस ब्राह्मणग्रन्थ में 'उद्‌गाता' नामक ऋत्विक् के कार्यकलाप विस्तृत रूप से वर्णित हैं। विविध यज्ञों एवं अनुष्ठान-पद्धतियों का विशद विवेचन इसका प्रमुख विषय रहा है । एक दिन से लेकर सहस्रों वर्षों तक चलने वाले यागों का विवरण देने एवं इतर विषय व्यापकत्व के कारण इसका 'महाब्राह्मण' नाम पूर्णतः चरितार्थ हो जाता है ।

द्वितीय प्रपाठक में त्रिवृत्, तृतीय प्रपाठक में पञ्चदश एवं सप्तदश आदि सोमों का विवेचन किया गया है। चौथे तथा पांचवें प्रपाठकों में सभी सत्रों के प्रकृतिस्वरूप एक वर्ष तक चलने वाले 'गवामयन' याग का वर्णन किया गया है। छठे प्रपाठक से लेकर नवें प्रपाठक तक एकाह एवं अहीन यागों के प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम, उक्थ्य एवं अतिरात्र का विवरण अंकित है। नवें प्रपाठक के मध्य भाग से अन्त तक सोम प्रायश्चित्तों का विधान बताया गया है। दसवें प्रपाठक से पन्द्रहवें प्रपाठक तक द्वादशाह यागों का विवरण दिया गया है। सोलहवें प्रपाठक से उन्नीसवें प्रपाठक तक एकाह यागों का विवरण अंकित किया गया है । बीसवें से लेकर बाईसवें प्रपाठक तक अहीन यागों का वर्णन किया गया है । तेईसवें से लेकर पचीसवें प्रपाठक तक तेरह दिन के सत्रों से लेकर सहस्रों अनुष्ठान विधियाँ अंकित हैं । इनमें हजारों वर्ष के 'प्रजापति' एवं 'विश्वसृज' नामक सत्र प्रमुख हैं ।

सामवेदीय ग्रन्थ होने के कारण साम गान एवं सोम यागों का विशिष्ट रूप से प्रतिपादन करना ही इसका प्रधान विषय है। यज्ञ के सम्बन्ध में आये विभिन्न मतमतान्तरों का भी विशद उल्लेख इसमें किया गया है। यज्ञों के विवेचन की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अपना पृथक् महत्त्व है। इस ग्रंथ का प्रकाशन दो वाल्यूम में सायण भाष्य सहित 'बिब्लियोथिका इण्डिका' में श्री आनन्दचन्द्र वेदान्त-वागीश द्वारा 1870 ई०-1874 ई० में किया गया ।

'षड्‌विंशब्राह्मण' सामवेद का दूसरा महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है । इस ब्राह्मण

1. कुमारिलभट्ट, 'तन्त्रवार्तिक' 1, 2, 12.

का भी प्रधान विषय सोमयागों तथा अन्य कर्मकाण्डों का विवरण प्रस्तुत करना है। इसके प्रथम पाँच अध्याओं (प्रपाठकों) में सोमयागों से सम्बद्ध कर्मकाण्डों का विवेचन किया गया है जबकि छठे अध्याय में अमंगल एवं उत्पातों के निवारणार्थ शान्तिप्रदायिनी क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। षड्विंशनाम का अर्थ ही 'छब्बीसवाँ' है। यह नामकरण इसलिए है, क्योंकि यह पञ्चविंश ब्राह्मण (पचीसवें) अर्थात् ताण्ड्य ब्राह्मण के ठीक बाद आता है। पूर्व में इंगित किया हो जा चुका है कि 'षड्विंश ब्राह्मण, ताण्ड्य अथवा पञ्चविंश ब्राह्मण का ही आगे का पूरक अंश है। 'षड्विंश' ब्राह्मण की विषयवस्तु को देखने से यह धारणा समर्थित होती है, क्योंकि इसके अन्तिम भाग को छोड़कर जिसमें शुभाशुभ का प्रतिपादन है, शेष समग्र ग्रन्थ में अनुष्ठानों एवं क्रियाओं के विवेचन से यही प्रतीत होता है कि यह ताण्ड्य अर्थात् पञ्चविंश के आगे का परिशिष्ट भाग है। इस प्रकार षड्विंश के छः अध्याय पञ्चविंश के बाद के समन्वित अध्याय मात्र प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में 'षड्विंश' में केवल पांच अध्याय थे, और अशुभ एवं उत्पात-शान्ति हेतु प्रायश्चित्तादि क्रियाओं सम्बन्धी छठा अध्याय बाद में जोड़ दिया गया। ऐसी धारणा इसलिये बनती है कि केवल पञ्चम अध्याय ही एक ऐसा अध्याय है जिसके अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग[1] मिलता है। इस पर सायण ने अति समीचीन टीका की है कि 'इति' शब्द अध्याय की समाप्ति का सूचक है—

'इतिशब्दोऽध्याय परिसमाप्त्यर्थः।'

यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान पाँचवें अध्याय के अन्त तक का समूचा विषय एक अध्याय था जो कि महाब्राह्मण का छब्बीसवाँ अध्याय (षड्विंश) था। 'षड्विंश' का अन्तिम अध्याय इस प्रकार आरम्भ होता है, 'अथातः (अथातोऽद्भुतानां कर्मणां शान्ति व्याख्यास्यामः ६.११)। छठें अध्याय में अद्भुत कर्मों की शान्ति हेतु जो क्रियायें बतलायी गयी हैं उन्हें देखकर यह जिज्ञासा अवश्य होती है कि क्या इन कृत्यों को ब्राह्मणग्रन्थ का वर्ण्य-विषय माना जाय; किन्तु क्योंकि मन्त्रों एवं साम के साथ ही अग्नि में आहुतिविधान था, अतः इन विविध प्रायश्चित्त कर्मानुष्ठानों का वर्णन गौण प्रकृति के वैदिक यागों के प्रतिपाद्य विषय के रूप में सर्वथा समीचीन ही प्रतीत होता है।

---

1. इति, तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।। षड्० ब्रा० 5, 7, 3.

'षड्विंश, के अध्याय खण्डों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में सात खण्ड हैं। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में 'सुब्रह्मण्या' देवता का वर्णन है। ग्रन्थारम्भ में ब्रह्माण्ड से 'ब्रह्मा' एवं 'सुब्रह्मा,' का उद्भव बताया गया है। द्वितीय खण्ड में 'सुब्रह्मण्या' का गरिमागान है तथा ब्राह्मण ने यजमान को यह परामर्श दिया है कि 'सुब्रह्मण्या जैसे ऋत्विक् का वरण करना चाहिए जो कि कृताकृत की शान्ति के लिये प्रायश्चित्त कृत्यों का भी ज्ञाता हो। द्वितीय अध्याय में भी सात खण्ड हैं। तृतीय अध्याय में नौ खण्ड हैं। पाँच से नौ तक के खण्डों में अभिचार यागों का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में छः तथा पंचम में सात खण्ड हैं। छठे अध्याय में बारह खण्ड हैं। इसमें अद्भुत शान्ति क्रियायों का सविस्तर विवरण है। इसके अन्तर्गत दिव्याद्भुत, भवमाद्भुत एवं जलाद्भुत आदि उत्पातों का वर्णन है। इनकी शान्ति के लिये विधियाँ भी बतलायी गयी हैं। खण्ड एक में 1008 पलाशखण्डों की आहुति वर्णित है। इन्द्र, यम, वरुण, धनद, अग्नि, वायु, सोम एवं विष्णु के स्वस्तिवाचन में आठ श्लोक अभिहित हैं। खण्ड दो में देवों और असुरों में द्वन्द्व का वर्णन है। देवतागण प्रजापति के पास मार्गदर्शन हेतु पहुँचते हैं जिसकी सहायता से देवगण असुरों पर विजय प्राप्त करते हैं। इस शान्ति होम में आठ देवों को समर्पित मन्त्रों के उच्चारण सहित आठ द्रव्यों की आहुति का वर्णन है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में दैवी उत्पातों में भूकम्प, अकाल, फूल न फूलने, मादा हाथी के डूबने, प्रासाद के भग्न होने आदि का वर्णन तथा प्रायश्चित्त में शान्ति की विधियाँ बतायी गई हैं।

'षड्विंश ब्राह्मण' का सायणभाष्य सहित प्रकाशन श्री सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सन् 1873 ई० में किया गया था। तदनन्तर श्री जीवानन्द विद्यासागर ने 'देवताध्याय ब्राह्मण' सहित 'षड्विंशब्राह्मण' को सम्पादित कर एक वाल्यूम में 1881 ई० में प्रकाशित किया। इन दोनों ही प्रकाशनों के बहुत पहले ए० वेबर ने 1859 ई० में पाँचवें प्रपाठक को जिसे कि 'अद्भुत ब्राह्मण' की संज्ञा दी गयी है जर्मन भाषा में अनूदित करते हुए सम्पादित व प्रकाशित किया था। इसके अतिरिक्त हरमन फ्रीड्रिक ईलसिंग ने 'षड्विंश ब्राह्मण' की रोमन लिपि में व्याख्या, जिसे उन्होंने विज्ञानयानभाष्य कहा है, के साथ अत्यन्त उपयोगी प्रकाशन लीडेन से सन् 1908 ई० में किया था। डब्लू, बी० बोली ने सन् 1956 ई० में ईलसिग के संस्करण के आधार पर इस ग्रन्थ का उत्तम कोटि का अंग्रेजी रूपान्तरण किया था। सन् 1983 ई० में बे० रामचन्द्र शर्मा ने इसे सम्पादित करते हुए केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से प्रकाशित किया।

सामविधान ब्राह्मणः—

'सामविधान' सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों की श्रेणी में तृतीय अतिमहत्त्वपूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है। सामवेद के प्रथम दो ब्राह्मणग्रन्थ, 'ताण्ड्य' एवं 'षड्विंश' अन्य संहिताओं के ब्राह्मणों की तरह अपने-अपने निर्धारित विषय-सीमा में व्यवस्थित हैं, किन्तु सामविधान ब्राह्मण प्रायः अपनी वर्ण्यवस्तु की सीमा का अतिक्रमण करता है। यज्ञ, कर्मकाण्डों के स्थान पर इस ग्रन्थ में जादू-टोना, शत्रु-उच्चाटन तथा उपद्रवों को शान्त करने आदि विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है। अतएव प्रथम दो ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें पर्याप्त विषयान्तर-बाहुल्य है। इसकी विषय सामग्री प्रायेण धर्मशास्त्रों में वर्णित सामग्री के अनुरूप है। इस ब्राह्मण में तीन प्रपाठक हैं। ये प्रपाठक खण्डों में विभक्त हैं। प्रथम एवं द्वितीय प्रपाठक में आठ-आठ खण्ड तथा तृतीय प्रपाठक में नौ खण्ड हैं। प्रथम प्रपाठक के आठ अनुवाकों में से चार अनुवाकों में कृताकृत हेतु प्रायश्चित्तादि का वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रपाठक में स्त्रीवशीकरण, मारण, मोहनादि काम्य कर्मों की विधि बतायी गयी है। तृतीय प्रपाठक द्वितीय प्रपाठक का पूरक भाग है, किन्तु इसी में अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्ण्य श्रौत क्रियाओं-अनुष्ठानों आदि का उल्लेख किया गया है। तृतीय प्रपाठक के आठवें अनुवाक में अपुनर्भव प्राप्त करने हेतु रात्रिव्रत का विधान बताया गया है। जन्म-मरण के बन्धनचक्र से मुक्ति पाने के लिए इस अपुनर्भव क्रिया की विधि बतायी गयी है। इसी प्रपाठक में ही अनुष्ठानकर्ता पर दिव्य शक्तिपात हेतु क्रियाएँ भी अभिहित हैं। तृतीय प्रपाठक के अन्तिम भाग में यह कहा गया है कि अपनी अपनी रुचि के अनुसार व्यक्ति क्रियाओं का अनुष्ठान कर[1] सकते हैं। साथ-साथ यह भी कथन है कि समस्त वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त गुरुकुल से प्रस्थान करने के ठीक पूर्व ब्राह्मण ब्रह्मचारी को सामविधान की[2] शिक्षा दी जानी चाहिए। इस ग्रन्थ में उन आचार्योंकी परम्परा भी दी गयी जिन्होंने इन गुप्त विधियों का ज्ञान भावी पीढ़ी के लिए प्रदान किया है। इस प्रकार इस ब्राह्मण-ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय में श्रौत कर्मकाण्ड, जादूटोना के प्रयोग, काम्य अनुष्ठान जो एक दिन से लेकर अनेक वर्षों तक के यागों में सम्पादनीय हैं, सब मिश्रित हैं। इस ग्रन्थ में साम गानों का प्रयोग विशुद्ध यज्ञानुष्ठानों के अतिरिक्त उक्त क्रियाओं के सम्पादन में किया गया है।

---

1. साम० वि० ब्रा० III 9, 7.
2. सोऽयमनूचानाय ब्रह्मचारिणे समावर्तमानारव्येयः
साम० वि० ब्रा० III, 9, 9.

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सामविधान का उक्त वस्तुविषय कोई अपवाद स्वरूप नहीं है, ऋग्विधान एवं अथर्व परिशिष्ट के भी सामविधान जैसे ही प्रतिपाद्य विषय हैं, किन्तु उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी गयी है। इस ग्रन्थ पर लिखे गये भाष्यों से प्रतीत होता है कि सामविधान का प्रणयन साम ऋचाओं के प्रयोग के निमित्त उन लक्ष्योंउद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया गया है जो लक्ष्य एवं उद्देश्य एक दिन से लेकर सहस्र वर्षों में सम्पादनीय यागों द्वारा प्राप्त किये जाते थे[1]। इन अर्थसाध्य कठिन क्रियाओं को वे ही कर सकते थे जो कि इनके अधिकारी थे।

समाज में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो यज्ञ करने के न तो अधिकारी होते हैं तथा न उनके पास सामर्थ्य है और न साधन ही है, किन्तु वे स्वर्गादि लक्ष्यसिद्धि की कामना अवश्य करते हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ की रचना ऐसे ही लोगों के लिये की गयी थी जिससे कि वे इन अनुष्ठान-विधानों का अध्ययन कर सकें। इसीलिये इसका सामविधान नामकरण किया गया है अर्थात् वह ग्रन्थ जिसमें क्रियाओं में सामों के प्रयोग की विधि बतलायी गयी है। इस ग्रन्थ में अनेक व्रतों का विधान भी बतलाया गया है। यह ग्रन्थ सामवेदीय ब्राह्मण होकर भी अथर्ववेद के ब्राह्मण की भाँति तान्त्रिक क्रियाओं आदि का प्रतिपादन करता है। इस दृष्टिकोण से सामविधान का विशिष्ट महत्त्व है।

सर्वप्रथम 'सामविधान ब्राह्मण' का सम्पादन एवं प्रकाशन ए० सी० बर्नेल द्वारा रोमन लिपि में लन्दन से 1873 ई० में तथा देवनागरी-लिपि में आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा 1895 ई० में कलकत्ता में किया गया था। सायण के पूर्वाचार्यों में भरतस्वामी का इस ब्राह्मण ग्रन्थ पर भाष्य एक महत्त्वपूर्ण भाष्य है जिस पर सायण की टीका प्रायेण आधृत है। भरतस्वामी ने सामवेद पर किये गये अपने भाष्य में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि वह कश्यप

---

1. अथ सामविधानाख्ये तृतीये ब्राह्मणग्रंथे तेष्वनधिकृतानां वक्ष्यमाणानामजपृश्निवैखानसादीनां तेष्वशक्तानामन्येषां च शुद्ध्यर्थं कृच्छ्रादिप्रायश्चित्तामितैरपहतपाप्मनां स्वर्गादिफलप्राप्तये बहुविधाग्न्याधानाग्निहोत्रादिप्रत्याम्नायरूपाणि सामानि विधास्यन्ते। तत एवास्य सामविधानमिति नाम सम्पन्नम्। तेषामहीयन्ताजाः पृश्नयो वैखानसावसुरोचिषो ये चापूता ये च कामेप्सवस्तेऽब्रवन् 'कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम' इति। तेभ्य एतत्स्वाध्यायाध्ययनं प्रायच्छत् तपश्चैताभ्यां स्वर्गं लोकमेष्यथेंति। ताभ्यां स्वर्गं लोकमायन्। सामविधान ब्रा० सायणभाष्य I, I, 17.

गोत्रीय नारायणदेव एवं यज्ञदा के पुत्र थे। उनके गुरु नागनाथ थे। अन्य प्रख्यात भाष्यकार आचार्य सायण के परिचय की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो वेदों को समझने में मूलभूत आप्तप्रमाण हैं।

आर्षेय ब्राह्मण :—

सामवेदीय कौथुम शाखा का यह चतुर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ है। यद्यपि 'आर्षेय' नाम से ही विदित होता है कि यह ग्रन्थ साम मन्त्रों के ऋषियों का विवरण प्रस्तुत करता है, किन्तु वास्तविकता में सामगान के ऋषियों का उतना अधिक वर्णन नहीं करता और न ही यह 'उद्गाता' ऋषियों की प्रामाणिक सूची ही प्रस्तुत करता है। इसमें साम गानों के प्रामाणिक नाम अवश्य दिये गये हैं। ये सामगान प्रायेण अपने प्रणेता ऋषियों के नामों को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार इसका नामकरण सार्थक ही है, क्योंकि इसका प्रतिपाद्य विषय सामगीतों के गायक ऋषियों से सम्बद्ध है।

सामवेद की चार प्रकार की सामगीतियों में से प्रथम दो उदाहरणार्थ, ग्रामगेय एवं आरण्यक ही आर्षेय की प्रमुख गीतियां हैं। सामवेद संहिता के सम्पूर्ण पूर्वार्चिक में ये दोनों ही सामगान व्यवहृत हैं। इस ग्रन्थ में 'ऊह' एवं 'ऊह्य' अर्थात् रहस्य का प्रतिपादन नहीं किया गया है, जो कि उत्तरार्चिक पर आधृत है। 'आर्षेय ब्राह्मण' की वर्णन शैली सूत्र पद्धति पर है जो परवर्ती सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की विशिष्टता रही है। यह ग्रन्थ तीन प्रपाठकों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक में 28, द्वितीय प्रपाठक में 25, तथा तृतीय प्रपाठक में 29 खण्ड हैं। पूर्व में 'देवताध्याय' तथा 'आर्षेय ब्राह्मण' एक ही ग्रन्थ में सम्मिलित थे जैसा कि 'देवताध्याय' के सूत्र[1] 'स्वस्ति देवऋषिभ्यश्च' से स्पष्ट होता है। सायण का कथन है,

'आर्षेयदेवताध्यायद्वयप्रतिपादितार्थवेदितुः फलं दुष्टतादुरुपयुक्तादित्यदि। तत्र वेदाध्ययने सावित्रीजपे च संभावितार्थदोषात् स्वस्ति भवतीति। अतएव देवऋषिभ्यश्च इति। देवा ऋषयश्च ये आर्षेय देवताभ्यां प्रतिपादितास्तत्सकाशाच्च स्वस्ति भवति।' यद्यपि सायण इन ब्राह्मणों की व्याख्या करते हुए स्पष्टतः आठ ग्रन्थ पृथक् ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु कई स्थानों पर यह धारणा अवश्य व्यक्त की है कि 'आर्षेय' एवं 'देवताध्याय' एक ब्राह्मण ग्रन्थ के अंग हैं। इसकी पुष्टि में वह देवताध्याय खण्ड में 'आर्षेय' का एक सूत्र सन्दर्भित करते हैं, 'पूर्वस्मिन् खंडे

1. सायणभाष्य 4, 4.

तत्सवितुरित्यस्यां सावित्र्यां गायत्रं गीतम् तस्य च देवता उक्ताः। आर्षेये च अयातयामत्वं ऋषयश्च प्रतिपादिताः। गानप्रकारस्य च लक्षणमुक्तं प्रथमायां वा इत्यादिना[1]।'

आगे भी निम्नांकित कारिका पर सायण की टीका विचारणीय है :—

ऋषीणां विषयज्ञो यः स शरीराद् विमुच्यते।
अतीत्य तमसः पारं स्वर्गे लोके महीयते॥

सायण का सन्निरीक्षण है, 'यद्वा साम्नाम् ऋषिदेवतयोरुभयोरप्यपेक्षितत्वात् तदुभयप्रतिपादकार्षेय देवताध्यायाख्यग्रन्थद्वयस्य एकत्वाभिप्रायेण ऋषीणां विषयज्ञ इत्युपन्यासः। ऋषिणामित्युपलक्षणम्। देवतानां विषयज्ञस्याप्युक्तं फलमस्त्येवेत्यभिप्रायः ....' इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'देवताध्याय' 'आर्षेय'[1] का अग्रेनीत अंश है, किन्तु सायण चूँकि पूर्व में 'देवताध्याय' एवं 'आर्षेय को दो पृथक् ग्रन्थों के रूप में स्वीकार कर चुके थे, अतएव अपने पूर्व मत का आग्रह वास्तविकता होते हुए भी वह छोड़ नहीं सके। इसी कारण उनका कथन है कि यहाँ 'ऋषि' शब्द का अर्थ 'देवता' भी है तथा यह कि 'ऋषि' का देवता अर्थं इसलिये है कि दोनों ही ब्राह्मणों में परस्पर एकरूपता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बहुत समय तक यह धारणा रही है कि 'देवताध्याय ब्राह्मण' तृतीय अध्याय के साथ समाप्त हो गया था। 'देवताध्याय ब्राह्मण' के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय 'आर्षेय ब्राह्मण' के अंतिम अध्याय हैं। देवताध्याय उसका एक अध्याय मात्र था। यह ज्ञातव्य है कि ऋषियों और सामगान के देवताओं का ज्ञान छन्दोग का अभिन्न अंग है। 'ऋचा' तथा उस पर आधृत गान दोनों के लिए ही देवता एवं छन्दस् एक थे, किन्तु गीति के उद्भावक ऋषि भिन्न-भिन्न थे। अतएव सामगानों के ऋषि यद्यपि इस ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य रहे, किन्तु देवता तथा सामगानों के संगीतात्मक छन्द 'देवताध्याय' नामक अध्याय के मुख्य वर्ण्य विषय रहे। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ जो अब 'आर्षेय' तथा 'देवताध्याय' नाम से पृथक्-पृथक् रूप में जाना जाता है वस्तुतः आर्षेय ग्रन्थ ही था। यही कारण है कि 'देवताध्याय ब्राह्मण' में केवल ऋषियों का उल्लेख किया गया है। 'आर्षेय' तथा 'देवताध्याय' के अंतिम भाग के विषयसाम्य को देखते हुए यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि

1. आ०ब्रा० 1. 15

'देवताध्याय' एवं आर्षेय' एक ही ग्रन्थ में सम्मिलित थे, अन्यथा जहाँ केवल 'देवता' शब्द का उल्लेख किया जाना चाहिए था वहाँ 'ऋषि' शब्द का उल्लेख करना असंगत होगा। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में आया हुआ अंश 'देव ऋषिभ्यश्च' (देवताध्याय ब्राह्मण) देवता एवं ऋषि को ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में प्रस्तुत करता है। 'देवताध्याय का शीर्षक ही स्पष्ट कर देता है कि इस अध्याय में देवताओं का वर्णन अभीष्ट है। अतएव वर्णित परिस्थितियों के फलस्वरूप आठों सामवेदीय ब्राह्मण एक प्रमुख ब्राह्मण जिसे महाब्राह्मण कहा गया, के आठ अध्याय हैं। इसका 'महाब्राह्मण' नामकरण न केवल इस ग्रन्थ के पृथुलकाय के कारण है, अपितु इसमें वर्णित विषयों की विविधता एवं व्यापकता के कारण भी है।

सत्यव्रत सामश्रमी ने 'आर्षेय' ग्रन्थ का मूल पाठ सन् 1874 में प्रकाशित किया था।

तदनन्तर, ए०सी० बर्नेल ने रोमन लिपि में सन् 1876 में 'आर्षेय ब्राह्मण' का संस्करण सायण भाष्य के साथ निकाला था। केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरूपति से सन् 1984 में वे० राम चन्द्र शर्मा ने सायणभाष्य सहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन टिप्पणी आदि सहित किया है।

देवताध्याय अथवा दैवतब्राह्मण

'देवताध्याय ब्राह्मण' अथवा 'दैवत ब्राह्मण' सामवेदीय ब्राह्मणों में अति लघुकाय ग्रन्थ हैं। इस ग्रंथ में कुल तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में 26, द्वितीय खण्ड में 11 और तृतीय खण्ड में 25 कण्डिकाएं हैं। इस ग्रन्थ में छन्दों का विशिष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। छन्दों के नामों के निर्वचन की भी सम्यक् जानकारी करायी गयी है। अतः इसे सामवेदी छन्दों का ग्रन्थ कहा जाता है। परवर्ती छन्दस् शास्त्र एवं भाषा-शास्त्र के लिए यह ब्राह्मण ग्रंथ उपजीव्य ग्रंथ के रूप में मान्य रहा है। इस प्रकार प्रथम खण्ड में सामदेवताओं, द्वितीय खण्ड में छन्दस् देवताओं तथा तृतीय खण्ड में छंदों की निरूक्तियाँ ही इस ग्रंथ में प्रतिपादित की गयी हैं।

उपनिषद् ब्राह्मण

'उपनिषद् ब्राह्मण' दो ग्रन्थों का मिश्रित नाम है। प्रथम ग्रंथ 'छन्दोग्य

ब्राह्मण' अथवा 'मंत्र ब्राह्मण' के नाम से जाना जाता है। इस ग्रन्थ में दो प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक में आठ-आठ खण्ड हैं। 'मंत्र ब्राह्मण' का विषय गृह्य सूत्रों में प्रयुक्त मंत्रों को संकलित करना है। इसमें गर्भाधान, पुंसवन, विवाह आदि संस्कारों से सम्बद्ध मंत्र तथा भूत-बलि, आग्रहायणी कर्म, पिण्ड दान, देवबलि, होम, दर्शपूर्णमास आदि अनुष्ठानों से सम्बद्ध मंत्रों का विधान बताया गया है।

इसमें सम्मिलित दूसरा ग्रंथ 'छान्दोग्य उपनिषद्' है। इसमें आठ प्रपाठक हैं। इस ग्रंथ में उपनिषद् संबंधी विषयों का विस्तृत विवेचन है। 'मंत्र ब्राह्मण' को सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से सन् 1947 ई० में प्रकाशित किया था। दुर्गा-मोहन भट्टाचार्य ने कलकत्ता से ही सन् 1958 ई० में छान्दोग्य ब्राह्मण का प्रकाशन किया था।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण

साम मन्त्रों के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करने वाला यह ब्राह्मण ग्रन्थ एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसमें एक प्रपाठक है जो पाँच खण्डों में विभक्त है। इसमें सामवेद के विभिन्न सूत्र तथा सामतन्त्र आदि उपन्यस्त हैं। गान संहिता की विधि, स्तोम, अनुलोम, प्रतिलोम तथा अन्य प्रकार के स्वरों का विषद् विवेचन किया गया है। सामगानों का विवेचन अतिवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। सामगानों का विषदज्ञान इसी ब्राह्मण ग्रन्थ से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के भी मंत्र उद्धृत किये गये हैं। इस पर सायण भाष्य के अति-रिक्त द्विराजभट्ट का भाष्य भी उपलब्ध है। ए० सी० बर्नेल ने इसका प्रकाशन बंगलौर से 1877 ई० में किया था। तिरुपति से बे० राम चन्द्र शर्मा ने 1965 ई० में टिप्पणियों के साथ इसका उपयोगी संस्करण निकाला है।

वंश ब्राह्मण :—

'वंश ब्राह्मण सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वाधिक लघुकाय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है। इसमें प्रपाठक नहीं है। इस ग्रन्थ में सामवेदीय ऋषियों की वंश परम्परा का विवरण अंकित है। उस समय के समाज एवं वैदिक ऋषियों के जीवन के बारे में इस ग्रन्थ से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

जैमिनीय ब्राह्मण :—

सामवेद की जैमिनीय शाखा का यह ब्राह्मण ग्रन्थ विषय वस्तु की दृष्टि

से अति महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अविकल रूप से सम्पूर्ण ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इसके छिन्न-भिन्न भागों को एकत्र कर डॉ० ऑर्टल ने इसे सम्पादित किया। डॉ० कैलेण्ड ने जर्मन अनुवाद सहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराया था। तदनन्तर, डा० रघुवीर ने इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण भाग को 1954 ई० में प्रकाशित किया। इस ब्राह्मण ग्रन्थ पर भी सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से डा० रघुवीर का प्रकाशन अत्यन्त उपादेय है। विविध यज्ञों एवं अन्य अनुष्ठानों का विनियोग सहित विवरण इस ग्रंथ में उपलब्ध है। इसमें यज्ञों के रहस्यों की जानकारी करायी गयी है। प्राणों की उत्पत्ति, मनसचक्षु, श्रोत्र, एवं वाणी की उत्पत्ति, प्रजापति की सृष्टि उनकी एक से अनेक होने की कामना, यज्ञ-सृष्टि, पशु-सृजन सरीसृप, मत्स्य आदि का सृजन, लोक सृष्टि, विद्याओं की उत्पत्ति इन्द्र-सृजन, ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, वसन्त आदि ऋतुओं का सृजन, अक्षर सृष्टि, अग्नि-सृजन, प्रकृति विधान तथा विश्व की अति विशाल सृष्टियों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। उक्त समस्त वर्णन यागों की भूमिका के रूप में किया गया है।

इसे तलवकार ब्राह्मण भी कहा जाता है। 'प्रपंचहृदय' नामक ग्रन्थ में इस ब्राह्मण ग्रन्थ का विस्तृत परिचय मिलता है। 'प्रपञ्च हृदय' ग्रन्थ के अनुसार जैमिनीय ब्राह्मण में 1348 खण्ड[1] हैं। इसके अतिरिक्त इसके आरण्यक में पृथक 150 खण्ड हैं। इस ग्रन्थ का नामकरण सामवेद के आचार्य व्यास के शिष्य जैमिनि के नाम पर हुआ है। जैमिनि का 'तलवकार' भी एक नाम था। उनके स्तवन में परम्परा प्राप्त एक अतिप्रसिद्ध वाक्य है जिसमें जैमिनि के सुन्दर गीत राग की प्रशस्ति की गयी है[2]।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण :—

गोपथब्राह्मण :– अथर्ववेद से सम्बद्ध मात्र एक ही ब्राह्मण उपलब्ध है, जो गोपथब्राह्मण है। पूर्वगोपथ एवं उत्तरगोपथ नामक दो भागों में यह विभक्त है। पूर्वगोपथ में पाँच एवं उत्तर गोपथ में छः प्रपाठक हैं। प्रपाठक कण्डिकाओं में बंटे हुए हैं। सम्पूर्ण गोपथब्राह्मण में कुल मिलाकर 258 कण्डिकाएँ हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में पूर्व में 100 प्रपाठक रहे। यह संख्या बाद में न्यून हो गयी।[3]

---

1. प्रपञ्चहृदय :—'तत्प्रमाणम् सहस्रादधिकम् अष्टचत्वारिंशत् उत्तर तत्रयम्'।
2. 'व्यक्तं समस्तमपि सुन्दरगीतरागम् तं जैमिनिं तलवकारगुरूं नमामि।
3. आथर्वण परिशिष्ट 49, 4, 5- 'तत्र गोपथाः शतप्रपाठकं ब्राह्मणमासीत्। तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्वमुत्तरञ्चति।'

प्रायः यह सर्वमान्य मत रहा है कि गोपथब्राह्मण अत्यन्त अर्वाचीन रचना है, क्योंकि इसके अध्ययन से यह लगता है कि यह ग्रन्थ अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों उदाहरणार्थ, ऐतरेय, तैत्तिरीय तथा शतपथब्राह्मण से बहुत कुछ प्रभावित है। गोपथ के रचयिता गोपथ नामक ऋषि को माना गया है। जिनका नाम अथर्ववेदीय ऋषिनामावली में आया है तथा जो पिप्पलाद शाखा से सम्बद्ध थे। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में अथर्ववेद एवं अथर्ववेदीय कर्मकाण्डों की प्रशस्ति की गयी है। पूर्वगोपथ में विविध यागों का वर्णन किया गया है। इस भाग में वर्णित विषयों में गायत्री मन्त्र से सम्बद्ध विशद व्याख्याएँ की गयी हैं। इन व्याख्याओं में तीन वेदों की उत्पत्ति अथर्ववेद से हुई है तथा ओङ्कार की उत्पत्ति से समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है। इसमें समस्त वैदिक साहित्य के अध्येताओं को अथर्ववेद का अनुशीलन अवश्य करने का परामर्श दिया गया है। द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचर्य व्रत तथा ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रापठक में विविध होताओं के कार्यकलापों के विवरण अति वैज्ञानिक ढंग से उपन्यस्त हैं। ओङ्कार की तीनों मात्राओं का वर्णन सर्वप्रथम इसी वैदिक ग्रन्थ में अङ्कित मिलता है। इसके अनुसार लालवर्ण की प्रथम मात्रा ब्रह्मा की है, दूसरी मात्रा कृष्णवर्ण की है, जो विष्णु देवता विषयक है तथा तृतीय मात्रा कपिलवर्ण की ईशान देवता की है। ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र को युगपत् चित्रित किया गया है। मृत्यु एवं पुर्नजन्म के बारे में भी इसी प्रपाठक में प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ प्रपाठक में ऋत्विक्-दीक्षा की विधि बतलायी गयी है। पञ्चम प्रपाठक संवत्सर सत्र की विधि बताते हुए अश्वमेध, पुरुषमेध, अग्निष्टोम आदि मुख्य-मुख्य यज्ञों का वर्णन करता है। इसमें किसी भी अनुष्ठान के पूर्व करणीय कृत्यों, यथा आचमन, मन्त्रजपादि का उल्लेख किया गया है। कर्मकाण्ड में आने वाले प्रमुख नामों आदि की व्याख्या भी इसमें मिलती है, यथा, वरुण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि वरण किये जाने के कारण 'वरुण' कहा गया है। 'दीक्षित' शब्द की व्युत्पत्ति दीक्षा से न मानते हुए 'धियम्' शब्द से बतायी गयी है। 'अव्यय' शब्द का व्याकरण-शास्त्र-सम्मत प्रथम निर्वचन यहाँ किया गया है[1]।

उत्तर गोपथब्राह्मण में विविध यागों एवं तत्सम्बद्ध अनेकानेक आख्यायिकाओं का वर्णन किया गया है। गोपथ में वर्णित शब्द व्युत्पत्तियों का भाषा

---

1. गोपथ ब्रा० 1,26 'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥'

वैज्ञानिक दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। निरुक्तकार यास्क ने भी इन शब्द निर्वचनों से प्रेरणा प्राप्त की है।

गोपथब्राह्मण का प्रथम प्रकाशन हरचन्द्र विद्याभूषण ने सन् 1870 ई० में कलकत्ता में किया था। बाद में डी० गास्ट्रा ने जर्मनी से सन् 1919 में तथा राजेन्द्रलाल मित्र ने सन् 1872 में कलकत्ता से प्रकाशन सम्पन्न किया। इसकी विशद भूमिका एवं विवेचन सहित 'अथर्ववेद एण्ड गोपथब्राह्मण' हमारे समक्ष है, जिसका प्रोफेसर डॉ० सूर्यकान्त ने 'अथर्ववेद एवं गोपथब्राह्मण' नाम से हिन्दी अनुवाद किया है।

ब्राह्मण एवं वैदिक साहित्य के अन्य भाग :—

ब्राह्मणों में 'वेद' शब्द बारम्बार आया है। अधिकांश स्थलों पर 'वेद' शब्द का प्रयोग 'ज्ञान' के अर्थ में हुआ है, किन्तु अनेक स्थानों पर इसका तात्पर्य 'ज्ञानराशि' रहा है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है, 'जो व्यक्ति 'वेद' नहीं जानता है (वेदवित्) वह उस महान् (बृहत्) के बारे में सोच नहीं सकता (नावेदवित् मनुते तं बृहन्तम् तै० ब्रा० 1.2.9.7)।' प्राचीन ऋषियों की यह आस्था रही है कि वेद अनन्त हैं। इन्हें निरन्तर तीन जन्मों में सीखने पर भी मनुष्य वेदों की केवल तीन मुट्ठी भर सीख सकता है[1]। कोई व्यक्ति अनेक जन्मों तक भले ही वेदों का पारायण क्यों न करता रहे, वह इनके पार नहीं पहुँच सकता। वेदों को ऋषियों ने[1] त्रयी विद्या[2] कहकर पुकारा है। कभी-कभी इन्हें स्पष्ट रूप से ऋक्, यजुष् एवं साम कहा गया है। एक स्थान पर यजुष् एवं छन्दस् को साथ-साथ रखा[3] गया है। ब्राह्मणों में 'ऋग्वेद' 'यजुर्वेद'[4] तथा 'सामवेद' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ प्रसंगतः 'शुक्ल यजुर्वेद' तथा 'कृष्ण

---

1. तं ह्त्रीन्गिरिरूपानविज्ञानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिनाऽऽददे स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वा एते अनन्तावै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः। अथत इतरदननूक्तमेव। तै० ब्रा० 3. 10. 11. 45.
2. एषो एव त्रयी विद्या। तै० ब्रा० 3-10-11-47; जै० ब्रा० 2-357, 358; श० ब्रा० 10.3.1.21,
3. जामि स्यात् यद्यजुषाऽऽआज्यं यजुषाऽपउत्पुनीयात् छन्दसाऽप उत्पुनात्यजामित्वाय। तै० ब्रा० 3.3.4.21
4. विशेष अध्ययन हेतु कृपया देखें—श्रीकृष्ण भावे का 'रिव्यू दिक् यजुष् देस अश्वमेध' लेखक -ड्यूमॉन्ट–जे० ए० ओ० एस० 62, 1942, पृ० 80

यजुर्वेद' शब्दों पर संक्षेप में विचार कर लेना अप्राकरणिक नहीं होगा। कृष्णा-जिन (कृष्ण वर्ण की खाल वाले मृग) का त्रयी विद्या के नाम से भी प्रसिद्ध 'यज्ञ' से साधर्म्य इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। मृगचर्म पर श्वेत, कृष्ण एवं मिश्रित रंगों के छींटों को क्रमशः साम, ऋक् एवं यजुष् के रूप में वर्णित किया गया है, (यानि शुक्लानि तानि साम्नां रूपं, कृष्णानि ऋचाम्। यदि वेदरथा यान्येव तानि साम्नां रूपम् शुक्लानि ऋचाम् ब्रभ्रूणि हरीणि यजुषां रुपम्। श०ब्रा० 1-1-4.2)। कृष्ण यजुर्वेद में 'कृष्ण' को 'मिश्रित' के अर्थ में लेना चाहिए, कृष्ण (श्याम) के अर्थ में नहीं। वाजसनेयीसंहिता को शुक्ल कहा गया है, जिसका अर्थ मात्र 'अमिश्रित' मानना चाहिए, शुक्ल (श्वेत) नहीं। एक मत के अनुसार 'कृष्ण' का अर्थ 'पूर्ण' है। तैत्तिरीय संहिता पूर्ण है, अन्य नहीं। श्रीकृष्ण भावे के मतानुसार मन्त्र एवं ब्राह्मण का विभाजन शुक्ल एवं कृष्ण के वीच विशिष्ट एवं अनिवार्य लक्षण नहीं है। वाजसनेयी संहिता में यजुष् सम्मिलित है, जिसे शुक्ल कहा गया है। इसीलिये इसे शुक्ल यजुर्वेद कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] जैमिनीय ब्राह्मण[2] तथा शतपथ ब्राह्मण[3] के अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद क्रमशः अग्नि, वायु एवं आदित्य से प्रादुर्भूत हुए हैं।

शतपथब्राह्मण (श०ब्रा० 10-3.1.21) का कथन है कि प्रजापति ने वेदों को देखा व व्यवस्थित किया। प्रजापति ने त्रयी विद्या के संस्कार बनाने का निश्चय किया। बारह हजार बृहती ऋक् उनसे फूट पड़ीं। इनके व्यवस्थित होने पर दश हजार आठ सौ पंक्तियाँ निर्मित हुईं। उन्होंने अन्य दोनों वेदों की भी रचना की जिसमें बारह हजार बृहती आठ हजार यजुष् एवं चार हजार साम) ऋचाएं थीं। ब्राह्मणों के अनुसार वेदों में आठ लाख चौसठ हजार वर्ण प्रयुक्त हैं[4]। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में ऋक् यजुष् एवं साम का यशोगान[5] आनन्द राशि कहकर

---

1. 'ऋग्वेद एवं अग्नेरजायत यजुर्वेदोवायोः सामवेद आदित्यात्।' ऐ० ब्रा० 25.32.357 तथा श० ब्रा० 11.5.8.3.
2. जै० ब्रा० 1.357.
3. श० ब्रा० 11.5.8.3.
4. स ऐक्षत प्रजापतिः। त्रय्यां विद्यायां सर्वाणि भूतानि। ……द्वादशबृहतीसहस्राणि। एतावत्यो ह्यर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः। ताः त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिषु अतिष्ठन्त। ता अष्टशतं शतानिपङ्क्त्योऽ भवन। अथेतरौ वेदो व्यौहत्। द्वादशैव बृहतीसहस्त्राणि। अष्टौ यजुषाम्। चत्वारि साम्नाम। …… ताः अष्टशतं शतानि पङ्क्तयोऽभवेन्। ते सर्वे त्रयोवेदोः दश च सहस्त्राणि अष्टौ च शतानि 12000(वृहत्यः) $\times 36 = 432,000$ (अक्ष-
(शेष अंश पृष्ठ ४० पर मुद्रित है)

ऋषियों ने अत्यन्त उदात्त शैली में किया है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में ही ऋक् एवं साम को सरस्वती का उत्स[1] (उद्गमस्रोत) बताया गया है। इन्हीं दोनों को दो लोक[2] बतलाया गया है। ऋक् का सम्बन्ध वाणी तथा साम का सम्बन्ध मन से बतलाया गया[3] है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में ऋक् एवं साम को इन्द्र के दो अश्वों की संज्ञा दी गयी है —'इन्द्रस्य हरी' (तै०ब्रा० 1-6-3-9)। शतपथब्राह्मण में उक्थ, यजुष् एवं साम आदि नामों को परम तत्त्व के नामों के रूप में माना गया है।—"योऽयं दक्षिणे अक्षन् पुरुषः—तमेतमग्निरित्यध्वर्यवं उपासते यजुरिति—साम इति छान्दोगाः—उक्थमिति—(श०ब्रा० 10.3.6.20) 'ऐतरेय ब्राह्मण' एवं 'शतपथब्राह्मण' ने इन तीनों की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ऋक् एवं साम प्रथम उद्भूत हुए तथा ये दोनों बाद में परस्पर सम्पृक्त होकर यजुष् के रूप में उत्पन्न हुए—ऋक् च वा इदमग्रे साम च आस्ताम्।' ऐ०ब्रा० 12.23 'तदेतत् यजुः ऋक्साम्नोः प्रतिष्ठितम्। श० ब्रा० 10.2.7.2'।

ब्राह्मण, कल्प-सूत्र एवं पुराण :—

यह ज्ञातव्य है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में मुख्यतया यज्ञ विधि एवं यज्ञ का विवरण अङ्कित है। ब्राह्मणों में उक्त विभिन्न विचारों एवं विवरणों को कल्प सूत्रों एवं पुराणों में छाँटकर सुव्यवस्थित किया गया है। कल्पसूत्रों में तकनीकी वस्तु-विन्यास को क्रमबद्ध ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है। पुराणों में तकनीकी भाग के अतिरिक्त वर्ण्य-वस्तु का सविस्तर वर्णन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौत सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध पर जापान के विद्वान् नाओ शिरो इसुजी का टोकियो से 1952 ई० में प्रकाशित ग्रन्थ अध्येतव्य है। ब्राह्मणों एवं महाभारत के सम्बन्धों पर वी०वी० दीक्षित[4] का ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

राणि) ÷40=10,800(पंक्तयः) अशीतीनाम् अभवन्। श० ब्रा० 10.3.1.22-25। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋचाओं को संख्या के विवरण की पुष्टि एक कारिका से होती है जो ऋग्वेद में प्रयुक्त वर्णों एवं अक्षरों का उल्लेख करती है :—'चत्वारि वाव शतसहस्राणि द्वात्रिंशत च अक्षरसहस्राणि।'

5. यं ऋषयस्त्रैविदाविदुः ऋचस्सामानि यजूंषि। सा हि श्रीरमृतां सताम्।' तै० ब्रा० 1.2.1.26

---

1. ऋक्सामे वै सारस्वतावत्सौ। तै० ब्रा० 1.4.4.25
2. सामवाअसौ लोकः ऋक् अयं यदितः। पं० ब्रा० 43.3
3. वाग्वा ऋचः सत्यं मनस्साम्नः। जै० ब्रा० 1.326
4. वी० वी० दीक्षितः 'रिलेशन बिटवीन एपिक्स एण्ड द ब्राह्मणज'। पूना, 1952

ब्राह्मणों का वेदत्व :—

मन्त्र एवं ब्राह्मण मिलकर वेद कहलाते हैं। सदियों से ब्राह्मणों के वैदिक कहे जाने अथवा न कहे जाने के विषय पर विद्वानों में मतभेद रहा है। संक्षेप में यहाँ इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अधिकांश विचारकों की धारणा यही रही है कि ब्राह्मण ग्रन्थ 'वेद' की परिधि में आते हैं, अतएव वे वेद हैं, किन्तु अनेक विद्वानों का यह अभिमत रहा है कि ब्राह्मण वेद नहीं है। इन विद्वानों में प्रमुख हैं आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती, भागवत दत्त, सामिश्रमी एवं कापालि शास्त्री आदि। स्वामी दयानन्द का कथन[1] है कि ब्राह्मण 'वेद' के अंग नहीं हैं। उनके अनुसार आपस्तम्ब आदि ने इन्हें वेदों का भाग मानकर त्रुटि की है। ब्राह्मणों को पुराण एवं इतिहास कहा गया है, अतएव ये वेद नहीं हो सकते। ये वेदों की व्याख्या करने वाले मात्र व्याख्यान अंश हैं। ऋषियों ने इन्हें रचा है, अतएव ये संहिताओं से इस अर्थ में भिन्न हैं कि संहितायें साक्षात् परमेश्वर से निकली हुई हैं। ऋषियों में भी कात्यायान को छोड़कर अन्यों ने ब्राह्मणों को वेद में सम्मिलित नहीं किया है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द जी ने ब्राह्मणों को पौरुषेय माना है। श्रीधर शास्त्री पाठक ने स्वामी दयानन्द के ही तर्कों से प्रभावित होकर यह कहा[2] है कि कात्यायन ने कर्म सिद्धान्त के माहात्म्य के कारण ब्राह्मणों को भी वेदों में सम्मिलित मान लिया था। कापालि शास्त्री का कहना है कि यह बात समीचीन प्रतीत होती है कि कुछ आचार्यों ने ब्राह्मणों को मन्त्र संहिताओं में सम्मिलित करना ठीक नहीं समझा। तैत्तिरीय संहिता में ब्राह्मणों का सम्मिलित होना महत्त्व-पूर्ण वात थी। इस तथ्य से यह बात समर्थित होती है कि वेद में मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों ही सम्मिलित हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अभिमत के समर्थन में मुख्यतया उनका समाज सुधार करने का उत्कट आग्रह ही आधारभूत रहा। योगी अरविन्द ने यद्यपि वैदिक वाङ्मय पर पर्याप्त अध्ययन किया है, किन्तु उन्होंने ब्राह्मणों पर कोई विशेष विचार प्रस्तुत नहीं किया है। कदाचित् इसे देखकर ही कापालि शास्त्री ने यह अनुमान लगा लिया कि योगी अरविन्द ने ब्राह्मणों को मानवरचित एवं वेद से इतर मान लिया।

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती: 'ऋग्वेदभाष्य-भूमिका'-पृ० 8
2. श्रीधर शास्त्री पाठक 'लेक्चर्स आन् धर्मशास्त्र' ए० बी० ओ० आर० आई० 14, 1932-33, पृ० 1-2

ब्राह्मणों के वेदत्व पर प्राचीन काल से ही मत वैमत्य रहा है। आपस्तम्ब सूत्रों पर टीका करते हुए ध्रुवस्वामी ने कहा है, 'कुछ विद्वानों के मतानुसार केवल मन्त्रों का ही वेदत्व मान्य है,[1] कैश्चित मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्'। (आपस्तम्ब परिभाषासूत्र)। हरदत्त ने इसी सूत्र पर टीका करते हुए कहा है–'कतिपय आचार्यों ने केवल मन्त्रों को ही वेद माना है, कतिपय विद्वानों ने कल्पसूत्रों को भी वेद के अन्तर्गत माना है—'कैश्चित् मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्। कैश्चित् कल्पसूत्राणामपि।' स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर कुछ ने ब्राह्मणों का वेदत्व ही स्वीकार नहीं किया तो दूसरी ओर कुछ ने कल्पसूत्रों को भी वेदान्तर्गत माना। किन्तु चूंकि इन व्याख्याकारों ने अपने मतों की पुष्टि में कोई ठोस तर्क नहीं दिया है, अतएव परवर्ती पीढ़ियों के आचार्यों ने इसे सामान्यतया स्वीकार भी नहीं किया। प्रसंगवश यहाँ यह भी विचारणीय है कि जहाँ ब्राह्मणों के वेदत्व पर परस्पर विरोधी मत उपलब्ध हैं, वहीं आधुनिक विद्वानों में से कुछ विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों को समझने में न केवल भूल की है, प्रत्युत उन्हें दुराग्रह से भी देखा है। मैक्समूलर ने ब्राह्मणों को निरर्थक, धार्मिक गल्प (twaddle) की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि इनका अध्ययन उसी ढंग से करना चाहिए जैसा कि एक चिकित्सक किसी पागल के ऊटपटांग, बचकाने, अर्थहीन, प्रलापों का अध्ययन करता है। उनके अनुसार ब्राह्मण उस रेगिस्तान की भाँति हैं जिनमें यत्र-तत्र साहित्य का नखलिस्तान (oasis) झलक उठता[2] है। इस बिन्दु पर विन्टरनिट्ज ने मैक्समूलर की ही लीक पीटी है और कहा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में साहित्य का अभाव है। डॉ० ए० बी० कीथ को ब्राह्मणों में दिये गये[3] तर्क 'मूर्खतापूर्ण' दिखायी दिये। एगलिंग ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए ब्राह्मणों को कल्पना-प्रधान एक ऐसा अध्यात्मवादी धार्मिक साहित्य बतलाया है जो सामान्य मानव की तर्कबुद्धि से परे[3] है। एस० एन० दास गुप्त ने भी अपने विवेक पर भरोसा न करते हुए इन्हीं आधुनिक विद्वानों के मत का समर्थन किया है। उनका कहना है कि ब्राह्मण प्रणेताओं ने स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति को उपसर्जनीकृत करते हुए अत्यधिक कल्पना-मण्डित, प्रतीकात्मक, यज्ञ कर्मकाण्ड पद्धति को प्राधान्य दिया। एस०के० रामचन्द्रराव ने भी ब्राह्मणों की समीक्षा करते हुए इस आशय का मत व्यक्त किया है कि ब्राह्मणग्रन्थों ने पाण्डित्यपूर्ण एवं उपदेशात्मक शैली में यागप्रधान समाज बनाने

---

1. मैक्समूलर—'एन्शियन्ट संस्कृत लिट्रेचर,' पृ० 389
2. ए० बी० कीथ–'रेलिजन एण्ड फिलसॉफी ऑव् वेद एण्ड उपनिशद्स।' पृ० 22
3. एगलिंग—'शथपथ ब्राह्मण, अनूदित–एस० बी० ई० 12, इन्ट्रोडक्शन पृ० IX

का प्रयास किया । मन्त्रमुग्धकारी संहिताओं की अपेक्षा ये ग्रन्थ थका देने वाले, नीरस, निस्तेज और उबाऊ प्रकृति के हैं जिसके फलस्वरूप ये अनुपयोगी सिद्ध हुए । ज्यों-ज्यों समय ने करवट बदली ये निर्जीव होते चले गये तथा अनेकविध यज्ञानुष्ठानों के निरर्थक विवरणों की गणना में ही ये सिमटे रह[1] गये ।

ब्राह्मणों पर व्यक्त की गयी पाश्चात्त्यों एवं अर्वाचीन भारतीयों की इन प्रतिक्रियाओं को देखकर यह प्रतीत होता है कि ये विद्वान् भारत की प्राचीन वैदिक सभ्यता एवं सस्कृति को तनिक भी समझ न पाये । इसमें उनका दोष भी क्या है ? वे इस देश की सभ्यता एवं संस्कृति के मूल्यों, परिपाटियों, यहाँ के जनजीवन, दिनचर्या, उनके लौकिक एवं पारलौकिक जीवनदर्शन, अध्यात्म की परम लक्ष्य के रूप में उपलब्धि आदि जैसे गूढ़ विषयों को समझ ही नहीं सकते थे । जैसे विज्ञान के छात्र से संगीत एवं कला की अभिज्ञता अथवा आज की भोगवादी सभ्यता में पले-पगे व्यक्ति से त्याग तपश्चर्या एवं तपोनिष्ठ जीवन में दिव्य आनन्द की अनुभूति की अपेक्षा करना अरण्यरोदन मात्र होगा । तभी तो किसी विवेकी विचारक ने ठीक ही कहा है :–East is east and west, is west the twain shall never meet ? (प्राची प्राची है प्रतीची प्रतीची-दोनों का मिलन कहाँ) ।

ये पाश्चात्त्य महानुभाव एवं उनके अनुयायी, ब्राह्मणों किंवा समग्र वैदिक वाङ्मय की आत्मा को पहचान नहीं सके, उसके गूढ़ तत्त्वों का ज्ञान पाना तो दूर रहा । उन्होंने ब्राह्मणों का पल्लवग्राही अर्थ लगाने का प्रयास मात्र किया । तभी तो इन्होंने ब्राह्मण साहित्य को बचकाना (puerile) पागलपन (insauity) एवं कोरा धार्मिक गल्प (twaddles) कह दिया । उन्हें प्राचीन आश्रम पद्धति एवं याग से पवित्र जीवन शैली का अनुमान नहीं लग सका । ब्राह्मणों में जो प्रतीक छिपे हैं उनका उद्घाटन किये बिना ब्राह्मण-साहित्य का मर्म समझ पाना असम्भव है ।

आज 'पर्यावरण', एवं 'जल-वायु प्रदूषण' जैसे शब्दों की जानकारी पाश्चात्त्य-जगत् में भी पर्याप्त हो चुकी है, अतएव आज का विचारक यज्ञक्रियाओं की उपयोगिता को दुराग्रह की दृष्टि से नहीं देखता । इन यागक्रियाओं एवं अग्निहोत्रों से उद्भूत विविध धूम एवं आहुति गन्ध से न केवल आस-पास का वातावरण अपितु सम्पूर्ण भूमण्डल एवं दिग्-दिगन्त पवित्र एवं स्वास्थ्यकर हो

1. एस० के० रामचन्द्रराव–'डिवेलपमेंन्ट आव् साइकालाजिकल थॉट इन इण्डिया,' पृ० 2,14

जाता था। आज के कीटनाशक ओषधि ने तो एक ओर जहाँ जीवों का नाश कर उन्हें अन्य 'वाइरसों' का रूप धारण करने पर विवश कर दिया, वहीं उनके दुष्प्रभावों ने मानव स्वास्थ्य के लिये गम्भीर भय उत्पन्न कर दिया है।

ब्राह्मणग्रन्थ अत्यन्त तकनीकी एवं अति विशिष्ट श्रेणी के साहित्य हैं। उनका समझ पाना आसान नहीं है। पाश्चात्यों की अपेक्षा कतिपय भारतीय विद्वान् अवश्य ब्राह्मणों को सही अर्थ में समझ सके, किन्तु अपने वैदुष्यजन्य सहज विनयभाव के कारण पाश्चात्त्य विद्वानों की खुलकर वे आलोचना नहीं कर सके। दूसरा कारण यह भी रहा है कि उन्नीसवीं शती में पदार्थों एवं तत्त्वों की विश्लेषण गर्भित अध्ययन प्रक्रिया में ये भारतीय विद्वान् यह सोचकर हिचकिचाते ही रह गये कि ऐसा न हो उनके बारे में उक्त विश्लेषण गर्भित शोधप्रक्रिया के मार्गदर्शक पाश्चात्त्य समीक्षक क्या समझ बैठें! भारतीय विद्वानों की यह झिझक उचित नहीं थी। ज्ञान के क्षेत्र में कोई परतन्त्रता मान्य नहीं है। सत् ज्ञान सत् ज्ञान है, अधूरा या पल्लवग्राही ज्ञान अधूरा एवं पल्लवग्राही ही रहेगा। उसका प्रतिपादक विद्वान् चाहे पूर्व का हो अथवा पश्चिम का। अतएव वेदों का अध्ययन करने वाले प्रत्येक अनुसन्धाता को उक्त तथ्यों से परिचित होना चाहिये तथा वैदिक साहित्य का अर्थ करते समय उसे ऋषियों की प्राचीन संस्कृति की भावभूमि पर उतर कर ही अर्थ करना चाहिये। इस प्रकरण पर विशद अध्ययन के लिये ए०के० कुमार स्वामी[1] के ग्रन्थ का अनुशीलन उपयोगी होगा।

इसी प्रकार वेदों का अध्ययन करते समय उनके स्वरूप को कभी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिये। यह सम्भव हो सकता है कि ऋक् यजुष् आदि ऋचाओं में ऋक् अपेक्षाकृत प्राचीन हों, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इन सभी का वेदत्व है। उनमें से किसी एक को हम वेद मानें और अन्य को नहीं—यह ठीक नहीं होगा। ऋक्, यजुष्, साम एवं अथर्वण सभी वेद कहलाते हैं। वैदिक वाङ्मय की प्राचीन परम्परा में वेदव्यास का नाम एक युगप्रवर्तक आचार्य के रूप में आता है। 'वेदव्यास' शब्द का अर्थ ही है 'वेदों की व्याख्या करना' 'वेदों का निर्वचन'-अर्थात् उनकी समीक्षा करना। वेदव्यास ने वेदों की विश्लेषणात्मक समीक्षा कर उन्हें सुव्यवस्थित किया। उन्होंने भी मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों के युग्म को वेद की परिधि में माना। वास्तव में देखा जाय तो मन्त्र एवं ब्राह्मण में कोई विशिष्ट, तीक्ष्ण विभाजन-रेखा नहीं है। वे एक दूसरे

1. ए० के० कुमारस्वामी—अ न्यू एप्रोच टु द वेदज,' पृ० 101, नोट 105

में परस्पर संश्लिष्ट हैं, सम्पृक्त एवं परस्पर सम्बद्ध हैं। ब्राह्मणग्रन्थ इस सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। तैत्तिरीय संहिता एवं ब्राह्मणों के अध्ययन से विदित होता है कि मन्त्र एवं ब्राह्मणों में कोई वास्तविक भिन्नता नहीं है। इस विवेचन से यह बात निःसन्दिग्ध है कि सभी ब्राह्मण रचनाएँ वेद हैं। प्राचीन ऋषियों की परम्परा इसी धारणा की पुष्टि करती है।

ब्राह्मणों का महत्त्व :

ब्राह्मणों का वर्ण्य-विषय यज्ञानुष्ठानों एवं यज्ञ की विधियों से सम्बद्ध है कर्मकाण्ड एवं यज्ञ की प्रक्रिया बतलाने के साथ-साथ इनमें व्याख्याएँ भी मिलती हैं। इनका अपना विशिष्ट महत्त्व है। आधुनिक युग के कतिपय विद्वानों ने ही ब्राह्मणों का वास्तविक माहात्म्य समझा है। विन्टरनिट्ज़ आपाततः भले ही ब्राह्मणों के आलोचक रहे हों, किन्तु भारतीय विचारधारा के इतिहास में वह इनके महत्त्व को भलीभाँति समझते हैं। उनका अभिमत[1] है कि वैदिक धर्म के अनुयायी के लिये यज्ञ एवं पौरोहित्य के इतिहास पर ब्राह्मण ग्रन्थ उसी प्रकार आप्तप्रमाण हैं, जैसे पूजा-उपासना के क्षेत्र में यजुर्वेद की संहिताएँ हैं। प्रोफेसर ज़िमर[2] की यह धारणा रही है कि वेदों की ऋचाओं को समझने में ब्राह्मण ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता मिलती है। प्रो० डब्लू० डी० व्हिट्नी का कहना[3] है कि पौरोहित्य करने वाले सम्प्रदायों में ब्राह्मण ग्रन्थ ऐसी क्रमबद्ध गवेषणा के प्रमाण स्वरूप हैं जिनकी कसौटी पर पवित्र वैदिक ऋचायें संगृहीत होने के पूर्व आँकी-परखी गयी हैं।

ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत यागों क्रियानुष्ठानों की अत्यन्त मार्मिक, तथ्यात्मक एवं रहस्यों से पूर्ण विवेचना की गयी है। यज्ञों की सम्यक् सफलता हेतु इन ग्रन्थों की आवश्यकता अपरिहार्य है। यज्ञों के विविध प्रकारों तथा आनुष्ठानिक ऐतिह्य की ज्ञान राशि ब्राह्मण साहित्य की ही देन है जिससे यज्ञ-कर्म एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में आज उपलब्ध हैं। भाषागत वैशिष्ट्य की दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थ परवर्ती व्याकरण-शास्त्र के लिये प्रेरक एवं उत्तमर्ण रहे हैं। निरुक्तकार यास्क की निरुक्त पद्धति का शुभारम्भ ब्राह्मण-साहित्य में ही

---

1. विन्टरनिट्ज–'हिस्ट्री आव् इण्डियन लिट्रेचर 1, पृ० 187, 225
2. ए० के० कुमारस्वामी–जे० ए० ओ० एस० 66, 1946, पृ० 152
3. जे० ए० ओ० एस० 44-1854, पृ० 250

दिखाई देता है। यज्ञ विधि पर आधिकारिक ज्ञान प्राप्त करने वाले जिज्ञासु के लिये ब्राह्मणग्रन्थ अन्यतम महत्त्व के सिद्ध हुए हैं।

यद्यपि वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति के सच्चे स्वरूप को जानने के लिये ब्राह्मणों का ज्ञान आवश्यक है, किन्तु वास्तव में आज तक इनका विशद् एवं गंभीर अध्ययन नहीं हो सका है। इन ग्रन्थों में प्राचीन भारतीय जनजीवन के वहुमूल्य नैतिक आदर्शों की गरिमागाथा भरी पड़ी हैं। प्रोफेसर ड्यूमॉन्ट ने तैत्तिरीय ब्राह्मण का अनुवाद कर ब्राह्मणग्रन्थों के बारे में पर्याप्त जानकारी दी है। डा० एस० के० बेल्वल्कर तथा प्रोफेसर आर० डी० रानाडे ने ब्राह्मणों के वहुमूल्य योगदान पर गम्भीर अध्ययन किया है। कापालि शास्त्री का ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रति दृष्टिकोण अकारण ही अनुदार रहा है। वह कहते हैं कि ऋग्वेद का अर्थ करने में ब्राह्मण साहित्य ने कोई सहायता करने के बजाय वैदिक आदर्शों को विकृत किया है। वह वेदों का अर्थ समझने में पूर्वमीमांसा सूत्रों को भी प्रमाणभूत नहीं मानते। किन्तु कापालि शास्त्री का यह मत एकांगी है, अत: कदापि मान्य नहीं है। पूर्वमीमांसा सूत्रों की अपनी विशिष्ट उपयोगिता है। उनके विना ऋचाओं का अर्थ एवं तात्पर्य समझ में नहीं आ सकता। कभी कभी ऋचाओं के भिन्न अर्थ अथवा सन्देहग्रस्त अर्थ प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में सूत्रों से ही सही तात्पर्य का बोध होता है। इसके अतिरिक्त वेदों के प्रतीकों को समझने में भी ये सूत्र अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों से वैदिक प्रतीकों (symbols) को समझने में भारी सहायता मिलती है।

परम्परया ब्राह्मण साहित्य को तीन भागों में देखा जाता रहा है, शुद्ध ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। यह ध्यातव्य है कि यद्यपि आरण्यक एवं उपनिषद ब्राह्मण साहित्य में ही अर्न्तभूत हैं, किन्तु उनमें से कतिपय स्वतन्त्र रूप से जाने गये हैं। किन्तु ये चाहे ब्राह्मणसाहित्य में अन्तर्भूत माने जायँ या स्वतन्त्र यह वात नि:सन्दिग्ध प्रतीत होती है कि ब्राह्मण आरण्यकों एवं उपनिषदों में एक ही भावचेतना तथा एक ही विचारधारा अजस्र रूप से बहती दिखायी देती है। यद्यपि मन्त्र भाग एवं शुद्ध ब्राह्मण साहित्य को कर्मकाण्ड तथा आरण्यकों और उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड कहा गया है तथा यद्यपि जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में साधन के रूप में कर्म और ज्ञान में पारस्परिक विरोध देखा गया है, किन्तु इस वात में लेशमात्र सन्देह नहीं है कि चारों संहिताओं के मन्त्र, समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ, सभी आरण्यक एवं उपनिषद् वैदिक द्रष्टा ऋषियों की आध्यात्मिक

अनुभूति की एक ही चेतना उच्छ्वसित करते हैं। वे ऋषि अति सम्बुद्ध एवं अभूतपूर्व द्रष्टा थे, जो विलक्षण आन्तरिक अनुभूति का उद्घाटन करते थे। उनके वचन विवादों से परे, प्रमाणभूत, दिव्य एवं सर्वथा स्फुट रहे हैं। यह ध्यान देने की बात है कि वैदिक यज्ञ मृत्यु के बाद स्वर्गसुख पाने के लिये मात्र औपचारिक कर्मकाण्ड नहीं हैं। उनका मूलभूत उद्देश्य नैतिक चेतना को शाश्वत अमर चेतना की ऊँचाइयों तक उठाना था जिसके लिये स्वः [स्वर्ग] का नाम दिया गया, वह स्वर्ग जहाँ सारी पिपासाएं बुझ जाती हैं और चरमानन्द की प्राप्ति होती है। द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ दोनों ही मानव को उन ऊँचाइयों तक पहुँचाते हैं। इसलिये कर्म और ज्ञान में परस्पर विरोध के विषय पर बहस करना व्यर्थ का वितण्डा है, विशेषकर वैदिक साहित्य का अर्थ बोध करने में। यह बात इस तथ्य से समर्थित होती है कि संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् सभी एक दूसरे से सम्पृक्त हैं तथा एक दूसरे को एक भावसूत्र से पिरोये हुए हैं जिससे यही ध्वनित होता है कि उनके अर्थ एवं प्रयोजन में कहीं भी अन्तर एवं विरोध नहीं है। इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता की निम्नाङ्कित उक्ति महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है :—

''सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।'

यद्यपि मन्त्र साहित्य की पवित्रता अनूठी एवं उत्कृष्ट है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मन्त्रों को भलीभाँति समझने में ब्राह्मणों की उपयोगिता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्म अथवा मन्त्र की जिनमें कर्म एवं ज्ञान दोनों ही तत्त्वों का समावेश है, विशद् व्याख्या करना है। मन्त्रों को समझने में जहाँ जहाँ व्याख्या की आवश्यकता पड़ी उनकी व्याख्या करने तथा कर्मकाण्ड से सम्बद्ध प्रकरणों एवं ज्ञानविषयक विन्दुओं को स्पष्ट करने के लिये ब्राह्मण लिखे गये।

यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं की जा सकती कि सम्पूर्ण ब्राह्मण-साहित्य मन्त्र-साहित्य के बाद का है, क्योंकि तब यह बतलाना कठिन हो जाएगा कि आखिर मन्त्रों को कैसे समझा गया तथा उनके निर्माणकाल में उनका उपयोग कैसे किया गया विशेषकर उस स्थिति में जबकि मन्त्रों का उपयोग हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करने वाले प्राचीनतम् व्याख्यान हैं, किन्तु वे मन्त्रों की शब्दशः व्याख्या नहीं करते। ब्राह्मणों का उद्देश्य मन्त्र और यज्ञ में मन्त्र के विनियोग के बीच की कड़ी जोड़ना है तथा मन्त्र के प्रत्येक शब्द का अर्थ करना नहीं है। ब्राह्मण यज्ञ कर्मकाण्ड एवं अन्य धार्मिक कृत्यों की प्रक्रिया पर

प्रकाश डालते हैं तथा वे ज्ञान के विरूद्ध कोई बात नहीं करते। इसके विपरीत ब्राह्मण ग्रन्थ प्राय: यह उद्घोष करते हैं कि यज्ञ के प्रयोजन का ज्ञान उतना ही प्रभावशाली होता है जितना कि यज्ञ का अनुष्ठान कर्म।

ब्राह्मणों के प्रणेता :—

भारतीय परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती आयी है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेदान्तर्गत हैं, अत: इनका भी अपौरुषेयत्व भारतीय मनीषियों द्वारा मान्य रहा है। सायण आदि आचार्य वेदों की दिव्योत्पत्ति ही सिद्ध करते आये हैं। किन्तु फिर भी आधुनिक विचारकों ने वेदों के रचयिता के बारे में समय-समय पर प्रश्न उठाया है। प्राचीन परम्परा के समर्थकों की आस्था है कि वेद साक्षात् परब्रह्म से उद्भूत हुए हैं, ज्ञानचक्षु द्वारा ऋषियों के हृदय-पटल पर तो वे केवल आलोकित हुये थे। अतएव ये परम्परावादी आचार्य वेदों का प्रत्यक्षीकरण मानते हैं, उनकी रचना नहीं।

यास्क के निरुक्त में वेद के रचयिता के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। निरुक्त में इस आशय का तर्क अवश्य मिलता है कि वेद का कोई अर्थ नहीं है। पूर्वमीमांसा[1] सूत्रों में प्रथम बार वेदों के रचयिता होने के विरुद्ध तर्क मिलता है। इन सूत्रों के टीकाकारों एवं अन्य मीमांसा ग्रन्थकारों ने इस विषय पर विस्तार-पूर्वक विचार विमर्श किया है। इस विषय पर सायण ने 'ऋग्भाष्यभूमिका' में पर्याप्त शास्त्रार्थ किया है। ब्रह्मसूत्रों[2] एवं महाभाष्य[3] में भी इस प्रकरण पर विचार किया गया है।

पूर्वमीमांसा[4] सूत्रों में वेदों के अपौरुषेयत्व पर विचार करते समय यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि कतिपय लोगों के मतानुसार वेद अनादि नहीं है। इनकी उत्पत्ति निकटभूत में हुई होगी, क्योंकि इनमें मरणधर्मा मानवों के नाम अंकित मिलते हैं। इस तर्क को अनुचित एवं अमान्य बतलाया गया है। जिन पार्थिव व्यक्तियों के नाम से संहिताओं का सम्बन्ध बतलाया गया है, वे उन

1. पूर्वमीमांसा सूत्र– 1.1.27-32
2. ब्रह्म सूत्र, 1-3-26-33 (देवताधिकरणम्)।
3. महाभाष्य, 4-3-101
4. वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या: अनित्य दर्शनाच्च ……… कृते वा विनियोग: स्यात् कर्मण: सम्बन्धात्। पू० मी० सू० सायण की ऋग्भाष्यभूमिका भी दृष्टव्य है।

ऋषियों के नाम हैं जिन्होंने संहिताओं का उद्घोष किया था । वे उनके रचनाकार नहीं थे।

वैयाकरण पाणिनि ने कहा है कि वेदों की संहिताओं में प्रयुक्त नाम उन अध्येताओं एवं आचार्यों के समूह का द्योतन करता है जो वेदों के ज्ञानी थे तथा उनमें पारंगत थे (तद्वेद)। उदाहरणार्थ, तैत्तरीयों द्वारा अधीत संहिताएँ तैत्तिरीय संहिता, बाजसनेयियों द्वारा अधीत संहितायें बाजसनेयी संहिता कहलायीं। उसी प्रकार कठक अथवा तलवकार आदि नामों को भी समझना चाहिये। ये नाम उन ऋषियों के थे जिनके समक्ष दिव्य संहितायें प्रकट हुईं। यही कारण है कि आर्ष पद्धति का अनुसरण करते हुये शंकाराचार्य ने वेदों की संहिताओं को उद्धृत किया है। 'तैत्तिरीयों ने पढ़ा', 'आथर्वणिकों ने पढ़ा' आदि उनके वाक्य स्पष्ट प्रमाण हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ 'इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि' (पृ० 285 एवं 286) में इस प्रसंग पर चर्चा की है। कात्यायन ने पाणिनि सूत्र पर अपने वार्तिक (4.3.105) में कहा है, 'प्राचीन ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य आदि के बारे में समकालीनता के कारण अपवाद की स्थिति है। इन नामों के उल्लेख से उन्हें वेदों के रचनाकार के रूप में नहीं मानना चाहिए।

नामों के बारे में यह कहा गया है कि पार्थिव पुरुषों के नाम व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं हैं, अपितु सामान्य संज्ञा हैं, अतएव ये नाम किसी व्यक्ति विशेष को इंगित नहीं करते। ब्राह्मणों एवं आरण्यकों के अनुसार वशिष्ठ एवं इस प्रकार के अन्य नाम किसी पुरुष विशेष के नाम नहीं थे, बल्कि ये प्रतीकात्मक अथवा किसी के गुणसमुच्चय[1] का बोध कराते थे। महर्षि अरविन्द ने इस सम्बन्ध में अति सबल विचार-विमर्श किया है। उनका अभिमत है कि वेदों में प्रयुक्त महत्त्वपूर्ण मानव नाम मात्र व्यक्ति वाचक नाम नहीं है। इन नामों का सतही अर्थ नहीं लेना चाहिए। 'कन्या', 'कुष्ट', 'अत्रि', 'गौतम', 'शुनःशेप' आदि व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं अपितु वे आध्यात्मिक विजय के द्योतक हैं जो मानवता के अनुभव में युग-युग में बारम्बार आते रहते हैं[2]।

मीमांसकों की धारणा है कि जैसे 'रामायण' अथवा 'महाभारत' के रचयिता का कोई एक लेखक नहीं है, उसी भाँति वेदों के रचयिता का नाम भी काल के

1. श्री शंकराचार्यः 'ब्रह्मसूत्रभाष्य'–3-2-13; 3-3-24, 25, आदि।
2. विस्तृत अध्ययन के लिए दृष्टव्य एम० पी० पण्डित का ग्रन्थ 'मिस्टिक अप्रोच टु वेद एण्ड उपनिषद्,' पृ० 96

गर्त में विस्मृत हो गया होगा। इसके विरोध में यह आपत्ति उठायी गयी कि मात्र इस आधार पर कि वेदों के रचयिता का नाम चूँकि विस्मृति के गर्भ में लुप्त हो गया है, अतएव यह मान लिया जाना कि उनका कोई रचयिता नहीं है, उचित नहीं है। कोई भी रचना विना रचनाकार के संभव नहीं है। काल की लम्बी अवधि में रचनाकार का नाम प्रायः खोता जाता है। आपाततः यह तर्क भले ही मनोग्राह्य प्रतीत हो, किन्तु गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर यह विदित होगा कि यह मत युक्तिसंगत नहीं है। वैदिक संहिताएँ एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी को श्रुति के माध्यम से मिलती रही हैं। गुरू से शिष्य को प्राप्त होने वाली परम्परा के सहारे ये श्रुतियाँ अक्षुण्ण रूप से जीवित चलती रही हैं तथा उनमें वर्ण, अक्षर, पद, स्वर, उच्चारण सभी ज्यों के त्यों सुरक्षित बने रहे। ऐसी स्थिति में यह कैसे मान लिया जाय कि केवल रचनाकार का नाम ही विस्मृत हो गया। अतएव रचनाकार के नाम की विस्मृति सम्बन्धी धारणा मान्य नहीं है। ग्रन्थ प्रणेता का अपना महत्त्व होता है। उसका समादर भावी पीढ़ियाँ कृतज्ञता-पूर्वक किया करती हैं। अतएव उन ऋषियों पर विस्मृति का आरोप लगाना कदापि उचित नहीं है[1]।

ब्राह्मणों का सूक्ष्म अध्ययन करने से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ऋषि कवि कहलाता है। कवि की मुख्य प्रकृति श्रवण[2] क्रिया होती है। इस संबंध में शतपथ ब्राह्मण ने एक मनोवैज्ञानिक बिन्दु प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार देवताओं ने वेदों की त्रयी को मनः समुद्र से निकाला[3] है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्फुट रूप से प्रकट होने के पूर्व वेद मनःसमुद्र में स्थित थे। कवियों अथवा ऋषियों ने उस मनः समुद्र से इन्हें निकालकर भौतिक रूप से प्रत्यक्ष रख दिया। मन की अर्द्ध चेतनावस्था में पड़े इन वेदों की चेतनावस्था में खींच लाने का कार्य ऋषियों ने किया। इससे स्पष्ट है कि ऋषियों ने वेदों का न तो अविष्कार किया और न ही उनकी रचना की, बल्कि उन्हें मात्र उद्घाटित किया। 'दर्शन' [देखना] विशेषकर शाम के बारे में प्रयुक्त हुआ है[4]। इस दर्शन [देखने] का कोई विरोध 'मन्त्र' से नहीं है।

---

1. कुमारिलभट्ट—'श्लोकवार्तिक' खण्डदेव, भट्टदीपिका।
2. त 'आवहन्तिकवयः पुरस्तादित्याह शुश्रुवांसो वै कवयः। तै० ब्रा० 32-2-9
3. मनो वै समुद्रः............।' श० ब्रा० 7-4-2-52
4. कर्णश्रवा अङ्गिरसः सामापश्यत् –पं० ब्रा० 13-11-15 साम आर्षेयेण प्रशस्तिम्' पं० ब्रा० 12-11 14'–दृष्टं साम'–पाणिनि–4-2-7

इसी सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि शब्द 'मन्त्रकृत्' का भी अर्थ मन्त्र-कर्ता न होकर मन्त्र को प्रत्यक्ष [प्रकट] करने वाला है। मन्त्र अर्थात् वाक् का अन्वेषण मन्त्रकृत् ऋषियों ने तप के माध्यम से ही किया—

'यां ऋषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः।
अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ।
ताँ देवीं वाचं हविषा यजामहे।
सा नो दधातु प्रकृतस्य लोके।'[1]

इससे यही ध्वनित होता है कि ऋषियों के नाम चित्त की वृत्ति को इंगित करते हैं, मानव को नहीं। इसीलिये शतपथब्राह्मण में ऋषि वसिष्ठ को प्राण [वायु], ऋषि भरद्वाज को मन, ऋषि जमदग्नि को चक्षु, ऋषि विश्वामित्र को कर्ण [श्रोत्र] एवं ऋषि विश्वकर्मा को वाक् कहा गया है[2]। प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः मनो वै भरद्वाज ऋषिः। चक्षुर्वै जमदग्निः। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। वाग्वै विश्वकमर्षिः। नामों के इन प्रतीकों को पञ्चब्राह्मण प्रकारान्तर से वतलाता है, जो सुन सकने में समर्थ हैं वे वसिष्ठ हैं 'यो वैब्राह्मणा शुश्रुवांसः ते वसिष्ठाः[3]। 'सप्तर्षि······है[4]'' ऊर्ध्वः सप्तऋषीन् उपतिष्ठस्व···ऐतरेय ब्राह्मण में 'ॐ दिव्य है' 'ऐसा ही मानवीय हो' आदि प्रयोग न तो गाथाओं के लेखक और न ऋचाओं के स्व प्रकाशत्व के परिचायक हैं। विशद अध्ययन हेतु यू० एन० घोषाल का ग्रन्थ 'गाथाज़ एण्ड नाराशंसीज़, इतिहास एण्ड पुराणाज़ आव् द वैदिक लिट्रेचर, द्रष्टव्य है।[5]

वेद उन ऋषियों के समक्ष प्रकट हो जाता है जो इस निमित्त तप ठान ले। महाभारत के शान्ति पर्व में एक प्रकरण आया है कि एक बार ऋषियों को विश्व सृष्टि प्रक्रिया पर जब सन्देह हो गया था तो वे तप करने के लिये बैठ गये। तप की अवधि में उन्हें सच्ची बात सुनायी पड़ी[6]—

---

1. तै० ब्रा० 2-2-8-63
2. श० ब्रा० 8-1,1,6-9.; 8-1-2; 3; 6-9
3. प० ब्राह्मण 20-15-3; जै० ब्रा० 2-241
4. पं० ब्रा० 1-5-5 कृपया सायण का भाष्य भी देखें।
5. आई० एच० क्यू० 18, 1942, पृ० 98
6. महाभारत-शान्तिपर्व, मोक्ष 176, 6-8;

'लोकसम्भवसन्देहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ।
तेऽतिष्ठत् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थ्याय निश्चलाः ।
त्यक्ताहारा……तेषां धर्ममयी वाणीसर्वेषां श्रोत्रमागमत् ।
दिव्या सरस्वती तत्र सम्बभूव नभस्तलात् ।

महाभारत में कई स्थलों पर यह कहा गया है कि गुरु जब अपने शिष्य के चरित्र एवं स्वभाव से पूर्णतया सन्तुष्ट व प्रसन्न हो जाते थे तो वे शिष्यों को यह आशीर्वाद देते थे कि वे वेदों के पूर्ण ज्ञाता एवं पटु[1] हो जायँ । यह वरदान पाकर शिष्य भी अनायास ही सर्व विद्यापारंगत हो जाता था । इससे यह प्रतीत होता है कि वैदुष्य प्राप्त करने के लिये 'ज्ञानार्जनक्रिया' अनिवार्य नहीं थी । गुरु की कृपा से समस्त ज्ञान--सभी वेद शिष्य के मानस पटल पर प्रकट हो जाते थे । यह विषय अनुभूति का विषय है, तर्क का नहीं । जो तप से अनुभूति में डूबेगा वही इसको सत्यता जान सकता है । इस पृष्ठभूमि में यह कहा जा सकता है कि 'वेदों के प्रकट' होने का अर्थ मानव मस्तिष्क द्वारा बिना रचना किये हुए प्रत्यक्ष होना था । इस प्रकार वैदिक साहित्य मानव-बुद्धिजन्य न होकर दिव्य-दृष्टि से स्वतः प्रस्फुटित हुआ माना गया[2] । वैदिक मन्त्रों के दिव्य दृष्टि से प्रस्फुटित माने जाने का अर्थ यह हुआ कि वे मानव कल्पना की प्रसूति नहीं थे । यह बात तर्क से परे अवश्य है । वास्तव में जैसा ऊपर कहा गया है यह दिव्य अनुभूति का विषय है । जन्मजन्मान्तर की साधना एवं सत्गुरु के आशीर्वाद अथवा उसकी अहैतुकी कृपा के फलस्वरूप ही इन दिव्य कृतियों का अवतरण ऋषियों के मानस-पटल पर हुआ । भारत के वैज्ञानिकों की भी यही धारणा रही है कि जब भी उन्हें किसी वैज्ञानिक तत्त्व की जानकारी मिली है तो उन्होंने उसका स्रोत अथवा आधार दिव्य दृष्टि अथवा दिव्य बुद्धि ही माना है । इन वैज्ञानिकों ने स्वयं को उस तत्त्व का मात्र द्रष्टा ही माना है, रचयिता नहीं । इस धारणा के मूल में यह आस्था थी कि उनकी अनुभूति सदा दिव्य थी, वह मानव मस्तिष्क में मात्र अवतीर्ण होकर प्रत्यक्ष हुई ।

आवेस्ता की गाथाओं में शब्द देखना 'प्रस्फुटन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

---

1. 'सर्वे च ते वेदा प्रतिभास्यन्ति इति,' महाभारत आदि पर्व, 3-77
2. 'नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्य अभिव्यक्तिः पुरुषनिःश्वासवत् न पुरुषबुद्धिप्रयत्न-पूर्वकः'-बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्यम्, 24-10

यह साम्य वैदिक साहित्य में ज्यों का त्यों मिलता है। वेदों में भी ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा ही कहा गया है। 'ऋषि' शब्द का अर्थ ही 'देखनेवाला' है।

वेदों की अपौरुषेय उत्पत्ति के साथ-साथ वेदों की नित्यता (निरन्तरता, अमरता) सम्बद्ध है। वेद चाहे पौरुषेय माने जायँ या देवजन्य, इसमें दो राय नहीं है कि वेद नित्य हैं, अमर हैं। उनमें अक्षुण्णता के बीज निहित हैं। मन्त्रों के यथार्थ स्वरूप एवं भाव को हम तब तक समझ नहीं सकते जब तक हम उनके नित्यत्व को मान न लें। उदाहरणार्थ, वेद में नमुचि की गाथा को हम तभी तत्त्वतः समझ सकेंगे जब वेद के नित्यत्व को हम स्वीकार कर लेंगे।

ब्राह्मणों का रचनाकाल :--

विद्वानों एवं पुराविदों में वेदों के प्रणयनकाल में मतैक्य नहीं है। 1200 वर्ष ईसा पूर्व से लेकर 25000 वर्ष ईसा पूर्व के मध्य विद्वानों के परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये गये हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् प्रो० मैक्समूलर[1] ने वेदों के रचनाकाल पर विचार करते समय चार अवधि में कालविभाजन किया है [1] छन्दस् काल [2] मन्त्र काल [3] ब्राह्मण काल तथा [4] सूत्र काल 1 प्रो० मैक्समूलर यह मानकर चलते हैं कि पाचवीं शती ईसा पूर्व में होने वाले भगवान् गौतम बुद्ध के ठीक पूर्व का काल सूत्रकाल था। उनकी अवधारणा है कि उपर्युक्त चारों काल में प्रत्येक की अवधि लगभग 200 वर्ष थी। इस गणना से सूत्रकाल छठीं शती ईसा पूर्व, ब्राह्मण काल आठवीं शती ईसा पूर्व, मन्त्र काल दशवीं शती ईसा पूर्व, एवं छन्दस् काल बारहवीं शती ईसा पूर्व था। इस दृष्टिकोण से वैदिक मन्त्रों का प्रणयनकाल ईसा पूर्व 1200 था। प्रो० ए० ए० मैक्डानल[2] ने सम्पूर्ण रचना-काल को दो भागों में विभक्त किया है, [1] चारों वेदों का रचना काल तथा [2] प्राचीन आरण्यकों एवं उपनिषदों सहित ब्राह्मणों का काल। ब्राह्मणों का काल उन्होंने ईसा पूर्व 800 वर्ष एवं ईसा पूर्व 500 वर्ष के बीच का काल माना है। श्री ए० सी० दास ने भूगर्भशास्त्रीय आधार पर वेदों को 25000 वर्ष ईसा पूर्व की कृतियाँ बतलाया है। श्री बी० बी० कामेश्वर ऐय्यर ने अपने निबन्ध 'एज आव् द ब्राह्मणज़' में ब्राह्मणों का रचनाकाल लगभग ईसा पूर्व वर्ष 2300 एवं

1. मैक्समूलर–हिस्ट्री आव् एन्शियन्ट संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 497
2. मैक्डानल–हिस्ट्री आव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 29

ईसा पूर्व वर्ष 2000 के मध्य रखा है ।[1] श्री प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त[2] ने ब्राह्मणों का प्रणयन काल ईसा पूर्व वर्ष 3102 एवं ईसा पूर्व वर्ष 2000 रखा है । श्री बालगंगाधर तिलक एवं प्रो० एच० याकोबी ने नक्षत्र विज्ञान पर आधृत वैदिक ऋचाओं के आधार पर वेदों का रचनाकाल ईसा पूर्व वर्ष 4500 ठहराया है। वेदों तथा आवेस्ता में प्रयुक्त भाषा में साम्य के आधार पर डा० विन्टरनिट्ज़[3] ने मध्यम मार्ग अपनाते हुए ईसा पूर्व वर्ष 2500-2000 की अन्तर्वर्ती अवधि को वैदिक साहित्य की रचना का समय माना है ।

इस संक्षिप्त विवेचन से ज्ञात होगा कि वेदों के रचनाकाल पर कोई भी निश्चित मत मान्यता नहीं पा सका । इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि विभिन्न मतों का आधार ही पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं था, साथ ही वह आधार वास्तविक भी नहीं था । रचनाकाल निर्धारण के समस्त प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि संहिताओं का पूर्वाग्रह रहित अध्ययन कर उनका यथार्थ स्वरूप न समझ लिया जाय । दुर्भाग्य की बात यह है कि वेदों का यथार्थ ज्ञान आज तक पूर्णरूपेण नहीं प्राप्त किया जा सका है । वेदों के तात्त्विक एवं प्रयोगात्मक स्वरूप को उनकी पूर्णता में हमें समझना होगा ।

पाश्चात्त्यों एवं अन्य विद्वानों के उपर्युक्त अभिमतों से यह बात स्पष्ट होती है कि उन्होंने वेदों के निर्माण में कालक्रम में पूर्वापरता को स्वीकार किया है । यह धारणा सही धारणा नहीं कही जा सकती । वास्तव में वैदिक साहित्य के विभिन्न अंगोपाँगों में परस्पर भाषा-शैलीजन्य ही विशिष्टताएँ रही हैं, उनमें कालक्रम की पूर्वापरता नहीं रही है । उदाहरणार्थ, मन्त्र एवं ब्राह्मणों में भाषा एवं वर्णन शैली के आधार पर पार्थक्य अवश्य पाया जा सकता है, किन्तु उन्हें एक को दूसरे से पुराना या नया कहना तथ्यसंगत नहीं होगा । इनमें परस्पर

1. वी०वी० कामेश्वर ऐय्यर–'एज आव् द ब्राह्मणज़' ए०आई०ओ०सी० 1 वाल्यूम I, पुनर्मुद्रित क्यू०जे०एम०एस० 12, 1922, पृ० 171.
2. प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त–'एज आव् द ब्राह्मणज;' आई०एच०क्यू 10, 1934, पृ० 540
3. "We shall probably have to date the beginning of this development about 2000 or 2500 BC. and the end of it between 750 and 500 BC. The more prudent course, however, is to steer clear of any fixed dates and to guard against the extremes of a stupendously ancient period or ludicrously modern epoch." एम० विन्टरनिट्ज़ एच० आई० एल० I पृ० 310.

पूर्वापरता ढूँढ़ने के लिये जो आधार या मानक बनाये गये वे वस्तुतः भाषागत वैशिष्ट्य ही द्योतित करते हैं, पूर्वापरता सिद्ध नहीं करते। इस विषय पर एम० ब्लूमफील्ड[1] ने विस्तृत विचार किया है। अतः मन्त्र एवं ब्राह्मण में नये-पुराने का वर्गीकरण करना अनुचित होगा। वास्तव में वे ऐसे दो विशिष्ट प्रकार के साहित्य एवं वाणीविलास को प्रस्तुत करते हैं जिनकी रचना में समकालिकता थी। हाँ, मन्त्र भाग आदेशात्मक प्रकृति की प्राचीनतर कृतियाँ हैं, किन्तु मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों एक ही वैदिक विचारधारा की प्रसूति हैं। दोनों ही रूप साथ-साथ उद्भूत हुए।

इसी सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि मन्त्र जिनमें अर्चना-पूजा प्रधान विषय रहे हैं, यज्ञ कर्म के प्रयोग बताने वाले ब्राह्मण भागों से अपनी विशिष्टता एवं पृथक्ता अवश्य लिये हुये हैं। यह पृथक्ता रूपशिल्प एवं शैलीगत हैं, इनके परस्पर पूर्ववर्ती अथवा पश्चवर्ती होने के कारण नहीं। प्रो० कीथ ने भी वैदिक साहित्य की रचनाओं में परस्पर समकालिकता स्वीकार की है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार सूत्र-साहित्य भी बहुत बाद की रचनाएँ नहीं है। यह सही है कि संहिताओं एवं ब्राह्मणों की अपेक्षा सूत्र नयी रचनाएँ हैं, किन्तु उनके वर्ण्य विषय उतने ही प्राचीन हैं जितने संहिताओं एवं ब्राह्मणों के वर्ण्य विषय हैं, क्योंकि किसी भी संहिता का अस्तित्व बिना तत्सम्बद्ध यागक्रिया के संभव ही नहीं है। स्पष्ट है कि मन्त्र संहिता तथा ब्राह्मणों में विषयगत भिन्नता व वैशिष्टय तो है ही, क्योंकि ब्राह्मण साहित्य व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक निर्देश प्रदान करते हैं, किन्तु दोनों साहित्य युगपत् स्थित भी थे।

प्राचीन वैदिक परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होगा कि वेदों के रचनाकाल विषय को लेकर कोई भी समस्या नहीं रही है। वेदों के वास्तविक स्वरूप एवं माहात्म्य को समझने के लिये प्राचीन परम्परा को मानना अनिवार्य है। वेदों के अर्थग्रहण में विभिन्न वैदिक साहित्य की पूर्वापरता में उलझना बाधक ही सिद्ध हुआ है।

ब्राह्मणों की व्याख्याएँ :—

वैदिक साहित्य के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि

---

1. एम० ब्लूमफील्ड, 'आन् द फ्राग हिम' जे०ए०ओ०एस० 17, 1896, पृ० 175.
   एम० ब्लूमफील्ड, 'कन्ट्रिब्यूशन्स टु द इन्टरप्रिटेशन आव् द वेद III, जे०ए०ओ०एस० 15, 1883 पृ० 114.

आठवीं शती ईसवी में वेदों पर गम्भीर मनन-चिन्तन हुआ था। संहिताओं एवं मन्त्रों आदि को समझने के लिये गम्भीर रूप से विचार किया गया। वेदों में प्रयुक्त समानार्थक एवं कठिन शब्दों की सूचियाँ तैयार की गयीं। इन सूचियों को 'निघण्टु' की संज्ञा दी गयी। आज हमारे समक्ष एक मात्र निघण्टु उपलब्ध है यास्क का निरुक्त, जो अपने ढंग का एक मात्र प्राचीन ग्रन्थ है, निघण्टु की टीका है। 'निरुक्त' में वैदिक संहिताओं, मन्त्रों एवं सूत्रों आदि में प्रस्तुत सुझावों के आधार पर प्रत्येक शब्द का अर्थ निर्धारित किया गया है। यास्क की अनेक व्याख्याएँ ब्राह्मणों पर आधृत हैं। धीरे-धीरे क्रमशः अनेक व्याख्याकारों ने संहिताओं की टीका की जिनमें अपनी-अपनी शैली में उन्होंने शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया। इन टीकाकारों ने प्रयुक्त शब्दों का अर्थ तो बताया, किन्तु उन शब्दों के बहुआयामी प्रभावों एवं वैशिष्ट्य पर प्रकाश नहीं डाला।

उन्नीसवीं शती ईसापूर्व में पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के अध्ययन-चिन्तन में बहुमूल्य योगदान किया। संहिताओं एवं मन्त्रों को सम्पादित एवं अनूदित किया गया। उनकी टीकाएँ की गयीं तथा महत्त्वपूर्ण विषयों पर गवेषणात्मक निबन्ध लिखे गये। वेदों की व्याख्या करने में इन पाश्चात्यों की दृष्टि सामान्यतया भाषा वैज्ञानिक की ही रही। व्याख्या करने में भारतीय वैदिक परम्परा की मान्यताओं को निरर्थक बताया गया। यह दृष्टिकोण कदापि उचित नहीं है। इन पाश्चात्य विद्वानों ने यह परिकल्पना की है कि वैदिक ऋषियों की परवर्ती पीढ़ियों ने बाद की संहिताओं को छोड़कर प्राचीन संहिताओं का गलत एवं निर्मूल अर्थ लगाया। ऐसा करके इन परवर्ती आचार्यों ने वेदों एवं ऋषि परम्परा का कृत्रिम विभाजन कर दिया। यह विभाजन न केवल कालपरक था, प्रत्युत बौद्धिक स्तर पर दृष्टिकोणजन्य था। किन्तु यह सामान्य ज्ञान की बात है कि वे आचार्य जो वेदों के प्रणेता द्रष्टा ऋषियों के अधिक समीप (काल एवं यज्ञ-परम्परा की दृष्टि से) थे, वैदिक कविता के मार्मिक सत्य को समझने की अधिक क्षमता रखते थे। वास्तव में वे ही वेदों के रहस्य के ज्ञाता थे। अतएव पाश्चात्यों की परिकल्पना बड़ी भ्रामक सिद्ध हुई है। इस प्रकरण पर महर्षि अरविन्द ने सूक्ष्म विवेचन किया[2] है।

---

1. विधुशेखर शास्त्री–'वैदिक इन्टरप्रिटेशन एण्ड ट्रेडिशन,' वैदिक संभाग का अध्यक्षीय भाषण, ए० आई०ओ०सी० 5, पृ० 491.
2. श्री अरविन्द–'फाउन्डेशन आव् इण्डियन कल्चर,' पृ० 295-296.

वेदों के मर्म एवं रहस्य को समझने में आधुनिक विद्वानों ने जिस तुलनात्मक धर्मशास्त्र एवं भाषाविज्ञान की सहायता ली है वह ठीक नहीं है, क्योंकि यह पद्धति वेदों को सम्यक् रूप से समझने के बजाय हमें उनके वास्तविक अर्थ से दूर कर देती है। तथाकथित तुलनात्मक धर्मशास्त्रीय एवं तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से वेदों की व्याख्या करने में इन आधुनिक विद्वानों ने वैदिक साहित्य को अनेक कृत्रिम भागों में बाँट दिया तथा उनकी ऐसी समीक्षा की कि एक भाग को दूसरे से असम्पृक्त एवं अलग-थलग कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वे वेदों के प्रतिपाद्य अर्थ से दूर चले गये। इस त्रुटि को ब्लूमफील्ड[1] ने अपनी पैनी दृष्टि से पकड़ा था। उनका कथन है, 'For purposes of interpretation, the entire body of vedic writings are a unit : One of the main faults in the past has been the failure to investigate courageously and thoroughly the materials outside the mantras, to throw aside the abundant chaff and to derive from what is left the very considerable help which yield often in the most unexpected manner. Conversely, they expand, adapt and symbolise, Unusually founded upon the conceptions expressed in the mantra form, and thier explanation thus depends in a large measure upon the mantras.'

कतिपय विद्वानों ने वेदों की व्याख्या नक्षत्र-शास्त्रीय आधार पर किया है। उनका विचार है कि वेदों में नक्षत्रशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन है। कुछ विद्वान् जीवविज्ञान को व्याख्या का आधार मानते हैं। इन सभी मत-मतान्तरों से वेदों का वास्तविक अर्थबोध नहीं होता। वेद का जिज्ञासु अतृप्त ही रहता है। वह सोचता रहता है कि वेदों में कुछ और ही अनिर्वचनीय छिपा है जिसका उद्घाटन होना अभी शेष है।

वेदों की समीक्षा करने में कुछ विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिस्थापना की है। उनके मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि 'पौराणिक गाथा' एवं 'रहस्य' मानसिक किन्तु अचेतनावस्था से उत्पन्न एक अनायास अभिव्यक्ति है। यह पद्धति अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होती है, किन्तु इसका अनुसरण अति कठिन है, क्योंकि इसके लिये विशिष्ट दृष्टिविशेष की आवश्यकता होगी। प्रत्येक

---

1. एम० ब्लूमफील्ड: कन्ट्रीब्यूशन्स टु द इन्टरप्रिटेशन आव् द वेद III जे०ए०ओ०एस० 15, 1893, पृ० 153.

पौराणिक गाथा का एक सन्तोषजनक अर्थ निकलता है। इस अर्थ का विज्ञान की शब्दावली में रूपान्तरण करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इसे केवल मनोवैज्ञानिक भाषा के द्वारा ही समझाया जा सकता है। इसे समझने के लिये विशेष श्रवणेन्द्रिय की उसी प्रकार अपेक्षा होती है जैसे संगीत अथवा काव्य समझने के लिये होती है। यहाँ 'श्रवण' का अर्थ मन के अन्तराल से फूटकर बह निकलने वाली ध्वनि है।

वेदों की व्याख्या करने में एक अन्य पद्धति है जिसे 'रहस्यमयी' (mystic) पद्धति कहा जाता है। प्राचीन आचार्यों ने इस रहस्यमयी पद्धति पर पर्याप्त चिन्तन-मनन किया था। 'मनुस्मृति' में मनु ने कहा[1] है कि वेदों का अध्यापन करते समय 'कल्प' [विनियोग] तथा 'रहस्य' (गोपनीय तत्त्व) को भी पढ़ाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मन्त्रों को समझने में केवल शाब्दिक अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं अपितु उसका तात्त्विक भाव भी जानना अनिवार्य एवं अभीष्ट था। वेद के अभिधेयार्थ को समझाने के उपरान्त आचार्य गुरु अपने शिष्य के कान में रहस्य का ज्ञान बतलाया करता था। इस ज्ञान की रहस्यात्मक प्रकृति ही कुछ ऐसी हुआ करती थी कि इसे मौखिक रूप से पात्र एवं समर्थ शिष्य को ही प्रदान किया जाता था। ये रहस्यतत्त्व भूलकर भी लिपिबद्ध नहीं किये गये। इसीलिए इन्हें श्रुति की परम्परा भी लुप्त होने से बचा नहीं सकी।

आनन्दतीर्थ ने वेदों की समीक्षा करने के प्रसङ्ग में यह कहा है कि प्रत्येक वैदिक शब्द के तीन अर्थ हुआ करते हैं—'त्रयोऽर्थाः सर्ववेदेषु।' यह कथन अति महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि वेद का वाच्यार्थ ही अभीष्ट नहीं है, अपितु उसके आगे भी कोई वास्तविक अर्थ अन्तर्भूत है, जिसे समझे बिना वेद का सम्यक् ज्ञान सम्भव नहीं है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बारम्बार कहा है कि वेद के वाच्यार्थ मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। इसी मत की पुष्टि महर्षि अरविन्द ने भी की है। उनका कथन है कि वेद के शब्द गम्भीर अर्थ से गर्भित हैं। उनका अपना अनुभव है कि वेद की व्याख्या भाषावैज्ञानिक अथवा यज्ञ-कर्मकाण्ड से सम्बद्ध लक्ष्य तक ही सीमित नहीं मानना चाहिए। सायण द्वारा मान्य यज्ञ कर्मकाण्ड पद्धति तथा पाश्चात्यों द्वारा बहुचर्चित वेदों में प्रकृतिवादिता का आज सामान्यतया सभी वेदज्ञाता अनुमोदन करते हैं। किन्तु इसके

1. मनुस्मृति–2.140 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदं अध्यापयेत् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥'

भी नेपथ्य में वेदों का गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। वैदिक शब्दों का जब तक प्रतीकार्थ (symbolical meaning) समझ न लिया जाय तब तक उनका वास्तविक ज्ञान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वैदिक साहित्य में वर्णित देवताओं के मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों को जब तक समझ न लिया जाय तब तक वेद के मन्तव्य को समझना कठिन है। महर्षि अरविन्द ने वेदों के गूढ़ एवं रहस्यमय अर्थ को समझ लेने पर बहुत बल दिया है। वह एक योगी थे, अतः योगज प्रत्यक्ष से उनकी आस्तिक अनुभूति वेद के रहस्यों में पैठ सकी थी। उस रहस्य को समझने के लिये तपः प्रधान जीवनचर्या नितान्त अपेक्षित है। वेद के पाठ से मात्र शाब्दिक अर्थ ही समझ में आ सकता है। महर्षि अरविन्द[1] ने इसी भावभूमि में पहुँचकर कहा है—

'Like the majority of educated Indians, I had passively accepted without examination before myself reading the Veda, the conclusions of European scholarship both as to the religious and as to the historical and ethical sense of the ancient hymns.'

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[2] ने वेदों की प्रतीकात्मक व्याख्या के मूल्य एवं महत्त्व पर पर्याप्त बल दिया है। उनका विश्वास है कि यदि प्रतीकात्मक शैली से वेदों की व्याख्या करने में आंशिक सफलता भी मिले तो भी वह प्रयास बड़ा फलप्रद होगा। वेदों को समझने में प्रतीकों की उपयोगिता का समर्थन डा० कुन्हन राजा ने भी किया है। एक वैदिक कविता पर उनकी उक्ति[3] है,—
'The poem is full of philosophy; since we do not know the symbols we are not able to understand many of the ideas' which the author could have had in his mind.
स्पष्ट है कि वेदों को समझने में प्रतीकात्मक दृष्टि की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

शबरस्वामी की व्याख्याओं को देखने से प्रतीत होता है कि पूर्वमीमांसा प्रतीकात्मक व्याख्या शैली के विरुद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ, शबरस्वामी[4] ने तैत्तिरीयसंहिता 2.1.1.4. में तीन प्रकार से 'प्रजापति', 'वपा' 'अग्नि' एवं

---

1. श्री अरविन्द–'आन द वेद', पृ0 42.
2. बी०एस० अग्रवाल–'वैदिक सिम्बालिज्म' जे0आई0एच0 41, 1963, पृ0 523.
3. सी0 कुन्हनराजा–'पोयट फिलासफर्स आव् द ऋग्वेद प0 VII
4. तथा यः प्रजाकामा..............इति गौणाः शब्दाः।' पूर्वमीमांसा सूत्रों पर शबरस्वामी का भाष्य–1.2.10.

'अज' शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है। इनके प्रथम अर्थ क्रमशः वायु, वर्षा, विद्युत् एवं अन्न; द्वितीय अर्थ क्रमशः आकाश, वायु, जठराग्नि, एवं बीज तथा तृतीय अर्थ क्रमशः सूर्य, रश्मि, अग्नि एवं पौधा हैं। इन प्रतीकात्मक अर्थों से स्पष्ट है कि पूर्वमीमांसा को प्रतीकार्थ की शैली स्वीकार्य थी।

ब्राह्मणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वेदों में उनके अर्थ की जानकारी हेतु पर्याप्त निर्देशक इंगित उपलब्ध हैं। शतपथब्राह्मण में वेदों की व्याख्या करने की तीन पद्धतियाँ बतायी गयी हैं :—
[1] अधिदैवत [2] अधियज्ञ एवं [3] अध्यात्म। अधिदैवत के अनुसार संहिताओं का अर्थ देवताओं के सन्दर्भ में किया जाना चाहिये। द्वितीय के अनुसार यज्ञकर्मकाण्ड को दृष्टि में रखते हुए अर्थ करना चाहिए तथा तृतीय के अनुसार इनका अर्थ जीवात्मा [मानवजीवन] के सन्दर्भ में करना चाहिए। ध्यान से देखा जाय तो इसमें प्रकृति के मूलभूत उपादानों अर्थात् विश्व प्रकृति एवं परमात्मा के विश्वरूप जिसमें मानव में लिपटा जीव व्याप्त है, का विवेचन अभीष्ट है। इस पद्धति अथवा दृष्टिकोण से वेद का अध्ययन करने का तात्पर्य है मानव जीवन का विराट् ब्रह्माण्ड की पृष्ठभूमि में अध्ययन करना। यास्क ने इसी दृष्टि से वेदों की व्याख्या की है।

उपरिवर्णित विवेचन से इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वेदों के अध्ययन-चिन्तन की दृष्टि एवं पद्धति में मूलभूत परिवर्तन अपेक्षित है। वेदों के अध्येता को चाहिए कि वह ऋषियों की परम्परागत मान्यताओं तथा आधुनिक विद्वानों की विश्लेषणात्मिका दृष्टि से प्राप्त तथ्यों में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते हुए वेदों की व्याख्या करे। प्राचीन वैदिक परम्परा से प्राप्त धरोहर की प्रशंसा करना मात्र उचित नहीं होगा। इसी प्रकार भारत की प्रकृति की गोद में पली सभ्यता एवं संस्कृति के कर्म एवं ज्ञानपरक परम्परागत मूल्यों से हटकर योरोपीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित मात्र भाषा वैज्ञानिक अथवा पौराणिक, धार्मिक अवयवों का पल्लवग्राही आकलन करना भी वेदों के साथ अन्याय करना होगा। इस प्रकार की समन्वयात्मक दृष्टि पाने के लिये वैदिक साहित्य तथा वैदिक मान्यताओं एवं आदर्शों में पूर्ण आस्था होनी आवश्यक है। ऐसी आस्तिक एवं आस्थापूर्ण दृष्टि तभी संभव होगी जब आधुनिक भौतिकवादी धारणाओं एवं पूर्वाग्रहों से दूर रहा जाय। संहिताओं में अंकित निदेशों को ध्यान में रखते हुए यदि वेदों का आकलन एवं विमर्श किया जाय तो उनका वास्तविक ज्ञान

पाना संभव हो सकेगा । उपर्युक्त जितने भी दृष्टिकोण बताए गये हैं, केवल उनसे ही वेदों का सम्यक् ज्ञान संभव नहीं होगा । अन्ततोगत्वा वेदों की वास्तविकता जानने के लिये तपोनिष्ठ समर्पित जीवन अपरिहार्य है । जन्म जन्मान्तर की तपश्चर्या से ही दिव्य अनुभूति संभव होगी । वेदों के तत्त्व को समझने के लिये दूसरी आवश्यकता है पात्रता की । श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार जल से लबालब भरे हुए जलाशय में उतना ही जल पीकर मनुष्य तृप्त हो जाता है जितना जल पीने की उसकी प्यास (व क्षमता) हो, ठीक उसी प्रकार ज्ञानार्थी को वेदों से मात्र उतना ही ज्ञान मिल सकता है जितने ज्ञान संचय के लिये वह समर्थ हो, भले ही वेद अनन्त एवं अक्षय्य राशि के कोष क्यों न हों—

'यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।

श्रीमद्भगवद्गीता, 2.46.

इसीलिये निरुक्तकार ने कहा है,[1] 'वेदों में उस व्यक्ति को कुछ भी स्पष्ट नहीं होगा जो ऋषि नहीं है या जो तपस्वी नहीं है, — 'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेः अतपसो वा ।'
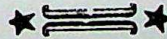
1. यास्क–'निरुक्त,' 13.12.
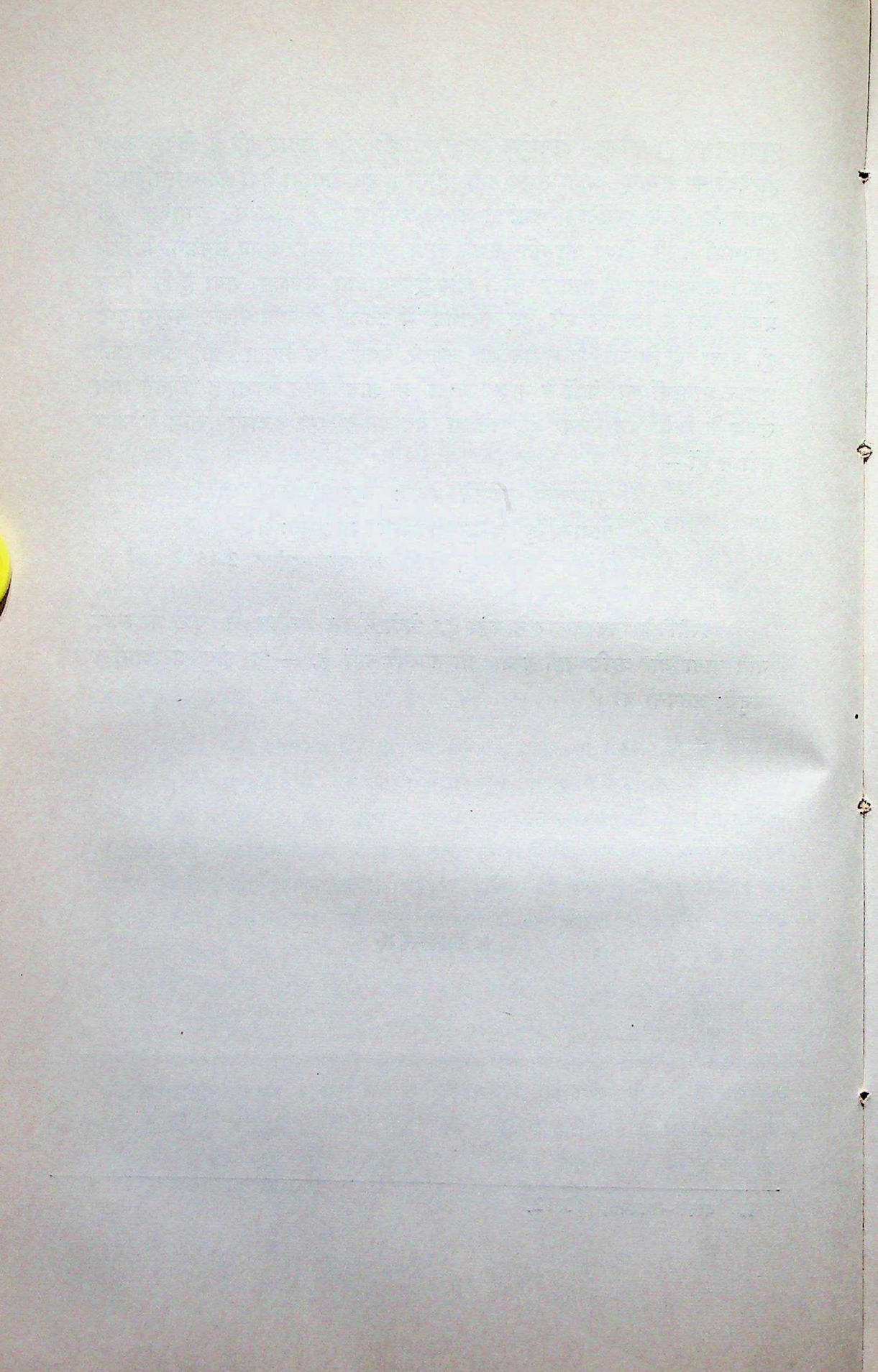
द्वितीय अध्याय

ब्राह्मणों में यज्ञ विधान

ऋग्वेद में यज्ञ कर्म :—

ऋग्वेदकाल किंवा उसके भी पहले से परम्परया जो सांस्कृतिक धारा श्रुति के माध्यम से अक्षुण्ण बहती आयी है उसमें यज्ञतत्त्व का महत्त्व अनूठा ही है। यज्ञ का जितना समुन्नत, व्यापक एवं सार्वभौम रूप वैदिक संस्कृति में उपलब्ध मिलता है उतना विश्व की किसी भी सभ्यता व संस्कृति में दिखाई नहीं देता। यज्ञ में जिन-जिन अनन्त महाशक्तियों का व्यष्टि रूप में तथा जिस परम तत्त्व का समष्ट्यात्मक बोध एवं दर्शन हमें मिलता है, वह वैदिक संस्कृति व वाङ्मय की अपनी महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। यज्ञ के जिन विविध रूपों-विच्छित्तियों का दर्शन व चित्रण वैदिक ऋषियों ने किया है उसके पीछे एक दो शताब्दी नहीं, प्रत्युत सहस्रों-सहस्रों वर्षों की जीवन दृष्टि व चर्या कारणभूत रही है। इस प्रकार, युगों-युगों, मन्वन्तरों-मन्वन्तरों के समन्वित चिन्तन-मनन का निचोड़ वैदिक ऋषियों के जीवन्त कृत्यों में आकर एकत्र प्रस्फुरित व मूर्तिमान् हुआ है। यही मूर्तिमान् रूप यज्ञ है। वैदिक ऋषियों की उस पैनी तत्त्वभेदिनी दृष्टि का आज हम अनुमान तक नहीं लगा सकते। यही उनकी 'ऋषिता' थी और यही थी उनकी 'ऊम्ना'। यही कारण है कि आज की विश्लेषणात्मिका आधुनिक दृष्टि भी यज्ञ के यथार्थ रूप को पहचानने में मूर्च्छित हो जाती है और उसका वास्तविक तत्त्व देखने परखने में हतप्रभ हो जाती है। इसीलिये आज का पाश्चात्त्य विद्वान् वैदिक 'याग' को जादू-टोना, रहस्यावगुण्ठित, निरर्थक एवं मौर्ख्यपूर्ण अपलाप कहकर अपनी तथाकथित 'आधुनिक दृष्टि' पर कृतकृत्यता का भाव व्यक्त करता है। किन्तु वास्तविकता कहीं कुछ और ही है। आधुनिक पाश्चात्त्य मानव की बुद्धि अपने सीमित परिवेश की इयत्ता में बँधी है। उसे उस वैदिक थाती का आभास कैसे और क्यों हो जिसमें 'एक में अनन्त और अनन्त में एक' का दर्शन हुआ हो और जिसमें एक ही 'सत्' 'अग्नि', 'यम' और 'मातरिश्वा' में पिनद्ध देखा व जिया गया हो। अतएव वैदिक यज्ञ के तत्त्वावबोध पर पाश्चात्त्य आधुनिक दृष्टि की अकिञ्चनता

आज उजागर कर देनी आवश्यक है, क्योंकि वह वराकी तत्त्वभेदनक्षमा ही नहीं है। जिन बौद्धिक एवं आध्यात्मिक परिस्थितियों में यज्ञ का प्रस्फुरण व विकास हुआ उनका सम्यक् आकलन आज करना संभव नहीं है, क्योंकि वह भावभूमि ही आज उपलब्ध नहीं है। इसीलिये यज्ञ का सम्पूर्ण स्वरूप तथा व्यक्तित्व आज रहस्यात्मक बनकर रह गया है। आज हम उन रहस्यों को जानने के लिये प्रमाण ढूंढ़ते हैं जो उपलब्ध नहीं हैं। के० आर० पोतदार ने इसी तथ्य की पुष्टि की है[1]।

ध्यान से यदि देखा जाय तो विदित होगा कि समस्त वैदिक वाङ्मय यज्ञ तत्त्व के पोषण-अनुरक्षण हेतु ही उद्दिष्ट दिखाई देता है। ऋग्वेद संहिता समस्त ब्राह्मणग्रन्थ तथा कल्पसूत्रादि यज्ञ एवं इतर महत्त्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठानों का प्रतिपादन संवर्धन करते हैं। यज्ञ का जो विराट् एवं तकनीकी स्वरूप ब्राह्मण-ग्रन्थों में उद्घाटित हुआ है, वह ऋग्वेदसंहिता काल में भी यथावत् उपलब्ध था। ऋग्वेद संहिता के सभी मन्त्र यज्ञपरक ही हैं। क्रमशः ब्राह्मण काल में यज्ञानुष्ठान में जो विस्तार, विशदता, वैशिष्ट्य एवं जटिलता आयी वह मात्र इसलिये आयी कि ब्राह्मणकाल तक याज्ञिकों की अनेक शाखाओं प्रतिशाखाओं का जन्म हो चुका था और प्रत्येक शाखा कर्मकाण्ड सम्बन्धी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व उत्तरवर्ती पीढ़ी के लिये छोड़ जाना चाहती थी। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि संहिताकाल में यज्ञों की वह विविधता एवं विराट्ता क्रियाशील नहीं थी जो ब्राह्मणकाल में पूर्णतः मुखरित दिखायी देती है। इसी प्रकार यह भी कदापि नहीं सोचना चाहिए कि ऋग्वेद संहिता के सूक्त अथवा मन्त्र यज्ञपरक या यज्ञनिष्ठ नहीं थे। वास्तव में सभी कुछ श्रुति थी जो परवर्ती पीढ़ी को शाखा-परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ करती थी। अतएव यज्ञसम्पादनकर्म में कहीं कुछ छूटने-टूटने घटने न पाये इसलिये ब्राह्मणों के द्रष्टाओं-प्रणेताओं ने ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुष्ठान-विधि को अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इसके लिये गद्य की विधा अधिक उपयोगी थी। परिणामस्वरूप ब्राह्मणों की शैली अधिकांशतः गद्यमय रही।

---

1. 'The circumstances that characterised the beginning of the institution of sacrifice in the ancient Aryan Society and the forces that Combined to evolve it through well marked stages, must to some extent, remain a secret that cannot be completely probed into for want of all the necessary evidence, which for obvious reasons can never become available to us.'

–सैक्रिफाइसेज इन द ऋग्वेद,' पृ० 2,

यज्ञ का उत्स एवं विकास :—

'यज्ञ' के उत्स एवं विकास पर विहंगम दृष्टि डालने से यह धारणा बनती है कि यज्ञ उतना ही प्राचीन है जितना कि धरती पर मानव का जन्म । जिस प्रकार प्रजापति अथवा अजन्मा परमेश्वर के मन में 'एकोऽहं बहुस्याम्' का जन्म हुआ जिसके फलस्वरूप जीवात्मा पाञ्चभौतिक कलेवर में प्रस्फुटित हो गया, ठीक उसी प्रकार उस जीवात्मा के भी मन में सनातन परमेश्वर स्वरूप ही बीज-रूप में सोया हुआ आध्यात्मिक यज्ञ तत्त्व स्थूल अथवा भौतिकरूप में प्रस्फुटित होकर दृष्ट हुआ । मानव जीवन की आधिव्याधियों तथा जीवन की क्षणभंगुरता की पृष्ठभूमि में अजरामर देवतत्त्व की सत्ता का आभास मानवमन को हुआ होगा । यह आभास प्राकृतिक शक्तियों यथा, पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु के अप्रतिम सामर्थ्य को देख-परखकर ही हुआ होगा । इस अवधारणा के क्रम में एक ओर जहाँ अनन्त, शक्तिशाली अमर देवताओं को उन-उन प्राकृतिक महाशक्तियों के प्राणभूत अधिष्ठात्री देवताओं के रूप में पूजा जाने लगा, वहीं दूसरी ओर उनके दिव्य गुणों स्वभावों को देवत्व से धरती पर उतारकर स्वयं अपने को उनकी पंक्ति में आसीन किया जाने लगा । जीवन दर्शन की यह प्रक्रिया ऋग्वेद काल के बहुत पहले से आरम्भ हो गई होगी; क्योंकि ऋग्वेद संहिता के सूत्र अति समुन्नत जीवन-शैली का परिचय देते हैं । धीरे-धीरे पूर्णता, शक्तिमत्ता, प्रभुता तथा अजरता देवत्व का पर्याय बनती गयी । देवत्व की इसी सीमारेखा के विपरीत मानव के आधि-व्याधि तथा जीवन की नश्वरता आदि ने स्वाभाविक रूप से उसे उन देवों के आराधक-पूजक की कोटि में बैठा दिया होगा । अतः स्वाभाविक था कि देवशक्तियों पर क्रमशः बढ़ती निष्ठा के फल-स्वरूप त्याग एवं उनके प्रति उत्सर्ग के भाव मानव-मन में उद्भूत हुए । ब्रह्माण्ड के तत्त्व चूँकि देवत्व एवं मानवत्व दोनों के उद्भव के लिये समानरूप व समान-धर्मा हैं, अतएव मानव के निष्ठापूर्वक दिये गये दान एवं देवों के प्रति किये गये उत्सर्ग देवों को निःसन्देह मिले भी । देव और मानव में पार्थिव कायावरण ही प्रमुख भेदक रहा, शेष तत्त्व दोनों में संस्कार रूप से समान ही हैं । दूसरा प्रमुख भेदक तत्त्व जीव के कृत कर्मपाश थे जो उसे तत्तत्कर्मानुसार ही फल भोगने के लिये विवश करते हैं । देवगण जब एक बार प्रसन्न हो जाते थे तो स्वाभाविक रूप से मानव के पार्थिव जीवन को वे भौतिक सुखों से भर देते थे ।

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि सूक्ष्म शरीरधारी देव समस्त स्थूल भौतिक

पदार्थों के गन्धमात्र को ग्रहण करते हैं। द्रव्यगन्ध तन्मात्ररूप में ही उन्हें ग्राह्य होती है। भौतिक पदार्थों का गन्ध में परिवर्तन-परिणमन केवल अग्नि के संस्पर्श से सम्भव है। यही कारण है कि वेदों में अग्नि का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। अग्नि को देवों का मुख कहा गया है। यह प्रतीकात्मक प्रयोग है। इसका तात्पर्य यह है कि देव अग्नि के माध्यम से ही अर्थात् अग्नि में हवन की गयी (अग्नि को न्यास के रूप में सौंपी गयी तथा गन्ध तन्मात्र में परिवर्तित) वस्तुओं को देवगण ग्रहण करते थे। यही रहस्य है कि नैष्ठिक मन से विभिन्न देवों के निमित्त अग्नि को सौंपी गयीं आहुतियाँ उन-उन देवों को अग्नि के द्वारा ही निश्चित रूप से पहुँचायी जाती हैं। मनोवाञ्छित आहुतिगन्ध प्राप्त कर दाता यजमान के ऊपर देवों का प्रसन्न होना अत्यन्त स्वाभाविक बात थी। इस प्रकार यह एक मात्र यज्ञ प्रक्रिया ही थी जो देवों और मानव के बीच सेतु बनकर स्थित हो गयी। जैसे-जैसे देवों को प्रसन्न करने की यज्ञ विधि रूपी कुंजी यजमान मानव के मन में आस्था की जड़ें जमाती गयी वैसे-वैसे समाज के प्रबुद्ध वर्गों में यज्ञ का विस्तार एवं प्रचार सहज होता चला गया। दैवी प्रकोप, दुःख तथा जरा से सन्तप्त मानव को देवों का सर्वशक्तिसम्पन्न एवं सर्वसुखप्रदातृ रूप शनैः शनैः अपनी ओर आकृष्ट करता चला गया और मानव मन को एक विश्वसनीय सम्बल व अभयपूर्ण आश्रय प्राप्त होता गया। फिर क्या था! वैदिक मानव पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, वनस्पतियों, द्यौः, अन्तरिक्ष, काल के नियामक सूर्य, चन्द्र एवं अन्य वर्चस्व-सम्पन्न नक्षत्रों आदि की पुजा-आराधना में सम्पृक्त होने लगा। यह स्वाभाविक था कि मानव की भौतिक स्थिति तभी सुखशान्तिमय होनी सम्भव थी जब ये सभी शक्तियाँ स्वयं अपने स्वतन्त्र अस्तित्व में तथा एक दूसरे से सहभाव रखते हुए संयत व नियमित रहकर भूमण्डल के वातावरण को शान्त बनाये रखें। विश्व का वातावरण उपर्युक्त प्राकृतिक महाशक्तियों के पारस्परिक सन्तुलन व सामञ्जस्य पर निर्भर करता है। ऋत एवं सत्य के नियमों की यही नींव भी थी। यह अनुभूति धीरे-धीरे वैदिक मानव के मानसपटल पर अमिट रूप से अंकित होती गयी। साथ ही साथ यह भाव भी बद्धसंस्कार होता गया कि बिना प्रदान किये इन महाशक्तियों से आदान सम्भव नहीं था। इसी भाव-शृंखला में यज्ञों में द्रव्योत्सर्ग या द्रव्यदान की प्रक्रिया बलवती बनी। द्रव्यों एवं अन्य भौतिक पदार्थों का त्याग तो सभी करते हैं, किन्तु केवल देवों को उद्दिष्ट करके किया गया द्रव्य-त्याग या आहुति देवों को प्राप्त हो सकती थी। इस प्रकार देवों की सत्ता-प्रभुता पर ज्यों-ज्यों वैदिक मानव के मन में आस्था प्रगाढ़

होती गयी, त्यों-त्यों यज्ञ में देवतोद्दिष्ट द्रव्योत्सर्ग की प्रक्रिया निष्ठा व पवित्रता प्राप्त करती गयी। क्रमशः हविष् यज्ञों का अविभाज्य अंग वन गयी। इन प्राकृतिक महाशक्तियों में अवस्थित उनके तत्तदधिष्ठात्री देवताओं का आवाहन उन-उन देवताओं को मानव के समीप खींचता गया। आवाहन वन्दन प्रक्रिया में जिस प्रकार ऋग्वेद संहिता के सूक्तों-मन्त्रों का स्फुरण हुआ, उसी प्रकार देवों को उद्दिष्ट कर अर्थात् उनके निमित्त यजमान द्वारा आहुति की गयी हविष् की प्रक्रियाओं से संकुल यागों को विविधता-अनन्तता प्राप्त होती गयी। हविर्दान देकर यजमान वदले में भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखादि हेतु अन्न, द्रव्य, पशु एवं वनस्पति आदि पदार्थों की प्रार्थना भी यज्ञ के माध्यम से करने लगा। शनैः शनैः यज्ञ का इतना विकास हुआ कि विकास की उस कड़ी में बड़ी संश्लिष्टता एवं तकनीकीपन आता गया और यज्ञ एक प्रकार के विशिष्ट वैज्ञानिक प्रयोग बन गये। समाज में चूँकि सभी वर्णों तथा ब्राह्मण वर्ण में भी चूँकि सभी लोक इनकी विशिष्टता और जटिलताओं को समझने की क्षमता नहीं रखते थे, अतएव ऋत्विजों का एक वर्ग धीरे-धीरे समुन्नत होकर उभर आया। स्पष्टतः ऋग्वेदकाल तक हृदयावर्जक यज्ञों का पूर्ण विकास हो चुका था।

प्रो० हॉग का अभिमत है कि ऋग्वेदकाल में ही यज्ञ न केवल पूर्णतया विकसित हो गये थे, बल्कि उनके प्रतीकात्मक एवं रहस्योद्घाटक अर्थ भी निर्धारित हो चुके थे। उन्होंने आवेस्ता से तुलना करते हुए यज्ञ-विकास प्रक्रिया को स्वीकार किया है। ब्लूमफील्ड का कथन है कि वैदिक कविता यज्ञ-प्रधान है तथा ऋग्वेद के पूर्व ही एक विस्तृत एवं संश्लिष्ट यज्ञ विधान विकसित हो चुका था।[1] आर्थर ए० मैक्डानेल का कहना है[2] कि ऋग्वेदकाल का यज्ञ-विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित यज्ञ विधान के समान ही था। वह यह भी मानते हैं कि ऋग्वेद-काल में सोम यज्ञ की पर्याप्त जानकारी थी। उनके अभिमत का अनुसरण पो० एस० देशमुख ने भी किया है जो यह मानते हैं कि ऋग्वेद-कान में सोम-यज्ञ पूर्ण रूप से परिचित यज्ञ था।[3] प्रो० कीथ का कथन है कि ऋग्वेद में यज्ञ-विधान संबंधी प्रतिपादन अधूरा है जो परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्ण होता है[4]। एच० ओल्डेन वर्ग ने ऋग्वेद को मुख्यतया यज्ञपरक स्वीकार किया है। प्रो०

1. 'द रेलिजन आव् द वेद,' 1908 पृ० 65
2. इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एन्ड इथिक्स, खण्ड 8 पृ० 312–321 तथा खण्ड 12, पृ० 610-612.
3. 'रेलिजन इन वेदिक लिट्रेचरः' डा०पी०एस० देशमुख।
4. 'रेलिजन एण्ड फिलासफी आव् द वेद एण्ड उपनिषद्स,' पृ० 39

लुई रेनू भी ऋग्वेद को कुछ सीमा तक यज्ञपरक मानते हैं[1]। उनकी अवधारणा है कि ऋग्वेद के मन्त्र पूजा के समय पढ़े जाते थे। इन मन्त्रों का तकनीकी प्रयोग से कोई संबंध नहीं था जिन्हें इन सूत्रों ने परवर्ती काल में जन्म दिया। प्रकारान्तर से उनके अनुसार ऋग्वेद के वर्ण्य-विषय से वैदिक यज्ञ पृथक थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-विधान के प्रकरण में उद्धृत ऋग्वेद के मन्त्रों को देखकर यह दृढ़ धारणा बनती है कि वे मन्त्र उस यज्ञ-पद्धति का परिचय देते हैं जो ऋग्वेद काल से परम्परा के माध्यम से प्राप्त हुई थी। कतिपय लोगों का यह कथन है कि ब्राह्मणग्रन्थ ऋग्वेद के मन्त्रों का उद्धरण यज्ञविषयगत सुविधा के निमित्त करते हैं, परम्परा के अनुसरण में नहीं। यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद काल के पूर्व से ही परम्परा श्रुति का प्रबल आधार रही है। इसलिये ऋग्वेद के मन्त्र तथा यज्ञ दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित भाव से परवर्ती पीढ़ियों को परम्परा के माध्यम से ही प्राप्त हुए।

अतएव ऋग्वेद संहिता का प्रयोजन मन्त्रों का यज्ञ में प्रयोग करना भी उसी रूप में रहा है जिस रूप में देवताप्रीत्यर्थ यशोगान करना रहा है। कतिपय विद्वानों की यह धारणा कि ऋग्वेद संहिता मात्र देवस्तुति के लिये थी, भ्रामक है। वास्तव में ऋग्वेद संहिता जितनी देवविषयिणी स्तुति अभिव्यक्त करती है, उतनी ही यज्ञों में मन्त्रों के प्रयोग के निमित्त भी थी। ऋग्वेद संहिता काव्यात्मक होते हुए भी यज्ञ से असम्पृक्त नहीं कही जा सकती। यह कहना कि ऋग्वेद की कविता का मात्र भावात्मकता तथा यज्ञ की शुष्क बौद्धिकता से सम्बन्ध था, त्रुटिपूर्ण होगा। वह भावतत्त्व कैसा जो बुद्धि में पर्यवसित न हो तथा वह बौद्धिकता ही कैसी जिसमें साकल्येन शुष्क ज्ञान ही हो! यह सामञ्जस्य ऋग्वेद में हमें मिलता है। ऋग्वेद की कविता अनूठी भावात्मकता तथा यज्ञ-कर्म-काण्ड दोनों से समान रूप से अनुप्राणित है।

इसी संदर्भ में यज्ञ एवं मन्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध भी समझ लेना समीचीन होगा। श्री के० आर० पोतदार के अनुसार इन दोनों का परस्पर वही सम्बन्ध है जो बीजाङ्कुर का होता है[2]। वास्तव में इस प्रकार का प्रश्न उठाना

1. 'लेस इकोलेस वेदिक्स,' पृ० 3-4
2. Sacrifice and hymns are almost as vitally and inextricably connected with each other and can also be fittingly said to be evolving out of each other like the renowned[1] Bija and Ankura' of the vedantic doctrine,—सैक्रिफाइसेज़इन द ऋग्वेद, पृ० १६. –के० आर० पोतदार.

ही निरर्थक है। जैसा हम बारम्बार कहते आये हैं कि मन्त्र एवं ब्राह्मणों के रचनाकाल में पूर्वापरता की दृष्टि से भेद देखना अथवा उनके वेदत्व पर शंका करना कदापि न्यायसंगत नहीं होगा। मन्त्रों अथवा सूक्तों एवं ब्राह्मणों में रचना शैलीगत या यों कहें कि रूप शिल्पगत भेद तो अवश्य देखा जा सकता है, किन्तु एक को प्राचीन तथा दूसरे को अर्वाचीन बतलाना भ्रामक होगा। इसी प्रकार मन्त्र एवं यज्ञ में उत्पत्ति की दृष्टि से पौर्वापर्य ढूंढना जलताडन कृत्य ही होगा। फिर भी विद्वानों में इस बिन्दु को लेकर पर्याप्त मत-मतान्तर रहा है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर सूक्त से यज्ञ की उत्पत्ति बतलायी गयी है[1] तथा यज्ञ-कर्म से सूक्तों के सृजन का उल्लेख मिलता[2] है। इस प्रकार सूक्त एवं यज्ञ की पारस्परिक सृजनशीलता को लेकर विद्वानों का यह कथन है कि वैदिक ऋषि के मनस्तल में सूक्तों के कलेवर में स्तुतियों का प्रथमतः अंकुरण हुआ और बाद में उनके साथ (यागादि) क्रियाओं का सम्बन्ध होता गया। हमारी तुच्छ मति में स्थिति थोड़ी भिन्न थी। वस्तुतः मन्त्र एवं यज्ञ साथ-साथ उत्पन्न हुए अथवा यों समझना चाहिए कि ऋग्वेदकाल तक मन्त्र एवं यज्ञ दोनों की युगपत्, स्थिति दिखायी देती है। पहले भी कहा गया है कि ऋग्वेद-काल में भी याग-विधान पर्याप्त विकसित था, अतः उस काल में भी मन्त्र का उपयोग यज्ञकर्म में विहित था, क्योंकि मन्त्र में ज्ञान एवं क्रिया दोनों ही समाविष्ट होते हैं। यही कारण है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्त यज्ञपरक हैं। इधर काम्य फलों की प्राप्ति हेतु ऋषिगण देवों को यज्ञ अर्पित करने का आश्वासन देते[3] हैं, उधर यज्ञ में किये जाने वाले वाले मन्त्रोच्चार से देवगण शक्ति प्राप्त करते[4] हैं। वस्तुतः यज्ञ की सफलता मन्त्रों पर निर्भर करती है।[5] मन्त्र ही यज्ञ-भार धारण करते हैं।[6] मन्त्र ही देवों को यज्ञस्थल पर आहूत करने में समर्थ होते हैं।

दानस्तुतियों से सम्बद्ध मन्त्रों से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस काल में भी यज्ञानुष्ठान का बड़ा महत्त्व था। देवताओं के यशोगानों को देखकर भी ऋग्वेद काल के समुन्नत यज्ञ-कर्म का आभास हो जाता है। देवगण यज्ञों के मर्म

---

1. ऋग्वेद 8,69,1
2. ऋग्वेद 4,20,10
3. ऋग्वेद 4,20,1
4 ऋग्वेद 7.33.3
5. ऋग्वेद 7,66,8
6. ऋग्वेद 8,26,16

को भली भाँति समझते हैं। अग्नि को मानवकृत यज्ञ की पूरी जानकारी[1] होती है। उस समाज में यज्ञों की जनप्रियता इतनी बढ़ गयी थी कि देवगण स्वयं हविष् की लालच से यज्ञस्थल पर पहुँचने के लिये उत्सुक रहते हैं। ऋत्विक् भी हव्य सामग्री की लालच देकर देवों का यज्ञ में आवाहन करता है। ऋग्वेद में वर्णित यज्ञ-विधान के अध्ययन से तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि यज्ञ-कर्म मानव एवं देवगणों का एक संयुक्त अनुष्ठान सा बन गया था। यज्ञों में अग्नि आदि देवों का सहर्ष सहयोग तथा देवों को उद्दिष्ट कर तपःपूत यजमान द्वारा द्रव्य-त्याग आदि की सहभागिता देखकर ऋग्वेदकालीन यज्ञ के वर्चस्व का सहज आकलन किया जा सकता है। मानव एवं देवों के पारस्परिक तादात्म्य बोध के भावी जीवन-दर्शन का सूत्रपात भी यहीं हुआ दिखायी देता है।

इस प्रकार यद्यपि ऋग्वेदकाल में यज्ञ-क्रिया पूर्णतया विकसित हो गयी थी, किन्तु कर्मकाण्ड का बहुविध वैशिष्ट्य एवं विभिन्न धार्मिक कृत्यों में निहित तत्त्वों पर व्याख्या करना ब्राह्मणों की ही देन है। यज्ञ में 'ऋत' का सन्निवेश भी ऋग्वेद का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। स्पष्ट है कि यज्ञ न केवल मानव समाज अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में नित्यता एवं शाश्वतता के अमर तत्त्वों को उद्घाटित करता है। 'ऋत' का दर्शन ब्रह्माण्ड सत्ता का दर्शन बन गया। इस पृष्ठभूमि में समूचे ब्रह्माण्ड में यज्ञ का ही विराट्तम एवं सूक्ष्मतम रूप देखने में ऋषियों की दृष्टि भी समझ में आ जाती है। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा देवत्व प्राप्त करने का प्रत्यक्ष मार्ग ज्यों-ज्यों प्रशस्त होता गया त्यों-त्यों हमारी संस्कृति की आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ और ऊर्ध्वमुखी होती गयीं।

यज्ञ का अर्थ स्थान एवं विशेषता:—

यज्ञ वैदिक जीवन एवं वैदिक साहित्य का अविभाज्य अंग है। वैदिक ऋषियों की सम्पूर्ण जीवन-चर्या यज्ञकर्म से अनुप्राणित थी। इसीलिए यज्ञमय जीवन की अपनी विशिष्ट संस्कृति रही है। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से बना है जिसका अर्थ पूजा अथवा किसी देवता को उपहार (भेंट) चढ़ाना है।

प्रो० आर० डी० करमरकर के अनुसार 'यज्ञ' शब्द दो धातुओं से बना है 'या' (जाना) एवं (मिलना उत्पन्न करना) 'धातुपाठ में' 'यज्' धातु के तीन अर्थ दिये गये हैं (1) देव पूजा करना (2) संगतिकरण—परस्पर मिलना, (3)

1. ऋग्वेद 4, 3, 4.

दान······(यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु)। यह निरपवाद है कि 'यज्' धातु या इस धातु से बना शब्द पूजा-अर्चना के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतएव प्रो० करमरकर द्वारा 'यज्' धातु का अर्थ बहुत परोक्ष एवं खींचतान कर निकाला हुआ लगता है। डा० बुधप्रकाश के मतानुसार एक सामाजिक वैज्ञानिक की दृष्टि से 'यज्ञ' का अर्थ 'आम बिरादरी का भोज' (संगतिकरण) है। 'यज्ञ' शब्द के अर्थ में देवता के प्रति श्रद्धा का भाव प्रकाशन भिन्न-भिन्न ढंग से सम्मिलित मिलता है। इसी आधार पर शास्त्रों का अध्ययन चिन्तन अथवा स्वाध्याय भी 'यज्ञ' कहलाता है। सामान्यतया अग्नि को दी गई भेंट अथवा देवता को उद्देश्य कर अग्नि के माध्यम से किया गया दान यज्ञ कहलाता है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि भक्त का श्रद्धाभाव 'यज्ञ' या 'याग' कहलाता है। उदाहरणार्थ, जैसे ही भक्त स्वयं अथवा किसी पदार्थ को देवता के निमित्त दान (भेंट) में देता है उसी क्षण वह यज्ञ सम्पादित कर लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ सदा किसी बहुमूल्य द्रव्य (वस्तु) का त्याग (दान) है। जिस वस्तु का त्याग (दान) किया जाय उसे 'हविष्' कहते हैं। देवता को उद्देश्य मानकर द्रव्य त्याग याग[1] या होम कहलाता है।

यहाँ त्याग शब्द का अर्थ भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। लौकिक व्यवहार में त्याग का अर्थ 'परित्याग' या 'छोड़ देना' माना जाता है; किन्तु वैदिक साहित्य में 'त्याग' का विशिष्ट अर्थ है 'किसी भी देवता को उद्दिष्ट कर स्वयं अथवा किसी द्रव्य का अर्पित करना'।

'अध्वर', 'क्रतु' एवं 'मख' शब्द यज्ञ के पर्यायवाची शब्द हैं। ब्राह्मणों के अनुशीलन से विदित होता है कि यज्ञ मात्र यागकर्मकाण्ड ही नहीं है, बल्कि इसे समस्त ब्रह्माण्ड में मूलभूत सिद्धान्त के रूप में माना गया है। इस बिन्दु पर आगे यथावसर विस्तृत विचार किया जायेगा। विश्व की प्रायः समस्त प्राचीन संस्कृतियों में यज्ञ का उल्लेख मिलता है। कुछ अर्थ में तो यज्ञ विभिन्न संस्कृतियों में समानान्तर ढंग से मिलता है। बेबिलोन एवं ग्रीकरोम की संस्कृति में यज्ञ

1. देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः। 'तत्र तांगु देवतादिदृश्य तस्य द्रव्यस्य यः त्यागः इदमिन्द्राय न मम" इत्यादिरूपो मानसिक व्यापारः स एव यागपदार्थः।——त्यक्तस्य हविषः विहितदेशे आहवनी–यादो यः प्रक्षेपः स होम इत्युच्यते।——तत्र न प्रक्षेपमात्रं धात्वर्थः किन्तु प्रक्षेपः उद्देश्यः त्यागः इति त्रितयमपि।'–श्री बिद्याधर शर्मा फोरवडं, शतपथ ब्राह्मण वाल्यूम 2, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, पृ० 16–17.

की अपनी विधियाँ प्रचलित थीं जिनमें वैदिक यज्ञ पद्धति से पर्याप्त साम्य दिखलायी देता[1] है। मानव विकास एवं ज्ञानवर्धन हेतु विभिन्न सभ्यताओं की यज्ञप्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। मानव सभ्यता एवं सुखशान्ति के इतिहास के निर्माण में इन यज्ञप्रक्रियाओं का बहुमूल्य योगदान रहा है।

यज्ञ के उद्भव का पता लगाना उतना ही दुष्कर है जितना कि मानव की उत्पत्ति, क्योंकि यज्ञ का सीधा सम्बन्ध मानवजीवन एवं तत्सम्बद्ध पदार्थों से है। इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। पूर्व में हम कह आये हैं कि सामान्यतया लोगों की ऐसी धारणा है कि देवता को अनुकूल करने, अथवा उसके क्रोध से बचे रहना अथवा उसे प्रसन्न करने अथवा उसका सान्निध्य प्राप्त करने के लिए यज्ञ प्रारम्भ किया गया। कभी-कभी कृतज्ञता ज्ञापनार्थ भी यज्ञ किया गया। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका का कथन[2] है कि यज्ञ वह पवित्र प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपावन एवं पावन (श्रेष्ठ) के बीच सम्पर्क स्थापित किया जाता है।

यज्ञ एवं जादू में भी परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास किये गये हैं तथा विद्वानों में इस आशय की सामान्य धारणा रही है कि यज्ञ मूलतः जादू थे। प्रोफेसर हिलेब्राँ का अनुभव है कि जहाँ तक यज्ञ के प्रयोजन का सम्बन्ध है, धर्म एवं जादू में अत्यन्त क्षीण विभाजन रेखा है। किन्तु इस प्रकार की धारणाएँ यज्ञ पर लागू नहीं हैं, क्योंकि ये वैदिक आदर्शों से मेल नहीं खातीं। डा० पी० एस० देशमुख ने स्पष्ट रूप से कहा[3] है कि यज्ञ का जन्म जादू से नहीं हुआ। कुछ विद्वानों का कथन[4] है कि ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञ जादू के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञकर्मकाण्ड की प्रभावोत्पादकता पर आस्था को जादू कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जादू एवं धर्म शब्दों के अर्थ में कुछ भ्रान्ति रही है। जादू ऐसा कृत्य है जिसके फल का आभास मात्र होता है, उसकी वास्तविकता नहीं होती, जबकि यज्ञ एक ठोस अनुभव है, वास्तविक कृत्य

---

1. एलब्राइट एण्ड ड्यूमान्ट : अपैरलेल बिट्वीन इण्डिया एण्ड बेबिलोनियन सैक्रिफिशियल रिचुवल; जे० ए० ओ० एस० 54, 1934, पृ० 107.
2. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका वाल्यूम 18, 801 ए०–805 बी.
3. डा० पी० एस० देशमुख: ओरिजिन एण्ड डिवलेपमेण्ट आव् रेजिलन इन वैदिक लिट्रेचर पृ० 45.
4. ए० बी० कीथ: रेलिजन एण्ड फिलॉसफी आव् वेद एण्ड उपनिषद्-स 2, पृ० 454

है। डा० पी० एस० देशमुख ने जादू एवं धर्म में विशिष्ट भिन्नता बतलाई है। उनके[1] अनुसार जब शक्ति सिद्धि की प्रार्थना-याचना की जाय, अथवा देवता को प्रसन्न कर आशीर्वाद प्राप्त किया जाय, अथवा आशीर्वाद मानव साहाय्य के लिये हो तो उसका परिणाम धर्म होता है। जब किसी कृत्य को करने से एक निश्चित फल स्वतः उपलब्ध हो जाय, अर्थात् उसी शक्ति या सिद्धि की निश्चित रूप से प्राप्ति हो जाय जिसके लिए वह कृत्य किया गया था, अर्थात् इतर फल न मिले तो उस कृत्य का फल जादू कहलाएगा। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि जब शक्ति की परिकल्पना हठात् हो तो जादू होता है और जब शक्ति की प्राप्ति हठात् न होकर अर्चन-पूजन या भेंट चढ़ाकर हो तो धर्म कहलाता है। डा० बेलवलकर एवं प्रोफेसर रानाडे के कथनानुसार यह सही है कि उन सभी कृत्यों में, जहाँ मनुष्य सोचता है कि वचन एवं कर्म से वह देवता को प्रसन्न कर अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकता है, जादू का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है, किन्तु वही यज्ञ जादू कहला सकता है जिसमें अभीष्ट की प्राप्ति प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत हो जाय, भले ही वह लघु आकार का ही क्यों न हो।

वैदिक यज्ञ में हठ एवं जबरदस्ती का कोई स्थान नहीं होता। आराध्य देवता के लिये फल प्रदान करने अथवा वर देने की बाध्यता नहीं होती। बी० हीमन का कथन[2] है कि देवता कोई यन्त्र नहीं है। देवता एवं मनुष्य का पारस्परिक सम्बन्ध उपादेय प्रकृति का होता है, व्यावसायिक अथवा सौदेबाजी का नहीं। सही बात यह है कि यह सम्बन्ध नैतिक अथवा जैविक-नैतिक मूल्यों के सिद्धान्त से जुड़ा रहता है। वास्तव में देवता नहीं, अपितु यज्ञ-कर्म ही फलदायक होता है, अथवा यों समझना चाहिए कि वह यज्ञकर्म ही फल का रूप धारण कर लेता है। चूँकि देवताओं का कोई निश्चित आकार या निश्चित निवास-स्थान नहीं माना गया है, अतएव यह धारणा कि यज्ञकर्म ही फल में स्वतः परिवर्तित हो जाता है, समस्यामूलक बन जाती है। यह विषय अत्यन्त गूढ़ है तथा अध्यात्म क्षेत्र के वैज्ञानिकों को चाहिए कि वे इस पर अन्तर्मुखी होकर अनुसंधान करें। उल्लेखनीय है कि यज्ञकर्म उसी तरह का एक प्रयोग होता है जैसा कि प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) में कोई अन्य वैज्ञानिक प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग-

---

1. डा० पी० एस० देशमुख: ओरिजिन एण्ड डिवलेपमेण्ट आव् रेलिजन इन वैदिक लट्रेचर, पृ० 47
2. बी० हीमन: 'कथेनोथीजम एण्ड दानस्तीज ए० बी० ओ०आर० आई० 28, 1947 पृ०29

शाला अध्यात्म की है धर्म की है जिसमें सत्य (तत्त्व) का परीक्षण होता है। इस सन्दर्भ में प्रोफेसर ऑल्डस हक्सले[1] का अति प्रभावशाली कथन है:—

"............the ritualist is perfectly correct in attributing to this hallowed acts and wards a power which.........does something, the sacrament confers grace exopere operatio, there are rather may be, matters of direct experience facts which anyone who chooses to fulfill the necessary conditions can verify empirically for himself."

इससे विदित होगा कि यज्ञों के वारे में यज्ञों के विभिन्न सिद्धान्तों एवं मतों के आधार पर कोई निश्चित धारणा नहीं वनायी जा सकती। यही कारण है कि वैदिक यज्ञों की परिभाषा करना कठिन है। हॉपकिन्स[2] की परिभाषा भी ठीक नहीं प्रतीत होती। हॉपकिन्स ने कहा है:—

'The sacrifice is a means to enter the God head of the gods and even to control the gods, a ceremony where every word was pregnant with consequences, every movement momentons.'

वास्तविक रूप से देखा जाय तो विना स्वयं यज्ञ किये, विना उस आस्था में निमज्जित हुए तथा विना विहित प्रक्रिया के अनुसार पवित्र अनुष्ठान पूरा किये यज्ञ के मर्म को समझना संभव नहीं है।

यज्ञों के बारे में एक और धारणा प्रचलित है जिसपर विचार करना आवश्यक है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि ऋग्वैदिक यज्ञ साधारण व सरल प्रकृति के हुआ करते थे, किन्तु ब्राह्मणों के समय तक ये यज्ञ क्रमशः जटिल हो गये। यह मत सर्वथा निरापद नहीं है। प्रथम कारण तो यह है कि ऋग्वेद के पूर्ववर्तित्त्व एवं ब्राह्मणों के उत्तर वर्तित्त्व का कोई ठोस आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह विचार मुख्यतः भाषावैज्ञानिक नींव पर स्थित है। भाषा-वैज्ञानिक आधार पर ही इन दोनों संहिताओं की प्रकृति एवं प्रयोजन में अन्तर है। इस महत्त्वपूर्ण अन्तर को प्रायः विद्वज्जन दृष्टि से ओझल कर देते हैं। ऋग्वेद अधिकांशतः पूजा सम्वन्धी संहिताएँ हैं जवकि ब्राह्मण व्यावहारिक मार्ग दर्शन हेतु वक्तव्य हैं। ब्राह्मणों की अपेक्षा ऋग्वेद साहित्य है, जवकि ब्राह्मण तकनीकी शास्त्र हैं। ऐसी स्थिति में यह मान लेना कि ऋग्वेद की कविता

1. आल्डस ए० हक्सले : पेरेनियल फिलासफी' पृ० 307
2. ई० डब्ल्यू० हॉपकिन्स : रेलिजन्स आव् इण्डिया, पृ० 188.

प्राचीन है तथा तकनीकी शास्त्र होने के कारण ब्राह्मण अपेक्षाकृत नये हैं, उचित नहीं है। प्रोफेसर के० आर० पोतदार का कहना है[1] कि ऋग्वेद में यज्ञों के विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं। डा० कुन्हनराजा का मत[2] है कि ऋग्वेद की कविता को यज्ञकर्मकाण्ड से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऋग्वेद की कविता भी यज्ञ-कर्मकाण्ड का अविभाज्य अंग है।

श्री एस० पी० नियोगी ने निविद पर कार्य किया है। निविद कतिपय देवताओं को सम्बोधित ऋचाओं के छः वर्ग हैं। होता ऋत्विक् द्वारा इनका पाठ किया जाता है। इन्हें 'पूरक' पाठ के रूप में भी जाना जाता है। श्री नियोगी का अभिमत है कि इन निविद में प्राचीन ऋग्वैदिक काल की सीधीसादी एवं सरल याग प्रथा सन्निहित दिखलायी देती है जो बाद के काल की जटिलताओं से मुक्त है। निविद में होता के अतिरिक्त किसी अन्य पुजारी यज्ञकर्ता का उल्लेख नहीं मिलता। इनमें बाद के काल की यज्ञ की तीन अग्नियाँ नहीं थीं। निविद में वर्णित यज्ञ के बर्तनों एवं अन्य उपकरणों से ऋग्वेद के यज्ञों के प्राचीन-तर काल के होने का आभास मिलता है। उस समय तक सोम को देवता की पदवी नहीं मिल पायी थी। उस प्राचीन काल में किये गये यज्ञ की अति सरल प्रकृति एवं शैली में केवल एक पुजारी होता द्वारा घी को आहुति अथवा यजमान द्वारा लाये गये सोमलता के द्रव से केवल एक अग्नि में होम किया जाता था।

यज्ञ में निविद के उपयोग पर सम्यक् विचार करते हुए यदि देखा जाय तो श्री नियोगी का अभिमत टिकाऊ नहीं लगता। सवन में होता द्वारा इन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। ये शस्त्रों के पाठ में सम्मिलित माने जाते थे। शस्त्रों के साथ कोई आहुति नहीं दी जाती थी। शस्त्रों के पाठान्त में मात्र आहवनीय में सोम की आहुति दी जाती थी। ये क्रियायें वेदी के उस पूर्वभाग में जहाँ तीनों अग्नियाँ नहीं हुआ करती थीं, सम्पादित की जाती थी। इस प्रकार वे समस्त क्रियाएँ जिन्हें साधारण यज्ञ की क्रियाएँ कहकर पूर्वकालिक कहा गया है, बाद के बड़े यज्ञों में भी सामान्यतया सम्पादित होती थी। अतएव यह कहना संभव नहीं है कि ये निविद ही यज्ञों के उद्भव थे अथवा प्राचीन कालीन ऋग्वेद के साधारण प्रकृति के यज्ञ।

---

1. के० आर० पोतदार : 'सैक्रिफाइसेज इन द ऋग्वेद' पृ० XVIII
2. डा० कुन्हन राजा : 'पोयट फिलासफर्स आव् द ऋग्वेद' पृ०

ब्राह्मण ग्रन्थों में मानव समाज में यज्ञ के उद्‌भव एवं प्रयोजन पर विशद विवेचन मिलता है। देवासुर संग्राम में असुरों को पराजित करने के बाद स्वर्ग में देवतागण में भुखमरी फैल गयी। उन्होंने पृथ्वीमण्डल से आहार ग्रहण कर जीने का निर्णय लिया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने सप्त होतृ यज्ञ का विधान बनाया एवं अयास्य अंगोरस को यज्ञ सम्पादन हेतु भेजा। इस प्रकार पृथ्वी मण्डल पर यज्ञ (क्लृप्ति) का पदार्पण हुआ, 'ते (देवाः) अमुष्मिन् लोके व्यक्षुध्यन्। तेऽब्रुवन्। अमुतः प्रदानं वा उपजीविमेति। ते सप्तहोतारं यज्ञं विधायावास्यंम्। आंगीरसं प्राहिण्वन्। एतेनामुत्र कल्पयेति। तस्य वा इयं क्लृप्तिः। यदिदं किञ्च। (तै० ब्राह्मण, 2.2.7. 3–4)। एक अन्य सन्दर्भ से विदित होता है कि देवतागण ने पृथु को यज्ञ प्रदान किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.7.5.1) में कहा गया है, 'योवै, सोमेन सूयते स देवसवः। यः पशुना सूयते। स देवसवः। यः इष्ट्या सूयते। स मनुष्यसवः। एतं वै पृथये देवाः प्रायच्छन्।'

अग्निहोत्र यज्ञ बृहस्पति द्वारा सम्पादित किया जाने वाला सात सौ वर्षीय सत्र में से सरलतम यज्ञ है। इस लम्बी अवधि वाले सत्र को धीरे-धीरे अग्निहोत्र आहुति में परिवर्तित कर दिया गया। प्रजापति ने सर्वप्रथम यज्ञ को देखा एवं उसे देवों के पास भेज दिया[1]। इसी अवधि में यज्ञों में सम्प्रदाय (वंशपरम्परा) का शुभारम्भ हुआ। यज्ञ सम्पादन के विषय में पिता अपने पुत्र को आदेश देता है।[2]

ब्राह्मणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यज्ञ का मूलभूत उद्देश्य धरती पर मानव जीवन को सुखमय एवं कल्याणमय बनाना था। मानव जीवन का सुख एवं कल्याण भौतिक सम्पत्ति के समुचित वितरण एवं स्वामित्व पर निर्भर था। भौतिक सम्पदा मनुष्य के मात्र निजी ऐन्द्रिक सुख के लिए ही नहीं थी। उसका सम्पूर्ण मानव समाज में न्यायिक वितरण आवश्यक था। इस प्रयोजन की पूर्ति की दिशा में जीवन के दृश्य एवं परोक्ष सभी अंगों एवं क्षेत्रों में यज्ञ कर्म समतुल्यता लाने के निमित्त आरम्भ किया गया। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

---

1. 'प्रजापतिरकामयत। दर्शपूर्णमासौ सृजेयेति। स एतं चतुर्होतारमपश्यत्। तं मनसाऽनुद्रुत्या हवनीयेऽजुहोत्। ततोवै स दर्शपूर्णमासावसृजत तापस्मात्सृष्टावया क्रामताम्। तैः ग्रहेणागृहणात्। ....सौम्यमध्वरमसृजत।' तै० ब्रा० 2.2 2.1–4 प्रजापतिः देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत तै० ब्रा० 1.3.2.5.
2. सोऽयं परोऽवरं........पितैव पुत्राय ब्रह्मचारिणे। श० ब्रा० 1.1.5.14

का यह मत है कि प्राचीन भारतीय वैदिक समाज में यज्ञ का प्रयोजन प्रकृति को मित्र बनाकर प्रसन्न रखना था, क्योंकि मानव का समस्त भौतिक सुख प्रकृति की विभिन्न शक्तियों से मैत्री होने पर ही सम्भव था। यह बड़ी ही व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण आस्था थी जो सदा हमारी प्राचीन संस्कृति के मूल में रही है।

अग्निहोत्र सम्पादित कर मनुष्य देवताओं के निमित्त अपनी आहुति देता है। निश्चित है कि इस आहुति से देवता मनुष्य पर प्रसन्न होते हैं। यज्ञ करने से मनुष्य समस्त भौतिक शक्तियों एवं पदार्थों को विधिवत् समझने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। यज्ञाचरण से ही उसे उस मानसिक चिन्तन हेतु पात्रता एवं सामर्थ्य प्राप्त होता है जिससे उसको प्राकृतिक शक्तियों का पारस्परिक ज्ञान मिलता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर ही मनुष्य परमसुख की स्थिति (स्वर्ग) प्राप्त कर सकता है। यज्ञ सम्पादन से मनुष्य को वाह्य भौतिक सुख, जैसे पुत्र-पौत्र पशु एवं सम्पत्ति आदि की प्राप्ति एवं उनकी अभिवृद्धि होती है, साथ ही आध्यात्मिक क्षेत्र में उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। वैदिक परम्परानुसार यही यज्ञों के फल हैं[1]।

यज्ञ की विधाएँ :—

यज्ञ में होम मुख्य कृत्य होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थल ऐसा आया है जहाँ यज्ञ में होम का उल्लेख नहीं किया गया है, 'प्रजा वै सत्रामासत तपस्तप्यमाना अजुह्वती:।' (तै० ब्रा० 1.4.9.3.)। यज्ञ की अनेक विधाएँ[2] हैं। यज्ञों का वर्गीकरण मुख्य आहुति पर निर्भर करता है। प्रमुख रूप से यज्ञ की तीन विधाएँ हैं, (1) इष्टि, (2) पशुबन्ध एवं (3) सौमिक। इष्टि में पुरोडाश की मुख्य आहुति दी जाती है। पशुबन्ध में पशु एवं सौमिक में सोमरस की प्रमुख आहुतियाँ दी जाती हैं। ब्राह्मणों में इन तीनों का बहुत स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता। इनमें सामान्यत: हविर्यज्ञ अथवा इष्टि एवं सोम-अध्वर में भेद किया जाता है, 'चत्वारो ह्येते हविर्यज्ञस्यर्त्विज:। ब्रह्मा होता

---

1. सर्वाभ्यो वा एस देवताभ्यो जुहोति। योऽग्निहोत्रं जुहोति। यथा खलु वै धेनुं तीर्थे तर्पयति। एवग्निहोत्री यजमानंतर्पयति तृप्यति प्रजया पशुभि:। प्र सुवर्गलोकं जानाति। पश्यति पुत्रम्। पश्यति पौत्रम् प्रजया पशुभिर्मिथुनैंजयिते। तैं० ब्रा० 2 1.8.3.

2. एवं वाव सर्वे यज्ञा: एकशतविधा आ अग्निहोमात् ऋग्भि: यजुभि अक्षरै: कर्मभि: सामभि:। श० ब्रा० 10.2.2.13

ऽध्वर्युरग्नीत् । तमभिमृशेत् । इदं ब्रह्मणः । इदं होतुः । इदमध्वर्योः । इदमग्नीध इति । यथैवादस्सौम्येध्वरे । (तै० ब्रा० 3.3.8.7-8) । ब्राह्मणों में पशुवन्ध यज्ञ के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है, उदाहरणार्थ, 'इष्टिपशुवन्धाः[1] सोमेन पशुना इष्ट्या ।' ब्राह्मणों में यज्ञों को देवसव एवं मनुष्यसव के अन्तर्गत भी विभाजित किया गया है । सोम एवं पशुवन्धयज्ञ देवसव की श्रेणी में तथा इष्टि यज्ञ को मनुष्यसव की श्रेणी में रखा गया है, 'यो वै सोमेनं सूयते स देवसवः । यः पशुना सूयते स देवसवः । यः इष्ट्या सूयते स मनुष्यसवः । एवं वै पृथये देवाः प्रायच्छन् ।' (तै० ब्रा० 2.7.5.1) ।

इसी प्रकार यज्ञों का एक अन्य विभाजन (1) नित्य (2) नैमित्तिक एवं (3) काम्य श्रेणियों के अन्तर्गत किया गया है । नित्य वे हैं जिनमें स्वेच्छा नहीं चलती, ये अपरिहार्य प्रकृति के हैं तथा जिन्हें प्रतिदिन करना होता है । नैमित्तिक विशिष्ट अवसरों पर किये जाते हैं । काम्य वे यज्ञ हैं जो विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये किये जाते हैं । प्रोफेसर हिलेब्रां ने यज्ञों का वर्गीकरण इष्टि, पशुवन्ध एवं सौमिक श्रेणियों में नहीं किया है । उन्होंने यज्ञों को केवल नित्य एवं नैमित्तिक श्रेणियों में वर्गीकृत किया है । स्पष्ट है कि इस वर्गीकरण में यज्ञ प्रक्रिया की विशिष्टता को ही उन्होंने आधार माना है, सिद्धान्तपक्ष को नहीं ।

ब्राह्मणों में अग्निष्टोम तथा इसके अन्य पाँच प्रकार के यज्ञक्रतु का उल्लेख मिलता[2] है । सायण ने अपने भाष्य में स्पष्ट किया है कि क्रतु में यूप होता है तथा नहीं भी होता । दूसरे शब्दों में सभी सोम यज्ञ क्रतु कहलाते हैं, 'क्रतु शब्दः सोमयज्ञषु रूढः ।' (काशिका 2.4.4) । 'यूपरहिता अग्निहोत्रादयो यज्ञाः । तद्वन्तः ज्योतिष्टोमादयो क्रतवः ।' (सूतसंहिता—तात्पर्यदीपिका 7.2.8) । कर्मकाण्डपरम्परा से शब्द 'यज्ञ' एवं 'अध्वर' में भी परस्पर भेद स्पष्ट किया गया है । शब्द 'अध्वर' केवल सोमयज्ञ के लिये प्रयुक्त हुआ है । अन्य 'यज्ञ' शब्द से, अभिहित हुए हैं जैसे 'हविर्यज्ञ' । उक्त विशिष्टताओं के साथ 'यज्ञ' एवं 'याग' प्रायेण समानार्थक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुए एवं माने गये हैं ।

एक अन्य आधार पर भी यज्ञों का वर्गीकरण मिलता है । यज्ञ का एक वर्ग प्रकृति तथा दूसरा विकृति कहलाता है । यह वर्गीकरण ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ के

1. जै० ब्रा० 1.4.32, तै० ब्रा० 2.7.5.1, तै० ब्रा० 2.2.2.1.4.
2. अग्निष्टोम उक्थ्योऽत्रिरात्रो द्विरात्रस्त्रिरात्रश्चतूरात्र तै० ब्रा० 3.10.1.4

सम्बन्ध में मिलता है। इनमें प्रकृति एवं विकृति की चर्चा तो नहीं की गयी है, किन्तु वे प्रकृति के सिद्धान्त का ही अनुसरण करते हैं। प्रकृतियाग यज्ञ के मानक हैं। जबकि विकृति प्रकृतियाग का संशोधित रूप है। इस आधार पर दर्शपूर्णमास्य सभी इष्टियों हेतु मानक है। इसी प्रकार निरूढ-पशुबन्ध पशुयाग एवं अग्निष्टोम सोमयाग के लिए मानक है।

अनेक कर्मकाण्ड को मिलाकर एक 'यज्ञ' सम्पन्न होता है। प्रत्येक कर्मकाण्ड इसका प्रधान अंग होता है। जो कर्मकाण्ड 'गौण' या 'पूरक' के रूप में होते हैं, अंग कहलाते हैं। एक याग में एक विशिष्ट कर्मकाण्ड यदि प्रधान होता है तो दूसरे याग में वही अंग हो सकता है।

सोम यागों का वर्गीकरण उनके सम्पादन के दिवसों की संख्या के आधार पर भी किया गया है। इस प्रकार सोमयाग चार प्रकार के होते हैं, जैसे—(1) साद्यस्क्र (2) एकाह (3) अहीन तथा (4) सत्र। वह यज्ञ जिसमें दीक्षा से लेकर अवभृथ तक समस्त कर्मकाण्ड एक दिन में समाप्त कर दिया जाय तो वह साद्यस्क्र ढंग का यज्ञ कहलाता है। एकाह यज्ञ में प्रधान कर्मकाण्ड एक दिन में पूर्ण कर दिया जाता है, दीक्षा एवं अवभृथ क्रियाएँ अन्य दिन पूरी की जाती हैं। यदि यज्ञ का प्रधान कर्मकाण्ड एक दिन से अधिक, किन्तु बारह दिन से कम की अवधि तक पूर्ण किया जाता है तो वह अहीन कहलाता है। वह यज्ञ उस स्थिति में सत्र कहलाता है जिसका प्रधान कर्म बारह दिनों से अधिक अवधि तक चलता रहता है।

सत्र दो प्रकार के होते हैं, (1) रात्रि सत्र जो बारह से लेकर दो सौ रात्रियों तक चलता रहता है, तथा (2) अयन सत्र जो एक सौ से अधिक रात्रियों तक चलता है। अनेक इष्टियों एवं सोमयागों को ही मुख्यतया सत्र के नाम से जाना जाता है। कतिपय काम्य यज्ञ 'सव' कहलाते हैं। ये एकाह होते हैं। राजसूय, अश्वमेध एवं पुरुषमेध अहीन के अन्तर्गत आते हैं।

सुविधानुसार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यज्ञों के निम्नांकित वर्गीकरण किये गये हैं :—

1–प्रकृति (मानक) एवं विकृति (संशोधित)।
2–प्रधान एवं अंग।
3–इष्टि, पशुक एवं सौमिक।
4–नित्य, नैमित्तिक एव काम्य।

सौमयागों को निम्नलिखित तीन प्रकारों में बाँटा गया है:—

(1) एकाह, (2) अहीन एवं (3) सत्र

यज्ञों की प्रमुख विशेषताएँ:—

वैदिक यज्ञ सम्पादन के लिये सामान्यतया यजमान का सपत्नीक होना आवश्यक है। ब्राह्मण काल में गार्हस्थ्य के महत्त्व एवं पावित्र्य का इससे आसानी से अनुमान लगाया जा सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है, अथो अर्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी।' (3.3.3.5) कोई भी व्यक्ति बिना पत्नी के यज्ञ करने का अधिकारी नहीं माना जाता, 'अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः।' (तै० ब्रा० 3.3.3.1)। अतः गृहस्थ को ही यज्ञ सम्पादन के लिये पात्र माना गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (7.8-10) के अनुसार अविवाहित व्यक्ति अथवा विधुर को भी यज्ञ करने हेतु अधिकारी माना गया है।

कुछ श्रेणी के व्यक्तियों के लिये कतिपय ऋतु या समय आधान आरम्भ करने के लिये लाभप्रद बताये गये[1] हैं। साथ ही साथ यह भी निर्देश दिये गये हैं

---

1. कृत्तिकास्वग्निमादधीत। एतद्वा अग्नेर्नक्षत्रम्। यत्कृत्तिकाः। स्वायामेवैनं देवतायामाधाय ब्रह्मवर्चसी भवति। मुखं वा एतन्नक्षत्राणाम्। यत्कृत्तिकाः। यः कृत्तिकास्वग्निमाधत्ते। मुख्य एव भवति। अथो खलु। अग्निनक्षत्रमित्यपचायन्ति। गृहान् ह दाहुको भवति। प्रजापती रोहिण्यामग्निम-सृजत। तं देवा रोहिण्यामादधत। ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहन्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्। यो रोहिण्यामग्निमाधत्ते। ऋध्नोत्येव। सर्वान् रोहान् रोहति। देवा वै भद्रास्सन्तोऽग्निमाधित्सन्त। तेषामनाहितोऽग्निरासीत्। अथैभ्यो वाम वस्वपाक्रामत्। ते पुनर्वस्वोरादधत। ततो वै तान् वामं वसूपावर्तत। यः पुराऽभद्र-स्सन्पापीयांत्स्यात्। स पुनर्वस्वोरग्निमादधीत। पुनरेवैनं वामं वसूपावर्तते। भद्रो भवति। यः कामयेत दानकामा मे प्रजास्स्युरिति। स पूर्वयोः फल्गुन्योरग्निमादधीत अर्यम्णो वा एतन्नक्षत्रम्। यत्पूर्वे फल्गुनी। अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति। दानकामा अस्मै प्रजा भवन्ति। यः कामयेत भगी स्यामिति। स उत्तरयोः फल्गुन्योरग्निमाद-धीत। भगस्य वा एतन्नक्षत्रम्। यदुत्तरे फल्गुनी। भग्येव भवति। कालकञ्जा वै नामा सुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकायाग्निमचिन्वत। पुरुष इष्टकामुपादधात्पुरुष इष्टकाम्। सइन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाण इष्टकामुपाधत्त एषा मे चित्रा नामेति। ते सुवर्गं लोकमाप्रा रोहन्। स इन्द्र इष्टकामावृहत्। तेऽवाकीर्यन्त। येऽवाकीर्यन्त। त ऊर्णाविभयोऽभवन्। द्वावुदपतताम्। तौदिव्यौश्वानावभवताम्। यो भ्रातृव्यवांत्स्यात्। स चित्रायामग्निमादधी। अवकीर्यैव भ्रातृव्यान्। ओजोबलमिन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते। वसन्ता ब्राह्मणोऽग्निमादधीत वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः। तै० ब्रा० 1.1.2.1-7

कि आधान को टालना नहीं चाहिये। जब भी श्रौतयज्ञ करने के लिये व्यक्ति की इच्छा प्रबल हो उसे आधान करना चाहिये[1]।

१. आधान :—ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण कर यदि विवाहित व्यक्ति श्रौत यज्ञ करना चाहता है तो उसे आधान आरम्भ करना चाहिये[2]। श्रौत (वैदिक) यज्ञ आरम्भ करने के लिये तीन पवित्र अग्नियों की आवश्यकता होती है, उदाहरणार्थ; (1) आहवनीय, (2) गार्हपत्य, एवं (3) दक्षिणाग्नि[3]। इन तीनों पवित्र अग्नियों को प्रसन्न करने के लिए आधान किया जाता है। आधान सम्पन्न करने के बारे में एक पृथक विधान बताया गया है। गार्हपत्य में निरन्तर अग्नि सुरक्षित रखी जाती है तथा विहित निर्देशानुसार यज्ञ के समय इस अग्नि में से अन्य दो कुण्डों में अग्नि हस्तान्तरित की जाती है। कुछ को छोड़कर अन्य सभी होम आहवनीय अग्नि में ही किये जाते हैं। आधान के दिन से यज्ञकर्ता को आहिताग्नि (जिसने अग्न्याधान कर लिया है) कहते हैं।

पुनराधान : गार्हपत्य अग्नि निरन्तर जलती रहती है, किन्तु यदि किसी कारण-वश गार्हपत्य अग्नि बुझ जाती है तो आहिताग्नि (यजमान) को आधान की प्रक्रिया नये सिरे से पुनः आरम्भ करनी पड़ती है। इसे कर्मकाण्ड की शब्दावली में पुनराधान कहा जाता है।

२. अग्निहोत्र :—हविर्यज्ञ के अन्तर्गत[4] अग्निहोत्र दूसरे स्थान पर गिनाया गया है। अग्नि को उद्दिष्ट कर इसमें आहुतियाँ दी जाती हैं।

आहिताग्नि द्वारा सपत्नीक प्रातः सायंकालीन दोनों सन्ध्याओं में नित्य किये गये यज्ञ को अग्निहोत्र कहा जाता है। आहुतियाँ देकर एवं पूजामन्त्र पढ़-कर अग्नि का आवाहन किया जाता है। अग्निहोत्र में घी आज्यों के अतिरिक्त शालि अथवा दूध की हवि दी जाती है। अग्निहोत्र दार्शिकी वेदि में किया जाता है। नित्य किये जाने के कारण ही अग्निहोत्र को आजीवन सत्र कहा गया है। अग्निहोत्र को कभी समाप्त नहीं करना चाहिये। वृद्धावस्था अथवा मृत्यु ही

---

1. अथो खलु यदैवैनं यज्ञ उपनमेत्। अथादधीत्त सैवास्यर्द्धिः। तै० ब्रा० 1.1.2.8 तस्माद्य-दैवैनं कदा च यज्ञ उपनमेत्। अथाग्नीऽ आदधीत। न श्वः श्वमुपासीत। को हिमनुष्यस्य श्वो वेद श० ब्रा० 2.1.3.9
2. तै० ब्रा० 1.1.2 से 1.2.1; 1.3.1; श०ब्रा० 2.2.1,3
3. इन तीनों अग्नियों से सुसज्जित वेदि को 'दार्शकी' वेदि कहा गया है।
4. तै० ब्रा० 2.1; श० ब्रा० 2.2.

अग्निहोत्र को समाप्त अथवा उसमें व्यवधान उत्पन्न कर सकते[1] हैं। जैमिनीय ब्राह्मण में अग्निहोत्र को अग्निष्टोम, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य तथा पशुवन्ध का रूप बतलाया[2] गया है। ब्राह्मणों में अग्निहोत्र को अपराजित कहा गया है तथा उसके यजमान दम्पति को अपराजेय बतलाया[3] गया है। शतपथ ब्राह्मण में सूर्य को ही अग्निहोत्र की संज्ञा दी गयी[4] है। सायंकाल आहुति देने का उद्देश्य यह है कि सायं सन्ध्या में देवगण घर में प्रविष्ट होते हैं। इसी प्रकार प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व आहुतियाँ इसलिए दी जाती हैं कि देवों के घर के जाने से पूर्व ही ये उन्हें प्राप्त[5] हो जायँ।

सूर्यास्त के समय की आहुति अग्निदेव के लिए तथा प्रातःकाल की आहुति सूर्यदेव के लिये होती है। 'अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहा' मन्त्र अग्निदेव तथा 'सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः' मन्त्र सूर्यदेव के लिए प्रयुक्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार नित्य अग्निहोत्र करने वाला गायत्री लोक में पहुँच जाता है। अग्निहोत्र सम्पादित करने से अनन्त सन्तति व वैभव की प्राप्ति बतलायी गयी है। अन्ततोगत्वा यजमान ब्रह्मवर्चस्व प्राप्त कर लेता है। तथा मृत्यु के बन्धन से मुक्ति पा लेता है। इसे स्वर्ग की नौका कहा गया है[6]।

३. **इष्टि** :—वह यज्ञ जिसमें प्रमुख आहुति पुरोडाश की डाली जाती है, इष्टि कहलाती है। ब्राह्मणों में इष्टि का विशिष्ट वर्णन मिलता है। इस कर्मकाण्ड में एक विशिष्ट देवता आराध्य होता है तथा इनमें कपालों (मिट्टी के घड़ों) की संख्या महत्वपूर्ण होती है। कपालों की संख्या के आधार पर इष्टि का नामकरण मिलता है। उदाहरणार्थ, अग्नेयाष्टकपाल, अग्निसोमीय कपाल, एवं एकादश कपाल आदि। इन मिट्टी के पात्रों में पुरोडाश पकाया जाता है। उत्सव एवं देवताओं के गुणों के अनुसार इन पात्रों की संख्या एक से सोलह के बीच रखी जाती है। पिसे हुए चावल की बनायी गयी हवि को पुरोडाश कहते हैं। इष्टि

---

1. एतद्वैजरा········वास्मान्मुच्यते वा। श०ब्रा० 12.4.1.1.
2 जै० ब्रा० 1,38-40
3. तद् वा अपराजितं यद्अग्निहोत्रम्।
   न ह वै पराजयते य एवं वेद।।'
   जै० ब्रा० 1,4
4. सूर्योहवा अग्निहोत्रम्—श०ब्रा० 2.3.1.1
5. श०ब्रा० 2.3.1.9
6. श०ब्रा० 2.3.3.15

सम्पादित करने के लिए यजमान को चार ऋत्विजों की सहायता लेनी पड़ती है। इष्टि कर्मकाण्ड में अधोलिखित विवरण उल्लेखनीय हैं :—हविष् की तैयारी—जैसे, चावल को कूट पीस कर उसकी लोई बनाकर पुरोडाश को पकाना; सामिधेयिकर्म—पवित्राग्नि को प्रज्वलित करना अयाज; प्रधान होम अर्थात् प्रमुख आहुति, सविष्टकृत होम, इड़ा त्याग, अवशिष्ट हवि; अनुयाज; पत्नीसंयाज एवं अन्य होम।

सामान्यतया एक पक्ष (15 दिन) में एक बार इष्टि करनी आवश्यक बतलायी गयी है। पूर्णमासेष्टि पूर्णिमा के दिन जब चन्द्र समस्त कलाओं से पूर्ण रहता है तथा दर्शेष्टि जब चन्द्रोदय होता है की जाती है[1]। कतिपय बातों को छोड़कर इन दोनों इष्टियों में परस्पर प्रक्रियागत समानता है। कुछ इष्टियाँ पूर्णतया स्वतन्त्र होती हैं जबकि अधिकांश इष्टियाँ किसी न किसी यज्ञ की सहायिका हुआ करती हैं। उदाहरण स्वरूप वर्ष में दो बार जब नयी फसल कटकर घर आती है तो आग्रयणेष्टि अपने में स्वतन्त्र रूप से की जाती है, जबकि प्रायणीयेष्टि सोमयाग में एक सहायिका के रूप में की जाती है। इससे ही सोमयाग प्रारम्भ होता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण इष्टियाँ इस प्रकार हैं:—आग्रयणेष्टिः, आतिथ्येष्टिः, दर्शेष्टिः, दीक्षणीयेष्टिः, नवशस्येष्टिः, पवमानेष्टिः, पवित्रेष्टिः, पूर्णमासेष्टिः, प्राजापत्येष्टिः, प्रायणीयेष्टिः, महावैराजेष्टिः, मित्रविन्देष्टिः, वैश्वानरेष्टिः, साङ्ग्रहण्येष्टिः, तथा सावित्रेष्टिः।

4–**चातुर्मास्यः**— चातुर्मास्य[2] वर्ष के प्रत्येक त्रैमास में पूर्णिमा के दिन कुछ यज्ञ किये जाते हैं। इन यज्ञों को चातुर्मास्य कहा गया है। इनतीनों के नाम हैं, (1) वैश्वदेव, (2) वरुण प्रघास एवं (3) शाकमेध।

वैश्वदेव एक इष्टि की तरह सम्पादित होता है, किन्तु इसकी प्रक्रिया अति विस्तृत है। इसमें चरु, पुरोडाश, आमोक्षा आदि अनेक आहुतियाँ दी जाती हैं। वरुणप्रघास इस इष्टि से कई बातों में भिन्न होती है। इसकी प्रमुख आहुतियों में से पशु की आहुति मुख्य है। इसके अतिरिक्त नौ देवताओं को नौ प्रधान आहुतियाँ दी जाती हैं। इस आयोजन में एक विशिष्ट प्रकार की वेदि उपयोग में लायी जाती है। प्रथम दार्शिकी वेदी के अतिरिक्त उसके दक्षिण में एक अन्य वेदि तैयार रहती है। वरणप्रघास में दो और ऋत्विजों की आवश्यकता

1. तै० ब्रा० 3.2-2; श० ब्रा० 1.1.11
2. तै० ब्रा० 1.6.; श० ब्रा० 2.4.2-2.5.5

पड़ती है । इस यज्ञ में एक अति महत्त्वपूर्ण कृत्य सम्पादित होता है जिसमें पत्नी की शुद्धि के सम्बन्ध में कर्मकाण्ड होता है । उस कर्मकाण्ड में अध्वर्यु द्वारा पत्नी से यह पूछा जाता है कि क्या उसने अपने पति (यजमान) के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के साथ सम्भोग किया है । यदि पत्नी ने ऐसा कुकृत्य किया हो तो उसके द्वारा प्रश्नगत पुरुष का नाम बतलाये जाने पर पत्नी की शुद्धि की जाती है । इस प्रकार पत्नी के दुष्कृत के पश्चात्ताप एवं परिमार्जन पर इसलिये गम्भीरतापूर्वक शुद्धि सम्बन्धी क्रिया सम्पादित की जाती है ताकि उस दुष्कृत से यजमान की पत्नी को मुक्ति मिल सके एवं यज्ञ की पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे । इसलिये यदि पत्नी स्पष्ट अभिधान द्वारा त्रुटि (यदि की हो तो) स्वीकार नहीं करती थी तो उसे उसके घनिष्ठ परिवारजनों से बहिष्कृत कर दिया जाता था । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यज्ञों के अनुष्ठान से समाज में किस स्तर तक अनिन्द्य गुणों, चारित्रिक पवित्रता एवं निष्ठा उत्पन्न की जाती थी । साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पवित्रात्मा व्यक्ति ही यज्ञ सम्पादन हेतु पात्र हो सकते हैं, इतर व्यक्ति नहीं ।

शाकमेध यज्ञ में चार भाग होते हैं । इनके बाद सुनासीरीय कृत्य किये जाते थे । इस यज्ञ की प्रक्रिया भी वैश्वदेव के समान ही है, यत्र-तत्र थोड़ी भिन्नता अवश्य होती है ।

5–पशुबन्ध :— पशुबन्ध अथवा निरूढ पशुबन्ध एक सरल प्रकृति का पशुयाग है। यह सात हविर्यज्ञ संस्थाओं में से एक है[1] । पशुओं की प्राप्ति हेतु इसका विधान है । ब्राह्मणों में पशुबन्ध याग पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया गया है । शतपथ ब्राह्मण में इस याग का संक्षिप्त वर्णन किया गया है । यह दो प्रकार का होता है, प्रथम स्वतन्त्र पशुबन्ध तथा दूसरा सोमयज्ञ स्वतन्त्र पशुयाग का दूसरा नाम निरूढ पशुबन्ध है । इसमें विशेष प्रकार की वेदि होती है । इसे छः ऋत्विजों की सहायता से यजमान पूर्ण करता है । इस उत्सव का श्रीगणेश अग्नवैष्णवेष्टि से होता है । तदुपरान्त 'यूप' गाड़ा जाता था । यूप की अपनी महिमा बतलायी गयी है । चारों दिशाओं को जीतने की कामना करने वाला यजमान चार हाथ लम्बा यूप बनाता है[2] । यूप उदुम्बर, खदिर अथवा प्लक्ष वृक्ष की लकड़ी का बना हुआ एक रनि (हाथ) दो रनि अथवा चार रनि की लम्बाई

---

1. गो० 1,5,7,
2. स यत्पशुना यक्ष्यमाणः । एकारत्नि-यूपं कुरुतऽइममेव तेन लोकं जयत्यथ यद्द्वयरनिमन्तरिक्षलोकमेव तेन जयत्यथ यच्चतुररनि दिशऽएव तेन जयति ।' श० ब्रा० 11,7,4,1

एवं मोटाई का दण्ड होता है। अग्नि वेदि पर ले जायी जाती है। पशु को 'यूप' से बाँध कर उसपर अभिमन्त्रित जल छिड़का जाता है। प्रधान वलि देने के पूर्व कतिपय देवताओं को दस आज्य अर्थात् आज्य होम की आहुति दी जाती है। तव आग्नीध्र अपने हाथ में अग्नि लेकर पशु एवं समिधा के साथ समिधगृह पहुँचता है। उसके वाद साँस को रोककर पशु की जीवन वलि दी जाती है। एक-एक कर पशु के शरीर से पूर्व निर्धारित अंग निकाले जाते हैं। ये अंग हैं, वपा, हृदय, जिह्वा, वक्ष (छाती का मध्य भाग), यकृत (लिवर) वृकयु (गुर्दे) सव्य वाहुमूल (वांयी भुजा कुक्षि), पार्श्वद्वय, दक्षिण श्रोणी (दांयी जङ्घा) एवं गुदद्वय (वड़ी आंत)। तव वपा (मांसपिण्ड) को वेदि पर ले जाया जाता है। एकादश प्रयाज की क्रिया के वाद विहित प्रक्रियानुसार मन्त्रोच्चार सहित वपा को देवता को समर्पित किया जाता है। उसी देवता को पुरोडाश दिया जाता है तथा पशु के विभिन्न अंगों को समिधाग्नि में पकाकर देवता को समर्पित किया जाता है। इसके वाद एकादश अनुयाज किया जाता है, जो कि प्रयाजों की भाँति आज्य होम हैं। इधर अध्वर्यु जव अनुयाज की आहुति देता है तो इधर प्रतिप्रस्थाता अन्य आहुतियाँ समिधाग्नि में डालता है। उस समय समिधाग्नि उत्तर वेदि के पश्चिमोत्तर कोने में वापस लाकर रख दी जाती है। तदनन्तर, इष्टि की तरह ही यज्ञोत्सव समाप्त होता है।

डा० गणेश उमाकान्त थीटे के अनुसार पशुयाग में तीन तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं (क) पशुयाग का सम्बन्ध सोमयज्ञ से है और इसका वहुत अधिक माहात्म्य वतलाया गया है। (ख) यह याग आलोत्सर्ग का प्रतिरूप है। यह पशुबलि का वह रूप प्रस्तुत करता है जिसमें हिंसा नहीं होती है। (ग) अन्ततोगत्वा पशु पुनः जीवित होता है तथा यजमान के साथ स्वर्ग लोक प्रयाण करता[1] है।

सोमयाग :— सोमयाग का श्रीगणेश दीक्षणीयेष्टि के साथ होता है। उसी दिन से यजमान दीक्षा लेता है। दूसरे दिन प्रायणीयेष्टि की जाती है। वास्तव में दूसरे दिन के क्रियाकलाप के साथ ही सोमयाग आरम्भ होता है। सोमलता को लाकर उसकी पूजा में आतिथ्येष्टि की जाती है। उसके बाद तानूनप्त्र किया जाता है जिसमें सभी ऋत्विक् एवं यजमान एक पात्र में रखे हुए आज्य का स्पर्श करते हैं। यह उनकी सद्भावना एवं सहशान्ति भाव का प्रतीक होता है। उपर्युक्त इष्टियाँ दार्शिकी वेदि पर ही की जाती हैं। तीसरे दिन प्रवर्ग्य एवं उपसद की

1. सैक्रिफाइस इन द ब्राह्मण टेक्स्ट्स पृ० 151, —डा० गणेश उमाकान्त थीटे

क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। इसके साथ ही इन्द्र देवता को लक्ष्यकर सुब्रह्मण्याह्वान भी किया जाता है। ये सभी क्रियाएँ सायंकाल तथा आगामी दो दिनों तक भी की जाती हैं। चौथे दिन प्रातःकालीन प्रवर्ग्य एवं अन्य क्रियाओं के बाद महावेदि तैयार की जाती है। पांचवें दिन एक प्रारम्भिक पशुयाग किया जाता है। अग्नि, सोम देवता को पशु चढ़ाया जाता है। छठें दिन से विस्तृत कर्मकाण्ड आरम्भ होता है। उस दिन प्रातःकाल होता प्रातरनुवाक का पाठ करता है। दधि से होम करने के वाद सोमलता को दो टुकड़ों में तोड़ दिया जाता है। छोटे वाले टुकड़े को मध्यान्ह सवन हेतु रख कर प्रातःकाल के लिये रखे गये बड़े सोमलता के टुकड़े को पत्थर में पेरकर उसका रस निकाला जाता है जिसे महाभिषव कहते हैं। सोमरस को छानकर एक पात्र में रख दिया जाता है। तदनन्तर, सोमरस एवं पशु वपा की आहुति एक के बाद एक के क्रम से दी जाती है। स्तोत्र एवं शास्त्रों का पाठ किया जाता है। इस प्रकार सोमरस की आहुति के साथ प्रातः सवन सम्पन्न होता है। मध्यान्ह के सवन में प्रातःकालीन सवन की ही भाँति एक ओर ऋत्विक्गण सोमरस पेरकर निकालते हैं, तो दूसरी ओर ग्रावस्तुत रस निकालने वाले पत्थरों की प्रशस्ति में साम की ऋचाएँ गाते हैं। कतिपय होम के बाद दक्षिणा बाँटी जाती है और स्तोत्रों एवं शास्त्रों का पाठ किया ज़ाता है। मध्याह्न सवन से अवशिष्ट सोमलता को पुनः पेरकर तृतीय सवन हेतु रस निकाला जाता है। पुनः पशु के अंगों की आहुति दी जाती है तथा निर्धारित पाठ किये जाते हैं। इस प्रकार रात ढलने तक तीनों सवन सम्पन्न किये जाते है। तृतीय अर्थात् सायन्तन सवन के वाद आग्नीध्रेय में दधि त्याग करते हैं जो इस तथ्य का द्योतक होता है कि प्रातःकाल तानूनप्त्र द्वारा लिया गया संकल्प निरस्त हो गया।

आगामी दिन अवभृथ सम्बन्धी अन्तिम क्रिया का दिन होता है। यज्ञोत्सव का समापन एवं दीक्षा से मुक्ति की चरम परिणति सरोवर अथवा सरिता में यजमान एवं उसकी पत्नी के स्नान के साथ होती है। इस स्नान एवं तत्सम्बद्ध अन्य कर्मकाण्ड को अवभृथ कहते हैं। यजमान एवं उसकी पत्नी को एक शोभायात्रा में सरोवर अथवा सरिता तट तक ले जाया जाता है। उनके साथ-साथ यज्ञ में प्रयुक्त बर्तन, एवं सोमलता के अवशिष्ट अंश (ऋजिष्) भी उक्त जलाशय तक ले जाये जाते हैं। तब जलाशय में अवभृथेष्टि सम्पन्न होती है। जल में उक्त ऋजिष् का विसर्जन किया जाता है। तदन्तर, सपत्नीक यजमान ऋत्विजों के साथ जल में डुबकी लगाकर स्नान करता है। फिर वे दोनों यज्ञ-

शाला में वापस आकर उदयनेष्टि करते हैं। सोमयाग का यह एक मानक (नमूना) है जिसे अग्निष्टोम[1] की संज्ञा दी गयी है। अन्य सोमयाग[2] इसी प्रकार सम्पादित किये जाते हैं। सामान्यतः छः प्रकार के सोमयाग वर्णित हैं (1) उक्थ्य (2) षोडशी (3) अतिरात्र, (4) अत्यग्निष्टोम, (5) वाजपेय एवं (6) अप्तर्याम[3]। इनमें प्रक्रिया में कुछ भेद हैं तथा इनमें से क्रमशः एक और स्त्रोत एवं शस्त्र सायं सवन कर्म में जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार अप्तर्याम में सवन कर्म सारी रात चलता रहता है। यह उल्लेखनीय है कि सोमयाग का नामकरण उसके आयोजन सम्वन्धी रातों की संख्या पर रखा गया है, उदाहरणार्थ; त्रिरात्र चतुरात्र आदि[4]।

६. **वाजपेय यज्ञ** :—वाजपेय याग अग्निष्टोम का एक विकृतियाग है। भिन्न-भिन्न विचारकों ने 'वाजपेय' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। वेबर ने वाजपेय का अर्थ शक्ति लगाया है। 'पारक्षणे' धातु से मिलकर इस शब्द का अर्थ वह शक्ति-रक्षण शक्ति-संचय[5] करते हैं। प्रो० कीथ एवं एगलिंग 'पा' धातु पान करने के अर्थ में लेकर इसका अर्थ शक्तिवर्द्धक सोमरस का पान करना बताते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाजपेय का अर्थ देवों द्वारा शक्ति प्रदान किया जाना बतलाया गया[6] है। शतपथ ब्राह्मण में अन्न व पीना दोनों ही अर्थों में इसका प्रयोग माना गया है[7]। अतएव ब्राह्मणों के अनुसार इस यज्ञ में भोजन एवं पान का ही प्राधान्य चर्चित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा कौषीतकि ब्राह्मण में सोम को देवगणों का श्रेष्ठ पेय बतलाया गया है[8]।

---

1. पं० ब्रा० 6; श० ब्रा० 3.4.
2. 'यज्ञमुखं वां अग्निष्टोमः' तै० ब्रा० 1.8.7.1
3. अग्निष्टोम उक्थ्योऽतिरात्रो द्विरात्र स्त्रिरात्रश्चतूरत्रः तै० ब्रा० 3.10.1.4
   एष ह्येव तेऽर्धमासाः। एष भाषाः। अथ यदाह। अग्निष्टोम उक्थ्योऽग्निर ऋतुः प्रजापतिर्स्संवत्सर इति। एष एव तत्। एष ह्येष ते यज्ञक्रतवः। तै० ब्रा० 3.10.9.8 यो ह वै यज्ञकृतूनां चर्तूनां च संवत्सरस्य च नाम धेयानि वेद। न यज्ञक्रतुषु नर्तुसु न संवत्सर आर्तिमाच्छैति। अग्निष्टोम उक्थ्योऽग्निर ऋतुः प्रजापतिस्संवत्सर इति। एतेऽनुवाका यज्ञक्रतूनां चर्तूनां च संवत्सरस्य च नामधेयानि। तै० ब्रा० 3.10.10.4
4. तै० ब्रा० 1.3.2-9; श० ब्रा० 5.1.2
5. कृष्ण यजुर्वेद का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 109
6. तै० ब्रा० 1.3.2.3.
7. श० ब्रा० 5.1.3.3. 'अन्न पेयं हवै नाम एतद् यद् वाजपेयम्' जै० ब्रा० 2,192
8. तै० ब्रा० 1.3.3.2-3., कौ० ब्रा० 14,5

इस यज्ञ को सम्पादित करने की पात्रता मात्र ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण के व्यक्तियों को प्रदान की गयी है, वैश्यों को नहीं। यह याग शरद ऋतु में सम्पन्न किया जाता है। इसके पूर्व व अन्त में बृहस्पतिसव सम्पादित करना होता है। बृहस्पतिसव के स्थान पर वैकल्पित व्यवस्था में ज्योतिष्टोमयाग करने का भी विधान बतलाया गया है। वाजपेय याग की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इसमें सातदीक्षा-दिवस होते हैं तथा तीन उपसद एवं एक दिन का सोम कर्मकाण्ड होता है। सत्रह आकृतियों के बराबर ऊँचाई वाला उदुम्बर का यूप सत्रह कपड़ों से वेष्टित किया जाता है। सोम के अतिरिक्त इसमें सुरा प्रधान आहुति होती है। सोमयाग के अतिरिक्त इसमें बाईस पशुओं (सवनीय पशुओं) की आवश्यकता होती है। अग्नि आदि पाँच देवों को पशुओं की वपा का होम किया जाता है। प्रजापति को सत्रह पशुओं की वपा का होम होता है। यागान्त में यजमान तथा अन्य सहयोगी रथ पर चढ़कर घोड़े दौड़ाते हैं। इसे आजिधावन कहा गया है। इस समय वाजसनेयि संहिता का मन्त्र उच्चारित[1] होता है।

चयन :—चयन का वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.10;11, एवं 12) तथा शतपथ ब्राह्मण (6,7,8,9 एवं 10) में मिलता है। सोमयाग में आहवनीय अग्नि जिस स्थान पर रखी जाती है वह उत्तरवेदी प्रायेण चौकोर होती है। वह एक विशिष्ट ढंग से निर्मित की जाती है जिसे चिति कहते हैं। उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को चयन कहा जाता है। जिस सोमयाग में इसका उल्लेख मिलता है उसे साग्निचित् सोममाग कहते हैं। यष्टा पूर्णिमा को अथवा चन्द्रोदय होने पर यह संकल्प लेता है कि एक वर्ष बाद वह चयन करेगा। एक निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार उस दिन कतिपय कर्मकाण्ड एवं होम करने के पश्चात् यज्ञकर्ता एक मिट्टी का पात्र तैयार करता है जिसे उखा कहते हैं। उसके एक माह के बाद वायु देवता के प्रसादार्थ वह एक पशुयाग करता है। वेदि के निर्माण हेतु कुछ खास ढंग की ईंटों की आवश्यकता होती है। तब तीन दिन से वर्षभर के लिये दीक्षा ली जाती है। दीक्षारम्भ की तिथि इस प्रकार निश्चित की जाती है कि सोम यागोत्सव वसन्त ऋतु की पूर्णिमा को पड़े। इस प्रकार जिस दिन वह दीक्षा लेने का संकल्प लेता है तथा अपने घर पर ही दीक्षणीयेष्टि करता है। उखा को सूखी घास से भरकर इस प्रकार आहवनीय अग्नि पर उसे चढ़ा कर घास को जलाया जाता है कि बिना अग्नि का सीधा सम्पर्क हुए भी सूखी घास जल उठे। इस उखाग्नि का उपस्थान

1. वाज० सं० 9,5

द्वारा आवाहन किया जाता है। यज्ञकर्ता उखा को अपनी गर्दन से कपड़े अथवा रस्सी आदि से इस प्रकार लटका लेता है कि उखा नाभि के पास आ जाय। यज्ञ-कर्ता चार कदम पूर्व की ओर चलता है। इसे विष्णुक्रमण कहते हैं। तदुपरान्त कुछ अन्य क्रियाएँ की जाती हैं। दूसरे दिन वह उखाग्नि का आवाहन व स्तुति करता है। दीक्षा दिवसों के अन्त तक ये विष्णुक्रमण एवं उपस्थान प्रत्येक अतरे दिन (एक दिन छोड़कर दूसरे दिन) किये जाते हैं। दीक्षा के अन्तिम दिन उक्त दोनों क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं तथा यजमान उस स्थल पर आ जाता है जहाँ उसने चयन करने का निश्चय किया था। वह अपने साथ उखाग्नि गार्हपत्याग्नि एवं दक्षिणाग्नि लिये रहता है। गार्हपत्याग्नि एवं दक्षिणाग्नि को उनके नियत स्थानों पर रख दिया जाता है।

अब सोमयाग की भाँति प्रायणीयेष्टि एवं अन्य प्रवर्ग्य एवं उपसद इष्टियाँ भी सम्पन्न की जाती हैं। प्रवर्ग्य के प्रत्येक दिन प्रधान वेदि वनायी जाती है, पाँचवें दिन पाँचवी पर्त डाल देने के बाद शालरुद्रीय होम किया जाता है। चिति के उत्तरी-पश्चिमी कोने पर रखी ईंट पर फैलाये गये अर्कपत्र में बकरी का दूध चढ़ाया जाता है। रुद्राध्याय के पाठ के साथ-साथ बकरी का दूध अर्कपत्र में अजस्रधारा में गिराया जाता है। उसके बाद पवित्र अग्नि को वेदि पर रखकर कतिपय निर्धारित क्रियाएँ की जाती हैं। वसोधारा होम भी किया जाता है। लम्बी जुहू से अजस्त्र धारा में आज्य की आहुति दी जाती है। इन सभी कर्म-काण्डों के साथ-साथ वे पाठ निरन्तर चलते रहते हैं जो सामान्यरूप से अग्निष्टोम में किये जाते हैं।

8. सौत्रामणी यज्ञ :—सौत्रामणी का वर्णन तैत्तरीय ब्राह्मण (1.8.5 एवं 6) तथा शतपथब्राह्मण (5.5;एवं12.7) में मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सौत्रामणी क्लीव की भाँति न पूर्ण इष्टि है और न पशुबन्ध ही है। अग्नि चयन के ठीक बाद सौत्रामणी नामक पशुयाग करना निर्धारित किया गया है, 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत, मैत्रावरुण्या वा।' (तै० ब्रा० 3.12 5.12) इस याग में तीन पशुओं तथा पशु पुरोडाशों के साथ-साथ सुरा की भी प्रमुख हवि दी जाती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वाजपेय को छोड़कर अन्य यागों में सुरा का स्थान अत्यन्त गौण होता है। **सौत्रामणी याग के मुख्यतया दो भेद हैं (1) स्वतन्त्र (2) अङ्गभूत। स्पष्ट है कि जिसका सम्पादन स्वतन्त्र रूप से किया**

जाता है वह स्वतन्त्र सौत्रामणी याग कहलाता है तथा अङ्गभूत सौत्रामणी वह याग है जिसका सम्पादन अङ्ग के रूप में किया जाता है। स्वतन्त्र के तीन भेद हैं; नित्या, काम्या, तथा नैमित्तिकी। बिना किसी फल की कामना से आचरित नित्या, फल के उद्देश्य से सम्पादित काम्या तथा सोम-वपन के बाद अनुष्ठित सौत्रामणी को नैमित्तिकी कहा गया है। स्वतन्त्र प्रकृति की सौत्रामणी केवल ब्राह्मण वर्ण के लोग सम्पादित कर सकते हैं, अङ्गभूत को क्षत्रिय एवं वैश्यवर्ण भी कर सकते हैं। इस याग में अश्विनी कुमार, सरस्वती, और इन्द्र देवगण होते हैं जिनके लिये क्रमशः बकरा, भेंड़ एवं ऋषभ का प्रयोग विहित[1] है। आपस्तम्ब तीन पशुओं वाली सौत्रामणी का उल्लेख करता है जिसे कौकिल सौत्रामणी कहा गया है। यह याग चार दिनों में सम्पादित होता है। इसमें ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, आग्नीध्र, प्रतिप्रस्थाता और मैत्रावरुण ऋत्विक्‌गण अनुष्ठानरत होते हैं।

सौत्रामणी याग करने का मुख्य उद्देश्य पाप से शुद्धि प्राप्त करना बतलाया गया है। इस यागानुष्ठान से रोगी को रोग से छुटकारा पाने के अनेक उल्लेख ब्राह्मणों में मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह याग ब्राह्मणों द्वारा अति आदर को प्राप्त हुआ[2]। इस याग का सम्बन्ध प्रजापति से बतलाया गया है। कहा जाता है कि प्रजापति स्वयं रिक्त हो गये थे, वह इसी याग के अनुष्ठान से पुनः पूर्ण हुए थे। शतपथ ब्राह्मण में इसे इन्द्र का भी याग कहा गया[3] है। डॉ० गणेश उमाकान्त थीटे ने इस यज्ञ की प्रकृति, प्रक्रिया तथा प्रयोजन आदि के बारे में विशिष्ट अध्ययन किया[4] है।

9. राजसूय यज्ञ :—राजसूय यज्ञ के बारे में शतपथ ब्राह्मण (5.2) पंचब्राह्मण (18.8.11) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (I.6.7) में उल्लेख मिलता है। इसे सम्पादित करने का अधिकार केवल क्षत्रिय को ही दिया गया है। जब राजा राज्यसत्ता का कार्यभार ग्रहण करता है तो राजसूय यज्ञ सम्पादित होता है। राजसूय में अनेक इष्टियाँ एवं सोमयाग किये जाते हैं। राजसूय सम्पन्न करने में सामान्यतया चौदह महीनों की अवधि में छः सोमयाग, दो पशुयाग, I29 इष्टियाँ एवं सात दर्वी होम सम्पादित करने होते हैं। सामान्यतया राजसूय फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को आरम्भ किया जाता है। सर्वप्रथम पवित्र अथवा हेम पवित्र नामक

1. श० ब्रा० 12.7.2.3
2. 'ब्राह्मण यज्ञऽएव यत्सौत्रामणी' श० ब्रा० 12.9.1.1
3. 'ऐन्द्रो वा एष यज्ञो यत्सौत्रामणी' श० ब्रा० 12.8.2.24
4. द्रष्टव्य 'सैक्रिफाइस इन द ब्राह्मण टेक्स्ट्स,' पृ० 89 डॉ० गणेश उमाकान्त थीटे

सोमयाग किया जाता है। तदनन्तर, एक वर्ष तक चातुर्मास्य किये जाते हैं। उसके बाद कतिपय इष्टियाँ एवं होम किये जाते हैं। लगभग बारह इष्टियाँ 'रत्नमणि हवींषि के नाम से प्रसिद्ध हैं। रत्नी के घर में ही ये इष्टियाँ सम्पन्न होती हैं। इन इष्टियों के बाद अभिषेचनीय अथवा पवमान नामक सोमयाग किया जाता है। मध्याह्नकालीन सवन में मुख्य आहुति के बाद ऋत्विक् ब्रह्मा यजमान (राजा) को हाथ से पकड़कर जनता के समक्ष ले जाकर उद्घोषणा करता है, 'अमुक व्यक्ति का पुत्र यह व्यक्ति अब आपका राजा है, आपका रक्षक है ?–'एष वो चरतो राजा'—तै०ब्रा० (1.7.4.2; 1.7.6.7) । सवन कर्म पूर्ण हो जाने पर राजा का अभिषेक (स्नान कर्म) किया जाता है। समुद्र, सरिता, सरोवर, झील, सोता (झरना) आदि सोलह जलस्रोतों से लाये गये जल को दधि, दुग्ध, आज्य एवं शहद से मिश्रित कर अभिषेक जल (स्नानीय जल) तैयार किया जाता है। यजमान (राजा) हाथ में धनुषवाण लेकर आहवनीय के समक्ष बिछाये गये व्याघ्र चर्म पर बैठता है। तब छः पार्थ होम किये जाते हैं एवं वे ही ऋत्विक्गण माहेन्द्र स्तोत्र का पाठ करते हैं। अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता एवं उद्गाता यजमान के चारों ओर खड़े होकर दधियुक्त पवित्र जल को यजमान पर छिड़कते हैं। एक राजपुरुष एवं यजमान के व्यापारवर्गीय निकट के मित्रगण भी जलाभिषेक (जल छिड़कने) में सम्मिलित होते हैं। तब राजा नवीन वस्त्र धारण कर छः इतर पार्थ होम सम्पन्न करता है। तीन घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ में जिसके पीछे दो सेवक अनुधावन करते हैं, राजा बैठता है। तब एक दिखावटी युद्ध का अभिनय किया जाता है जिसमें राजा एक कवचधारी वीर राजपुरुष पर वाणों से प्रहार कर उस पर विजय प्राप्त करता है। राजा के रथ से उतरते ही कतिपय होम किये जाते हैं। आहवनीय के सामने एक चौकोर चबूतरा निर्मित किया जाता है जिसके ऊपर व्याघ्र चर्म से आवृत्त एक कुर्सी रखी जाती है। राजा इस कुर्सी पर बैठता है। उसके चारों ओर ऋत्विक् एवं प्रजागण बैठते हैं। राजा अध्वर्यु एवं अन्य तीन विशिष्ट ऋत्विजों का स्वागत एवं प्रशस्ति करता है जिसके उत्तर में वे राजा का यशोगान करते हैं। अब यजमान को देश का राजा स्वीकार कर लिया जाता है। इस अवसर पर होता शुनःशेप की कथा सुनाता है। इसी के साथ सोमयाग समाप्त होता है। दूसरे दिन से दस दिनों तक सरीसृपा हवि नामक इष्टियाँ की जाती हैं। सातवें दिन दशपेय नामक एक अन्य सोमयाग किया जाता है। इसे दशपेय इसलिए कहा जाता है, क्योंकि दस श्रोत्रियों द्वारा सोम पीने वाले सामान्य कटोरों के अतिरिक्त दस अन्य कटोरों (चमषों) का भी उपयोग इस याग में आहुतियों हेतु किया जाता है।

एक वर्ष के बाद केशवपनीय नामक चतुर्थ सोमयाग किया जाता है जिसे एक व्रत की अवधि के रूप में माना जाता है। जब तक यजमान केशवपनीय सोमयाग नहीं कर लेता है तब तक वह क्षौर नहीं करा सकता। उसके बाद व्यस्ति द्विरात्र एवं क्षत्रस्यधृति नामक दो अन्य सोमयाग करने पड़ते हैं। तब जाकर राजसूय का समापन होता है। राजसूय की समाप्ति पर सौत्रामणी की जाती है।

राजसूय याग में प्रमुख रूप से सम्पन्न होने वाली क्रिया राज्याभिषेक क्रिया होती है। इसका माहात्म्य ब्राह्मणग्रन्थों के अतिरिक्त 'महाभारत' में भी वर्णित है। ऐतरेय ब्राह्मण में सोमसुषमा वाजरत्नायन के द्वारा शतानीक के अभिषेक, नारदपर्वत के द्वारा अम्बष्ट राजा के राजसूय अभिषेक तथा कश्यप द्वारा विश्वकर्मा के राजसूयाभिषेक के विवरण उदात्त शैली में वर्णित हैं। 'महाभारत' में युधिष्ठर द्वारा सम्पादित राजसूय याग में उनके अभिषेक का सुन्दर चित्रण किया गया है।

10. अश्वमेध :—अश्वमेध यज्ञ भारत का सुप्रसिद्ध राजवंशीय यज्ञ रहा है। इसका वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.8-9) एवं शतपथब्राह्मण में आता है। अश्वमेध एक अत्यन्त विशाल प्रकृति का राजयज्ञ है जिसमें गरिमा एवं महार्हता होती है। यह भी मूलतः एक सोमयाग ही है जिसमें सवनीय पशु के रूप में 'अश्व' उपयुक्त होता है। अश्वमेध में अश्व के अतिरिक्त बहुत से अन्य पशु भी उपयोग में लाये जाते हैं। 'अश्व' के प्रधान सवनीय पशु होने के कारण ही इस याग को 'अश्वमेध' कहा गया है। अश्वमेध याग का श्रीगणेश सांग्रहण्येष्टि से किया जाता है। इस इष्टि के बाद एक पशुयाग किया जाता है जिसमें यजमान ऋत्विजों के साथ यज्ञशाला में जाता है। निर्धारित गुणों वाले एक अश्व को किसी नदी, झील अथवा सरोवर के पास ले जाया जाता है, घुटने भर पानी में उसे खड़ा कराकर चारों ओर से ऋत्विक्गण एवं अन्य लोग उस पर अभिमन्त्रित जल छिड़कते हैं। अध्वर्यु एक सौ राजकुमारों के साथ पूर्व में, ब्रह्मा एक सौ अन्य शूरवीरों के साथ दक्षिण में, होता एक सौ रथियों एवं ग्राम्य प्रधानों के साथ पश्चिम में, तथा उद्गाता एक सौ क्षत्रों एवं सांग्रहीताओं के साथ उत्तर में खड़े होते हैं। अश्व को स्वेच्छा से संक्रमण करने दिया जाता है। अश्व के पीछे उसकी रक्षा हेतु सेना प्रयाण करती है। यजमान कतिपय होम करता है तथा श्रोत्रिय द्वारा स्तोत्रों एवं क्षत्रियों द्वारा वाद्ययन्त्र की धुन पर अपनी वीरगाथाओं की प्रशस्तियाँ सुनता है। यजमान राजा होता द्वारा परिप्लव शस्त्र गान सुनता है। यह कृत्य एक वर्ष तक प्रतिदिन चलता

रहता है तथा अश्व की वापसी की प्रतीक्षा की जाती है। इस प्रकार जब तक अश्व प्रयाण करता रहता है, अनेक निर्धारित होम किये जाते हैं।

अश्वमेध यज्ञ में तीन मुख्य दिवस होते हैं, प्रथम दिन प्रारम्भिक कृत्य होते हैं, दूसरे दिन अश्व एवं अन्य पशुओं की आहुति दी जाती है। अश्व को प्रमुख यूप से बाँधा जाता है। उसके दोनों तरफ एक पंक्ति में दस दस अन्य यूप गाड़े जाते हैं। वाजसनेय के अनुसार इन यूपों से बाँधे जाने वाले पशुओं की संख्या 340 होती है, तैत्तिरीय के अनुसार यह 390 होती है। ये सभी ग्राम्य (घरेलू उपयोग के) पशु होते हैं। इन दोनों के बीच 360 जंगली पशु निर्धारित किये गये हैं जिन्हें प्रयज्ञीकरण के बाद छोड़ दिया जाता है। अश्व के संज्ञपन के उपरान्त महिषी (राजा की पट्ट रानी) को पवित्र संज्ञपन को प्राप्त अश्व के शरीर के पास लेटाया जाता है। यह कृत्य पवित्र अश्व के प्रति श्रद्धा का प्रतीक होता है तथा साथ ही यह यज्ञ से उत्पन्न राष्ट्र की समृद्धि एवं व्यापक जनकल्याण द्योतित करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के चार[1] मन्त्रों में अत्यंत भावभीनी एवं उदात्त स्तुति की गयी है।

अश्व में 'वपा' नहीं होती, अतएव उसके शरीर को काटकर मज्जा आदि निकाला जाता है। अन्य पशुओं के शरीर से वपा निकाली जाती है। तदुपरान्त वपा होम एवं अन्य होम एवं पशुओं के अंगों के होम किये जाते हैं। तीसरे दिन सुत्या का दिन होता है जबकि एक अन्य सोमयाग सम्पन्न किया जाता है।

अश्वमेध को यज्ञों का राजा कहा गया[2] है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि इस यज्ञ के करने से मनुष्य सभी पातकों तथा ब्रह्महत्या से मुक्ति पा लेता[3] है। सार्वभौम भूपति बनने हेतु अश्वमेध याग करना अनिवार्य[4] है। अश्वमेध करने वाला सभी दिशाओं में विजयी होता[5] है। अश्वमेध से सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, पाप नष्ट होते हैं, इससे सब अनिष्ट का प्रायश्चित्त होता है तथा मनुष्य

---

1. अपवा एतस्मात् श्री राष्ट्रं क्रामति। योऽश्वमेधेन यजते ......देवता भिरेवात्मानं पवयन्ते। तै० ब्रा० 3.9.7.1-3.
2. श० ब्रा० 13.2.2.1-2
3. सर्वाम् ह वै पापकृत्याम् सर्वाम् ब्रह्महत्याम् अपहन्ति योऽश्वमेधेन यजते।' श० ब्रा० 13.5.4.1.
4. 'राजा वै सार्वभौमो अश्वमेधेनयजते।' आ०श्रौ० सू०
5. 'अश्वमेधयाजी सर्वदिशो अभिजयति।' श० ब्रा० 13.1.2.3,

रोगमुक्त हो जाता[1] है। शतपथब्राह्मण में अति ओजस्वी ढंग से अश्वमेध से सिद्ध होने वाले समस्त प्रयोजनों-उद्देश्यों का विशद वर्णन किया गया है[2]। इसी ब्राह्मण-ग्रन्थ में परीक्षित, भीमसेन, उग्रसेन, पुरुकुत्स, मत्सराज, ध्वास, दैवतवन तथा दौष्यन्ति भरत के विश्वविश्रुत अश्वमेधयाग का विवरण अंकित है[3]। अश्वमेध का सम्वन्ध मुख्यतया प्रजापति से है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण के अनुसार[4] इस याग के अनुष्ठान से सभी देव वशीभूत हो जाते हैं।

11. पुरुषमेधः—पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.4) तथा शतपथब्राह्मण (13.4.2.1) में मिलता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार पुरुष भगवान् की यह इच्छा हुई कि मैं समस्त जीवों में सर्वोपरि हो जाऊँ तो उन्होंने पुरुषमेध पञ्च-रात्र यज्ञ की ओर दृष्टि डाली और उसे सम्पन्न किया। इस यज्ञ के फलस्वरूप वह विश्व में सर्वश्रेष्ठ वन गये। इस प्रकार मनुष्य भी इसके अनुष्ठान[5] से सर्व-श्रेष्ठ वन सकता है। पुरुषमेध भी सोमयाग है जिसके मुख्य कर्मकाण्ड पाँच दिन में सम्पन्न होते हैं। 'मनुष्य' को सवनीय 'पशु' की संज्ञा दी गयी है। पाँच रातों में सम्पन्न होने के कारण इसे पंचरात्र यज्ञ भी कहा गया है।[6] प्रथम दिन अग्निष्टोम, दूसरे दिन उक्थ्य, तीसरे दिन अतिरात्र, चौथे दिन उक्थ्य तथा पंचम दिन पुनः अग्निष्टोम किया जाता[7] है। सोम इष्टियों के दिन ग्यारह पशुओं का तथा अतिरात्र के दिन प्रत्येक यूप पर एक-एक पशु को बाँधकर बीच के यूप पर 48 पशुओं को बाँधा जाता[8] है। यूप से पशुओं के बँध जाने के वाद पुरुषसूक्त का स्तवन कर पुरुषनारायण की पूजा की जाती[9] है। तदनन्तर पशुओं के पर्यग्निकृत हो जाने के वाद उन सभी पुरुषों को छोड़ दिया जाता[10] है। जिन-जिन देवों को उद्दिष्ट कर पुरुष पशुओं को बाँधा जाता है उन-उन देवों को आज्याहुति प्रदान

---

1. श० ब्रा० 13.3.1.1
2. द्रष्टव्य श० ब्रा० 13.4.3.15; 13.3.7.1-4; 13.3.7.8; 13.3.7.12
3. श० ब्रा० 13.5.4.1-28
4. श० ब्रा० 13.1.2.9
5. श० ब्रा० 13.6.1.1
6. श० ब्रा० 13.6.1.7
7. श० ब्रा० 13.6.1.8
8. श० ब्रा० 13.6.2.5-6
9. श० ब्रा० 13.6.2.12
10. श० ब्रा० 13.6.2.13

की जाती है । तदनन्तर यजमान आदित्य की पूजा करते हुए पीछे मुड़ कर न देखते हुए वन में जाकर वानप्रस्थ स्वीकार कर लेता है । उसे जीवन पर्यन्त अपने घर नहीं आना चाहिए । यदि वह व्यक्ति अपने गृहस्थाश्रम में वापस आना चाहे तो अरणी और उत्तरारणी में दो अग्नियों को लेकर आदित्य की उपासना उसे करनी चाहिए । गृहस्थाश्रम में रहते हुए उसे आजीवन अग्निहोत्र आदि कृत्य करते रहने चाहिए[1] ।

कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि पुरुषमेध में वास्तविक रूप से पुरुष की बलि दी जाती थी । शतपथब्राह्मण में इस प्रकार की हिंसा का पूर्णतः परित्याग किया जाना वर्णित है (श० ब्रा० 13.6.2.12-13) । विलसन पुरुषमेध में हिंसा मानते हैं । अपने कथन के समर्थन में वह शुनःशेप की कथा उद्धृत करते[2] हैं । मैक्समूलर भी इसी अभिमत का समर्थन करते हैं[3] । कोलब्रुक ने इस मत के विरुद्ध मत प्रतिपादित किया है । उनकी धारणा है कि पुरुषमेध में लाक्षणिकता है[4] । ओल्डेनवर्ग ने पुरुषमेध में हिंसा के भाव को कल्पना-मण्डित माना है[5] । प्रो० कीथ ओल्डेनवर्ग का समर्थन करते हैं । उनका अभिमत है कि पुरुषमेध ब्राह्मणों का मात्र पूजा कृत्य है इसमें आराधना उपासना सम्पन्न होती है[6] । इसी प्रकार हिंसाराहित्य का मत विन्टरनिट्ज़ ने भी प्रतिपादित किया है । इनका कथन है कि पुरुषमेध की उत्पत्ति यज्ञों में आध्यात्मिक ज्ञान हेतु हुई है[7] । पाश्चात्य विद्वानों में वेबर का मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व सही दिशा बोध क राने वाला प्रतीत होता है । ब्राह्मणों के परिशीलन से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि पुरुषयज्ञ में मानव बलि नहीं होती थी । पुरुषमेध एक प्रतीक मात्र था ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पुरुषमेध में सवनीय पशुओं का वर्णन उन उन देवताओं के साथ किया गया है जिनके उद्देश्य से वे हैं तथा जिन्हें वे अर्पित किये जाते हैं । पुरुषमेध के देवता भी कुछ असाधारण प्रकृति के दिखाई देते हैं । इस

---

1. श० ब्रा० 13.6.2.20
2. आन ह्यूमन सैक्रिफाइस इन द एन्शियन्ट रेलिजस लाइफ आव इण्डिया, पृ० 96 विलसन जे० आर० ए० एस० 13, 1852
3. मैक्समूलर, एच० ए० एस० एल० पृ० 381
4. कोलब्रुक 'मिसलेनियस एसेज़ I, पृ० 61
5. ओल्डेनवर्ग–'रेलिजन देस वेद, पृ० 363
6. आर० पी० वी०—कीथ ए० बी०, पृ० 347
7. एच० आई० एल० I, 153

यज्ञ में 'पशु' को जलाया नहीं जाता बल्कि उन्हें छोड़ दिया जाता है। यज्ञार्थ निर्धारित मानव पशुओं की सूची देखने से यह धारणा पूर्णतया दृढ़ हो जाता है कि पुरुषमेध एक प्रतीक है। समूचा पुरुषमेध विशिष्ट प्रतीकों से भरा पड़ा है। इन प्रतीकों को देखकर कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने पुरुषमेध में अहिंसा के बीज वपन की बात कही है। उनका कथन है कि यहीं कर्मकाण्ड परक धर्म से आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है[1]।

12-**सव** :-तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.7.) में बारह सवों का उल्लेख मिलता है। ये हैं, बृहस्पतिसव, वैश्वसव, ब्राह्मणसव, सोमसव, पृथिसव, गोसव, ओदनसव, मरुत्स्तोम-सव, अभिष्टुत्, इन्द्रष्टुत्, आप्तोर्यामसव, विघनसव। ये सव एक ही दिन में पूर्ण कर लिये जाते हैं। इन्हें कतिपय सिद्धियों के लिये किया जाता है।

13-**काम्य** :—तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.8) में कतिपय कामनाओं की पूर्ति हेतु कुछ पशुओं की आहुतियों को कतिपय देवताओं के निमित्त अंकित किया गया है।

14- **सत्र** :—पंचब्राह्मण (4; 5; 24. 20, 25. 10) में तथा शतपथब्राह्मण (1.2) में सत्रों का उल्लेख किया गया है। सत्र अनेक यज्ञों का सम्मिलित नामकरण[2] है। 361 दिन में सम्पन्न होने वाले गवामयन को ही प्रायः सत्रों का मापदण्ड माना जाता है। प्रथम 180 दिनों को पूर्वपक्ष तथा अन्तिम 130 दिनों को उत्तरपक्ष कहा गया है। बीच के एक दिन को विसुआन कहते हैं। कर्मकाण्ड की पेचीदगी के कारण सत्र धीरे-धीरे अप्रयुक्त[3] होते गये। अनेक सत्र उदाहरणार्थ, सारस्वतसत्र आदि का वर्णन पंचब्राह्मण में मिलता है।

यज्ञ पद्धति के प्रमुख तत्त्वः--

वेद सम्मत यज्ञानुष्ठान में दीक्षा, ऋत्विक्गण, वेदि, अहिंसा, दक्षिणा, प्रायश्चित्त, शुचिता आदितत्त्वों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव यहाँ संक्षेप में इन पर विचार कर लेना उपयोगी होगा।

---

1. विशेष अध्ययन हेतु द्रष्टव्य 'सैक्रिफाइस इन द ब्राह्मण टेक्स्ट्स, पृ० 27 डा० गणेश उमाकान्त थीटे
2. तस्मात् संवत्सरे सर्वे यज्ञक्रतवोऽवरुध्यन्ते 11 तै० ब्रा० 2.3.6.1
3. लोके अप्रयुक्तः। केवल ऋषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शस्त्रेण अनुविदध्यते। (महाभाष्य-1-9)।

1–**दीक्षा :** याग प्रारम्भ करने के पूर्व यजमान को कतिपय पवित्र करने वाली क्रियाएँ करनी होती हैं। यह क्रिया दीक्षा कहलाती है। यजमान अपनी धर्मपत्नी के साथ ही यज्ञ करने का अधिकारी होता है 'अर्धो वा एव आत्मनः यत्पत्नी'। तै० ब्रा० (3.3.3.1) अर्धो ह्वा एष आत्मनो यज्जाया। श० ब्रा० (5.1.6.10)। ऐतरेय ब्राह्मण में (32.9-20) बिना पत्नी के यजमान को भी यज्ञ करने का पात्र माना गया है—'तदाहुः अपत्नीको अपि अग्निहोत्रमाहरेत् नाहरेत् इति। आहरेदित्याहुः। ...... अपत्नी को

अग्निहोत्रं कथं जुहोति। श्रद्धा सत्यं तदिति उतमं मिथुनम्।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन सर्वान् लोकान् जयतीति ॥'

सपत्नीक यजमान भी तभी यज्ञ कर सकता है जब वह दीक्षा[1] की क्रिया पूर्ण कर लेता है। दीक्षा के संस्कार से जयमान का एक प्रकार से एक सुसंस्कृत नया जन्म होता है, जो उसे पवित्र कर आध्यात्मिक क्षेत्र में ऊँचा उठा देता है जिससे कि वह देवताओं को हविष् देने योग्य हो जाय। वास्तव में दीक्षा के माध्यम से यजमान स्वयं को समर्पित कर देता है, 'सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानं आलभते यो दीक्षते' (ऐ० ब्रा० 6.3)। 'स हविषी एष भवति यो दीक्षते' श०ब्रा०-3.3.4.21। तैत्तिरीय ब्राह्मण में दीक्षा लिये जाते समय का अत्यन्त सजीव, श्लाघनीय एवं रोमांचकारी वर्णन किया गया है। अत्यन्त गरिमामय एवं शान्त वातावरण की सर्जना की गयी है जबकि प्रकृति के समस्त भव्य उपादानों एवं शक्तियों को भी उद्वोधित करते हुए यजमान के साथ उनके द्वारा दीक्षा[2] लेने का भाव व्यक्त किया गया है।

दीक्षा के परिणामस्वरूप यजमान (दीक्षित) को पत्नी सहित मौन तथा यज्ञ क्रिया के अतिरिक्त कृत्यों से पराङ्मुख रहना पड़ता है। यह इसलिये आवश्यक माना जाता है जिससे कि दीक्षित यजमान एवं उसकी धर्मपत्नी एकाग्र-

---

1. यज्ञादु ह्वा एष पुनर्जायते यो दीक्षते। ए० ब्रा०34.22.
2. पृथिवी त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षताम्। अन्तरिक्षं त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षताम्। द्यौस्त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षताम्। दिशस्त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षन्ताम्। आपस्त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षन्ताम्। ओषधयस्त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षन्ताम्। वाक्त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षताम्। ऋचस्त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षन्ताम्। सामानि त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षन्ताम्। यजूंषि त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षन्ताम्। अहश्च रात्रिश्च कृषिश्च वृष्टिश्च। त्विषिश्चापचितिश्च। आपश्चौषधयश्च। ऊर्क सूनृता च। तास्त्वा दीक्षमाणमनुदीक्षन्ताम् तै० ब्रा० 3.7.7.7-8

चित्त होकर पवित्र निष्ठा से देवताओं के निमित्त समस्त यागादि क्रियाएँ निर्विघ्न[1] सम्पन्न कर सकें। जब कभी उन्हें अपरिहार्य कारणवश बोलना पड़ता है तो वे अत्यन्त विनीत एवं सुसंस्कृत वाणी में बोलते थे। इसी प्रकार यजमान को निश्चलभाव से बिना घूमे फिरे बैठना पड़ता है। वह केवल लघुशंका एवं दीर्घशंका निवारणार्थ ही उठ सकता था। याग की अवधि में वह सामान्य आहार भी नहीं ग्रहण कर सकता था, केवल दूध पी सकता था।

2– **ऋत्विज :—** यजमान द्वारा आहूत, यज्ञ को सविधि सम्पन्न कराने वाला, दक्षिणाप्राप्त, विद्वान ऋत्विक् कहलाता है।[2] ऋत्विज बनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को प्राप्त है। यज्ञानुष्ठान को यजमान एवं उसकी पत्नी ही सम्पन्न कर सकते हैं। नित्य का अग्निहोत्र उनके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं कर सकता है। अन्य यागादि क्रियाओं के सम्पादन हेतु यजमान को ऐसे व्यक्तियों की सहायता लेनी पड़ती है जो यागादिक कर्मकाण्ड में निष्णात व तपोनिष्ठ हों। ऐसे तपोनिष्ठ व्यक्तियों को ऋत्विक् कहा गया है। ऋत्विक्गण यज्ञ में सीधे भाग ले सकते हैं। प्रसंगवश यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ऋत्विज अथवा पुरोहित यजमान एवं उसकी पत्नी को यज्ञ में मात्र सहायता ही पहुँचा सकते हैं, जबकि यज्ञ करने का अधिकार व दायित्व सीधा यजमान व उसकी पत्नी का होता है। इष्टियों में ऋत्विक्गण[3] अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा एवं अग्नीध्र यजमान की मदद करते हैं। पशुयाग में प्रतिप्रस्थाता, प्रशस्ता अथवा मैत्रावरुण नामक दो अन्य ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार पशुयाग में उपर्युक्त छः ऋत्विजों के अतिरिक्त निम्नांकित दस अन्य ऋत्विजों को लेकर कुल 16 ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है:— नेष्टा, उन्नेता, अच्छावाक, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, ग्रावास्तुत्, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य। कभी-कभी सत्रहवें सदस्य नामक ऋत्विक् एवं अठारहवें उपद्रष्टा नाम के ऋत्विक् का भी उल्लेख मिलता[4] है।

---

1. अथवाच यच्छति। वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इत्यथ प्रतपति श० ब्रा० 1·1·2·2
2. 'ऋतुषु यजतीति ऋत्विक् ऋतापरपर्यायस्य संवत्सराग्नेः पंचमो भागः ऋतुरित्युच्यते। तान् यजति तैर्वा यजतीति ऋत्विक्।' यज्ञमधुसूदन, पृ० 3
3. चत्वारो ह्येते हविर्यज्ञस्य ऋत्विजः। ब्रह्मा होता अध्वर्युरग्नीत्। तै०ब्रा० 3.3.8·7
4. तस्मा एतस्मै सप्तदशाय प्रजापतये एतत् सप्तदशं अन्नं समस्कुर्वन्। य एव सोम्योऽध्वरः। अथ या अस्य ताः षोडशकलाः। एते ते षोडशर्त्विजः। तस्मान्न सप्तदशं ऋत्विजं कुर्वीत। नेत् अतिरेचयानीति। श० ब्रा० 10.2·8·19

उपर्युक्त सोलह ऋत्विजों को निम्नांकित चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

1–अध्वर्युगण—अध्वर्यु, प्रप्रिस्थाता, नेष्टा एवं उन्नेता ।

2–होतागण—होता, प्रशस्ता अथवा मैत्रावरुण, अच्छावाक एवं ग्रावास्तुत् ।

3–उद्गातागण—उद्गाता प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता एवं सुब्रह्मण्य ।

4–ब्रह्मागण—ब्रह्मा, ब्रह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता ।

सदस्य एवं उपद्रष्टा स्वतन्त्र ऋत्विक् होते हैं । बौधायन श्रौतसूत्र ने सदस्य, अभिगर, ध्रुवगोप एवं संश्रव नामक चार को सदस्यगण के रूप में उल्लिखित किया है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि ब्राह्मणों में ऋत्विजों का इस प्रकार का वर्गीकरण वर्णित नहीं है । ब्राह्मणों में ऋत्विजों के नाम यत्र-तत्र उल्लिखित मिलते हैं । तैत्तरीय ब्राह्मण (3.1,2 एवं 3-8) तथा पंचब्राह्मण (25.18.4) में वैश्वसृजचयन का वर्णन करते हुए कर्मकाण्ड में वाँछित व्यक्तियों की विस्तृत सूची दी गयी है । उपर्युक्त के अतिरिक्त निम्नांकित का उल्लेख किया गया है :—शमिता, चमस, अध्वर्युगण, उपगातागण, हविषकृत्, हविष्येशी, इध्मवाहन, ध्रुपगोप, पशुपाल्यन, विशास्ता, धाता, एवं राजासन्दी ।

ऋत्विजों का संक्षिप्त परिचय तथा उनके कर्त्तव्य निन्नांकित हैं :—
अध्वर्यु :—अध्वर्यु यज्ञ क्रिया में प्रमुख ऋत्विक् होता है । यह यजुर्वेद का ज्ञाता होता है तथा यजुर्वेद से सम्बद्ध कार्य सम्पादित करता है । यज्ञशाला में अपने कृत्यवाहुल्य एवं महत्त्वपूर्ण अन्य व्यावहारिक कार्यों के कारण वह प्रमुख स्थान-प्राप्त करता है । शतपथब्राह्मण में अध्वर्यु को मस्तिष्क कहा गया है । उसके मुख्य कार्य यज्ञकर्ता के लिए ग्रहों को ले जाना, हवनादि सामग्रियों को ले जाना, तथा यज्ञिय घृत का प्रेक्षण करना आदि हैं । इस प्रकार अध्वर्यु को ही यज्ञ के समस्त कृत्य करने पड़ते हैं तथा अन्य लोगों को भी सभी आवश्यक निदेश उसे ही देने होते हैं । वस्तुतः यज्ञ का वही प्रमुख कार्यकर्त्ता होता है । शतपथब्राह्मण में अध्वर्यु को यज्ञ का पूर्वार्द्ध कहा[1] गया है । वही यज्ञ का विस्तार करता है । वह यज्ञ की मुख्य प्रतिष्ठा[2] है । षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार वह सूर्य के समान कान्तिमान होता[3] है ।

1–श0 ब्रा0 1.9.2.3

2–तै0ब्रा0 3.3.8.10 'प्रतिष्ठा वा एष यज्ञस्य यदध्वर्युः ।'

3–षड्0 ब्रा0 2.5.3

प्रतिप्रस्थाता :—यह अध्वर्यु का प्रथम सहायक होता है। यह निरन्तर अध्वर्यु के साथ रहता है तथा उसी के संकेत पर कार्य करता है। अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता को 'अध्वर्यू (द्विवचन का रूप अर्थात् अध्वर्युयुग्म) कहा जाता है। इसी आधार पर अश्विनी कुमारों (देव युग्म) को देवताओं का 'अध्वर्यू' (अध्वर्युयुग्म) कहा जाता है—'अध्वर्यू (अश्विनावध्वर्यू[1])'। यज्ञ में अध्वर्युयुग्म का वही स्थान है जो मानव शरीर में दो हाथों का होता[2] है।

उन्नेता :—उन्नेता का कार्य सोमरस को छानकर उसे सोम चषकों भरकर होम के लिए देना है। होम के बाद वही उन चषकों को साफकर भावी यज्ञ के लिए तैयार भी रखता है। द्वादशाह याग में उन्नेता नेष्टा, आग्नीध्र, सुब्रह्मण्या एवं ग्रावास्तुत् को दीक्षित[3] करता है। तदनन्तर स्नातक या ब्रह्मचारी उन्नेता को दीक्षित करते[4] हैं। जैमिनि ब्राह्मण में उन्नेता को विष्णु का स्वरूप माना गया[5] है। इसे प्राण की संज्ञा दी गयी है[6]।

ब्रह्मा :—जो ऋत्विक् व्याहृतियों को जानता है वह ब्रह्मा होने के लिए पात्र है[7]। सम्पूर्ण यज्ञ क्रिया का यह अधीक्षक होता है। सामान्यतया वह यजमान के समीप बैठता है तथा यज्ञ का रक्षक होने के नाते वह समस्त कर्मकाण्ड पर कड़ी दृष्टि रखता[8] है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मा अथर्ववेद से सम्बद्ध होता है[9]। सामान्यतया ब्राह्मणों के अनुसार ब्रह्मा को तीनों वेदों का ज्ञानी होना चाहिए[10]। वेदि के एक कोने में ऐसी जगह बैठने हेतु उसका स्थान नियत रहता है जहाँ से कि वह सम्पूर्ण यज्ञशाला पर दृष्टिपात कर सके। वह त्रुटि हेतु प्रायश्चित्त करता है। प्रवर्ग्य इष्टि में अनुमन्त्र पढ़ता है। वाजपेय याग में वाजिन सामका गान करता

---

1. पंच ब्रा० 18·9·10
2. 'अश्विनोः बाहुभ्याम्' तै० ब्रा० 3.2·2.1
3. श० ब्रा० 12.1·1·9
4. श० ब्रा० 12.1·1·10
5. जै० ब्रा० 2·68
6. श० ब्रा० 12.1.1.11
7. श० ब्रा० 12.6.1.41
8. अथ अध्वर्युः प्रोक्षणीरादाय उपोत्तिष्ठन् आह ब्रह्मन् प्रचरिष्यामः……। ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्ते अभिगोप्ता। तमेवैतदाह अप्रमत्त आस्स्व इति। श० ब्रा० 14.1.3·2
9. गो० ब्रा० 1·2.19; 1.5·24
10. ऐ० ब्रा० 5.33; श० ब्रा० 11.5.8·7; जै० ब्रा० 1.358.1

है। सम्पूर्ण यज्ञकर्म ब्रह्मा पर आधृत होता है, उसे सर्वविद् कहा गया है। उसके बिना यज्ञ अधूरा रहता है।

होता :–ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार होता यज्ञ में 'अमुक देवता का आवाहन करो' 'अमुक देवता का आवाहन करो[1]' वाक्य कहता रहता है। अतएव इसी कारण उसका नाम होता दे दिया गया। वस्तुतः यज्ञ के विभिन्न कृत्यों को सम्पादित करने के निमित्त भी यह होता कहलाता है। होता विविध मन्त्रोच्चार से अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है[2]। सोम यज्ञ में वह प्रातरनुवाक का गान करता है तथा यज्ञान्त में तृष्णीशंस सूक्त उच्चरित करता[3] है। राजसूय यज्ञ में वह यजमान राजा को उपदेश करता[4] है। अश्वमेध याग में पारिप्लवाख्यान सुनाता[5] है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार होता के सिर के केश कटे हुए होने चाहिये तथा मातृ-पितृ वंश एवं आचरण से उसे पवित्र होना[6] चाहिए। ताण्ड्य-महाब्राह्मण में होता को सत्य का नाम दिया गया[7] है। होता का कार्य होम के साथ सम्बद्ध मन्त्रों एवं शास्त्रों का सस्वर उच्चारण करना है। यह मन्त्रोच्चार अध्वर्यु के निर्देशानुसार करता है। होता द्वारा आहुति मन्त्रों का उच्चारण करते समय जब होता 'वौषट्' शब्द का उच्चारण करता है तो अध्वर्यु हविष् को अग्नि में डालता है।

प्रशस्ता अथवा मैत्रावरुण :—अध्वर्यु के निदेश पर प्रशस्ता यज्ञ का नियन्त्रण करता है। यह 'होतृ' वर्ग के छोटे ऋत्विजों का प्रणेता होता है[8]। इसे यज्ञ के मनस् की संज्ञा दी गयी है[9]। होता के समीप वेदि के बीचोबीच प्रशस्ता औदुम्बर लेकर खड़े होकर अपना कार्य सम्पादित करता है। औदुम्बर (गूलर

---

1. ऐ० ब्रा० 1.2. कस्मात् तं होतेत्याक्षत इति यद्वावसतत्रयथामजानदेवता अमुम आवह अमुम आवह इति आवाहयति तदेव होतुः होतृत्वम्।'
2. श० ब्रा० 1.3.5.1
3. ऐ० ब्रा० 2.15 तथा 2.31
4. ऐ० ब्रा० 7.18
5. श० ब्रा० 13.4.3.2
6. तै० ब्रा० 2.7.1.1.2
7. ता० मा० ब्रा० 25.18.4
8. ऐ० ब्रा० 6.6
9. ऐ० ब्रा० 2.5

की छड़ी) ही उसकी पवित्र पहचान है। होता की ही भाँति वह भी मन्त्रोच्चार करता है।

अच्छावाक :—इस ऋत्विक् का भी कार्य होता के कार्यकलाप की ही भाँति होता है। यह भी होता का सहायक होता है[1]। कौषीतकि ब्राह्मण में आये एक आख्यान में कहा गया है कि मनु का पुत्र नाभानेदिष्ट अंगिरसों द्वारा बुलाया गया था जहाँ वह अच्छावाक का कार्य देखता[2] था। इससे यह आभास होता है कि यह ऋत्विक् संभवतः बाद की उपज है।

पोता :—इसका भी कार्य होता के कार्य की ही भाँति होता है। यह भी होतृक कहलाता है। इसका भी कार्य मन्त्रपाठ करना है। सोमयाग में यह प्रातः एवं मध्याह्न सवन में मन्त्रोच्चारण करता[3] है।

ब्राह्मणाच्छंसी :—यह ऋत्विक् भी होता की ही तरह के कार्यकलाप वाला होतृक कहलाता है। इसका भी मुख्य कार्य मन्त्रपाठ करना है। यह तृतीय सवन में इन्द्र और बृहस्पति के मन्त्रों का उच्चारण करता है। यह यज्ञशाला में दक्षिण भाग में बैठता है। देवों को असुरों से होने वाले विघ्नभय से बचाने के निमित्त ही यह दक्षिण में आसीन होता[4] है।

नेष्टा :—नेष्टा भी अध्वर्यु की सहायता के लिये होता है। यह सोमयाग में पशु के संज्ञपन के बाद यजमान की पत्नी को लाता है[5]। वह त्वष्टा का मन्त्रपाठ करता है[6]। वाजपेय याग में वह ग्रहों में रस उड़ेलकर उन्हें यथास्थान रखता है। वह यज्ञकर्म में प्रतिप्रस्थाता, पोता, प्रतिहर्त्ता तथा अच्छावाक को दीक्षा देता है[7]।

आग्नीध्रः—आग्नीध्र ब्रह्मा का सहायक ऋत्विक् है[8]। यह अग्नि की देखभाल तथा विभिन्न वेदियों पर अग्नि को पहुँचाने का कार्य सम्पादित करता है। वह

1. गो० ब्रा० 1.4.6 श० ब्रा० 12.1.1.8
2. कौ० ब्रा० 28.4
3. ऐ० ब्रा० 6.10-11; कौ० ब्रा० 28.3
4. श० ब्रा० 4.6.6.1-4
5. श० ब्रा० 3.8.2.1
6. ऐ० ब्रा० 6.10
7. श० ब्रा० 12.1.1.7-8 गो० ब्रा० 1.4.6
8. गो० ब्रा० 1.4.6 श० ब्रा० 12.1.1.9

अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है[1]। आग्नीध्र का एक प्रमुख कर्त्तव्य यह भी सुनिश्चित करना होता है कि देवों के आवाहन के पूर्व कर्मकाण्ड की समस्त तैयारियाँ पूर्ण कर ली गयी हैं। वह अपने हाथ में लकड़ी का चाकू भी लिये रहता है जो उसकी पहचान होता है। आग्नीध्र को अग्नि का स्वरूप माना गया है। इस ऋत्विक् को द्यावापृथिवी का प्रतिनिधि बतलाया गया है–'द्यावापृथिव्यो वा एष यदाग्नीध्रः[2]।' इस प्रकार होता से आग्नीध्र तक कुल सात ऋत्विज सात होता-गण कहलाते हैं।

ग्रावास्तुत :—ग्रावास्तुत होता का सहायक ऋत्विक् होता है[3]। सोमयाग में जिन पत्थरों द्वारा सोमलता को पेरकर सोमरस निकाला जाता है उन पत्थरों की प्रशस्ति-स्तुति में मन्त्र पढ़ना ग्रावास्तुत का मुख्य कार्य होता है। वह आँखों में पट्टी बाँधकर पत्थरों की स्तुति में मन्त्रोच्चार करता है[4]।

उद्गाता :—सोमयाग में साम ऋचाओं का गान करने वाले ऋत्विजों का प्रधान गायक उद्गाता कहलाता है। जहाँ साम की प्रतिष्ठा सर्वाधिक होती है, वहाँ देवगण यथेष्ट भोजन करते हैं, क्योंकि साम ही उनका विशिष्ट भोजन है[5]। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के अनुसार वह यजमान की मृत्यु से रक्षा करता है[6]।
प्रस्तोता :—यह उद्गाता का सहायक है। यह भी सामवेद से सम्बद्ध ऋत्विक् है। प्रस्तोता साम ऋचाओं का पाठ आरम्भ करता है, उद्गाता ऋचाओं का मध्यभाग गाता है तथा प्रतिहर्त्ता अन्तिम भाग का सस्वर गान करता है। सोमयाग में साम गान हेतु उपर्युक्त क्रम से ये तीनों ऋत्विज बैठते भी हैं। अश्वमेध यज्ञ में अश्व के संज्ञपन के समय वह यम से सम्बद्ध सामगान करता है[7]। राजसूय यज्ञ में दशपेय के समय उस ऋत्विक् को अश्व की दक्षिणा दी जाती है[8]। इसकी

1. कौ० ब्रा० 28.3
2. श० ब्रा० 1.8.1.41
3. गो० ब्रा० 1.4.6 श० ब्रा० 12.1.1.9
4. कौ० ब्रा० 29.1
5. जै० ब्रा० 2.71
6. जै० ब्रा० 3.7.1.1
7. तै० ब्रा० 3.9.20
8. ता० म० ब्रा० 6.7.13

तुलना वाणी से की गयी है[1] 'प्रस्तोता वागेव यज्ञः ।' इसे प्रजापति का स्वरूप कहा गया है[2] ।

सुब्रह्मण्य :—यह उद्गाता का सहायक है[3] । सोमयाग के प्रारम्भिक दिनों में सुब्रह्मण्य ही इन्द्रदेवता का आवाहन साम ऋचाओं के गान द्वारा करता है । उसका कार्य सुब्रह्मण्याह्वान कहलाता है । ऐतरेय ब्राह्मण में सर्वाधिक वृद्ध व्यक्ति को सुब्रह्मण्य ऋत्विक् बनाया जाता है[4] । यज्ञकर्म में इसे वृषभ की दक्षिणा दी जाती है[5] ।

प्रतिहर्त्ता :—यह भी उद्गाता का सहायक ऋत्विक् होता है[6] । इसका मुख्य कार्य प्रतिहार साम गान करना है । यह ऋत्विक् ऋचाओं का अन्तिम भाग गाता है । यह गायों की देखभाल करता है जिससे वे सुरक्षित रहती हैं[7] । प्रतिहर्त्ता को यज्ञ का व्यान कहा गया है[8] । शतपथ-ब्राह्मण इसे भिषक् कहता है[9] ।

सदस्य, उपद्रष्टा :—इन्हें वैकल्पिक व्यवस्था में यज्ञ की सहायता एवं निर्देश हेतु चुना जाता है । सूत्रकारों ने इनके कार्यकलाप को गिनाया तो है, किन्तु वे इन्हें 'ऋत्विक्' की पदवी प्रदान नहीं करते ।

उपगातागण :—इन्हें उपगाता इसलिये कहा जाता है कि ये भी यज्ञ-क्रिया में सीधा भाग लेते हैं तथा साम गायकों, का साथ देकर सामगायन में सहायता पहुँचाते हैं । यह महत्त्वपूर्ण बात है कि पूर्वमीमांसा सूत्र इन्हें अलग प्रकार के ऋत्विज नहीं मानता–'उपगाश्च लिंग-दर्शनात्' 13.7.3०शवरस्वामी—'तेषामेव केचित् स्युः ।'

चमसाध्वर्यु :—सोमरस छानकर नौ अथवा दस प्यालों (कटोरों) में आहुति हेतु

---

1. श० ब्रा० 5.2.5.3
2. ता० म० ब्रा० 18.9.11
3. गो० ब्रा० 1.4.6 श० ब्रा० 12.1.1.9
4. ऐ० ब्रा० 6.3
5. ऐ० ब्रा० 6.3
6. गो० ब्रा० 1.4.6 श० ब्रा० 12.1.1.8
7. श० ब्रा० 4.3.4.22
8. कौ० ब्रा० 17.7
9. श० ब्रा० 4.2.5.3

सुरक्षित रखा जाता है। केवल दो ही ऋत्विक् अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता होम करते हैं। अग्नि में सोम की आहुति देने में उक्त सभी प्यालों (कटोरों) से सोमरस एक साथ निकालना होता है, अतएव उन प्यालों को हाथ में पकड़े रखने के लिए जिन सहायकों की आवश्यकता पड़ती है, वे चमसाध्वर्यु कहलाते हैं।

शमिता :—जो यज्ञाहुति के निमित्त पशु को प्राणसंयमन द्वारा जीवनाहुति कराने का कार्य करता है, वह शमिता[1] कहलाता है।

निम्नांकित व्यक्तियों को यज्ञकर्मकाण्ड में कोई मुख्य पदवी नहीं प्रदान की गई है :—प्रेष्य (उद्घोषक), हविष्कृत् (जो हविष् तैयार करता है), हविष्येशी, इध्मवाहन (ईंधन ले जाने वाला) ध्रुवगोप (ध्रुव का रक्षक ध्रुवगोप का उल्लेख वौधायन श्रौत सूत्र में मिलता है), पशुपाल्यन (याग में जो दुधारू गायों की देख रेख करता है), विशस्ता (चीड़फाड़ करने वाला), धाता, तथा राजासन्दी। शतपथब्राह्मण के अनुसार यजमान की पत्नी स्वयं हविष्कृत् होती है। केवल विशिष्ट परिस्थिति में ही कोई अन्य व्यक्ति हविष्कृत्[2] हो सकता है।

3 वेदि :—यज्ञशाला में वह स्थान जहाँ विभिन्न अग्निकुण्ड स्थित होते हैं, वेदि कहलाता है। पाश्चात्य धारणाओं के अनुसार वेदि साधारण भूमि से कुछ उन्नत भूमि पर स्थित मानी जाती है। स्पष्ट रूप से वेदि का यह अर्थ वैदिक कालीन (वेदि) के अर्थ से भिन्न है। वैदिक कालीन धारणा के अनुसार वेदि वह भूस्थल है जो एक निश्चित माप का तथा शुद्धीकृत होता है। यही भाव 'अमरकोश' में भी सन्निहित है—'वेदिः परिष्कृता भूमिः।' अमरकोश—2.423.।

यज्ञ की तीनों विधाओं इष्टि, पशुबन्ध एवं सोमयाग की अपनी अलग-अलग वेदि होती है। वरुणप्रघास (एक प्रकार का चातुर्मास्य) में एक अन्य विशिष्ट ढंग की वेदि उपयोग में लायी जाती है। इष्टि में प्रयुक्त की जाने वाली वेदि 'दार्शिकी वेदी' ही अन्य सभी तरह की वेदियों की मानक स्वरूप होती है। अन्य सभी वेदियाँ दार्शिकी की रूपान्तर अथवा संशोधित रूप में हुआ करती हैं। सभी वेदियाँ पूरव-पश्चिम स्थित होती हैं।

---

1. पूर्वमीमांसा सूत्र के अनुसार शमिता अध्वर्यु ही होता है,......'शमिता च शब्दभेदात्। प्रकरणात् या उत्पत्त्यसंयोगात्' 3.7.28,29 शबरस्वामिन् तस्मात् शमनात् अध्वर्युः।
2. 'तद्ध स्मैतत्पुरा' जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति। तदिदमप्येतर्हि यऽएव कश्चोपोत्तिष्ठति।' श० ब्रा० 1.1.4.13

दार्शिकी वेदि :– इस वेदि पर नित्य के अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमासेष्टि सम्पन्न किये जाते हैं। यह सबसे सरल ढंग की वेदि होती है। उस स्थान पर जहाँ यह वेदि निर्मित की जाती है, सर्वप्रथम गार्हपत्य का स्थान चिह्नित किया जाता है। गार्हपत्य कुण्ड गोलाई में होता है। यह ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मणों में कहीं भी 'कुण्ड' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि उनमें 'आयतन' शब्द का प्रयोग मिलता है। गार्हपत्य के केन्द्र से थोड़ी दूरी पर आहवनीय कुण्ड स्थित होता है। गार्हपत्य एवं आहवनीय कुण्डों के बीच की कोई निश्चित दूरी नहीं होती[1]। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार यह दूरी जितनी यजमान चाहे रख सकता है, इसकी कोई निर्धारित सीमा नहीं है,—'नात्र मात्रास्ति। यावतीमेव मनसा मन्येत। तावतीं कुर्यात्।' (श० ब्रा० 1.2.5.14)। आहवनीय कुण्ड चौकोर होता है। गार्हपत्य के समीप ही दक्षिणाग्नि का स्थान होता है। यह कुण्ड आकार में अर्द्धगोलाकार होता है। गार्हपत्य एवं आहवनीय के बीच की भूमि दो बन्धों से सीमित कर दी जाती है। यह बन्धा आहवनीय के पश्चिमी किनारे से आरम्भ होता है तथा गार्हपत्य के पूर्वी छोर तक जाता है। दोनों कुण्डों को छूने वाले इन बन्धों का निर्माण स्वेच्छा पर निर्भर करता है। यदि ये दोनों कुण्डों को नहीं छूते तो पूर्वी कोने (अंस) तथा पश्चिमी कोने (श्रोणि) को जोड़ दिया जाता है। दोनों बन्धों के बीच की भूमि गार्हपत्य तक पहुँचते-पहुँचते चौड़ी होती जाती है। यह आकार स्त्री के आकार की तरह ही होता है:—'योषेव' (श० ब्रा० 1.2.5.16) (जै० ब्रा० 1.364)। परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य में वेदि को उपमान बनाकर वर्णन किया गया है। महाकवि कालिदास ने कहा है, 'मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या'······(कुमार संभवम् 1.37)। घेरे के पूर्वी कोनों को अंस तथा पश्चिमी कोनों को श्रोणी कहा जाता है। कुण्डों की गहराई चार अंगुलि प्रमाण होती है। यदि कुण्ड की गहराई कृत होम से चार इंच की गहराई से अधिक होती है तो इसका सम्बन्ध पितरों[2] से होता है। वेदि पूर्व अथवा उत्तर की तरफ ढालू होती[3] है।

---

1. द्वादशसु विक्रामेष्वग्निमादधीत। द्वादश मासास्संवत्सरः। संवत्सरादेवैनमवरुध्याधत्ते। यद्द्वादशसु विक्रामेष्वादधीत। परिमितमवरुन्धीत। चक्षुर्निमित आदधीत। इयद्द्वादश-विक्रामा इति। परिमितं चैवापरिमितं चावरुन्धे। तै० ब्रा० 1.1,4.1

2. पितृदेवत्याऽतिखाता इयतीं खनति। प्रजापतिना यज्ञ मुखेन संमिताम्। वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां चतुरंगुलेऽन्व विन्दन्न। तस्माच्चतुरंगुलं खेया। चतुरंगुलं खनति। तै० ब्रा० 3.2.9,8. श० ब्रा0 1.2.5.17.

3. प्राचीमुदीचीं प्रवणांकरोति·····दक्षिणतो वर्षीयसी करोति। (तै0 ब्रा0 3.2.9.8-11) श० ब्रा० 1.2.5.17.

यहाँ यह जान लेना महत्त्वपूर्ण है कि स्मार्त कर्मकाण्ड में चौकोर आकार का केवल एक कुण्ड बनाया जाता है। तान्त्रिक क्रियाओं में कुण्ड एक निश्चित गहराई लिये हुए होता है। यह गहराई सामान्यतः चार फीट होती है तथा घेरी जाने वाली जगह भूसतह से लगभग दो फीट ऊँची होती है, अथवा यह निचली वेदि (स्थण्डिल) भी होती है। चौकोर आकृति के अतिरिक्त कुण्डों की अनेक आकृतियाँ वर्णित हैं।

वरुणप्रघास वेदिः— दार्शिकी वेदि के दक्षिण गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि के कुण्डों के बिना एक अन्य दार्शिकी वेदि का निर्माण किया जाता है जो वरुणप्रघास वेदि कहलाती है।

सौमिक वेदिः—सौमिक वेदि की सामान्य रूपरेखा बता देना आवश्यक है। निर्धारित आकार वाली दार्शिकी वेदि के पूर्व जिसे प्राग्वंश अथवा प्राचीनवंश कहा जाता है, एक अन्य बड़ी वेदि का निर्माण किया जाता है जिसमें बालू के बन्ध तैयार किये जाते हैं। इस बड़े आकार की वेदि (महावेदि) के पूर्वी भाग में सदोमण्डप निर्मित होता है। इस मण्डप में होता ऋत्विक् बैठते हैं। इस मण्डप के भी पूर्व में हविर्धाममण्डप होता है। इस मण्डप के नीचे सोमलता एकत्र कर माड़ी व पेरी जाती है। सोम रस निकाल कर तथा छानकर इसी मण्डप के नीचे पात्र में रखा जाता है। इसी स्थान पर ग्रह, जुहू (बड़ी कलछी) एवं अन्य यज्ञ-पात्र रखे जाते हैं। इसके भी पूर्व में आहवनीय (उत्तरवेदि) होती है जो कि आहुतियों के लिये मुख्य स्थान होता है। सौमिक वेदि एक चौकोर आकार की वेदि होती है जो कि यजमान के घुटनों तक ऊँची होती है। उपर्युक्त महावेदि की पूर्वी सीमा पर 'यूप' गाड़ा जाता है। यज्ञशाला में पूर्वी-पश्चिमी पक्ति में यूप, उत्तरवेदि (आहवनीय) का केन्द्र, औदुम्बरी, गार्हपत्य का केन्द्र (अर्थात् प्राग्वंश में आहवनीय) एवं प्रजनित (अर्थात् प्राग्वंश में गार्हपत्य) स्थित रहते हैं।

उत्तर की तरफ वेदि की सीमा के साथ तथा दोनों मण्डपों के बीच आग्नीध्रीय मण्डप (आग्नीध्र ऋत्विक् के बैठने का स्थान) निर्मित होता है। उक्त स्थान के ठीक दूसरी ओर दक्षिण दिशा में एक निचली वेदि (मार्जालीय धिष्ण्य) बनायी जाती है जहाँ चमस आदि पात्रों को माँजा जाता है। वेदि के उत्तर-पूर्व के कोने में एक चात्वाल (कूड़ादान) भूमि में खुदा हुआ रहता है। वेदि के कुछ दूर पर एक अलग घेरे में समिध-गृह बना रहता है।

पशुबन्ध वेदिः— आकार में पशुबन्ध वेदि सौमिक वेदि की तरह ही होती है। इसमें उत्तरवेदि तथा महावेदि पर यूप गड़ा होता है, किन्तु कोई मण्डप नहीं होता। महावेदि की पश्चिमी सीमारेखा के बाहर होता और प्रशास्ता पास-पास बैठते हैं।

चयनः— सौमिक वेदि की उत्तरवेदि चयन के लिये संशोधित कर तैयार की जाती है। उत्तरवेदि प्रायेण चौकर आकृति की होती है तथा यजमान के घुटने तक ऊँची होती है। चयन की वेदि से संशोधित-परिवर्द्धित कर अनेक आकार की वेदियाँ बनायी जाती हैं। उदाहरणस्वरूप निम्नांकित[1] प्रमुख हैं :—

1—श्येनचित् —[पंख फैलाये हुए गिद्ध की आकार वाली]।

2—कंकचित् —[बिना पंख के सारस के आकार वाली]।

3—प्राङ्चित् —[त्रिकोणात्मक]

4—उभयतः प्राङ्चित —[दोनों ओर से त्रिकोणात्मक]।

5—रथचक्रचित् —[चक्राकार तीलियों सहित अथवा बिना तीलियों वाली]।

6—द्रोणचित् —[हत्था लगे हुए पात्र के आकार वाली]।

7—परिच्छाय —[छः वृत्तों के आकार वाली]

8—समूह्य —[गोलाकार, कच्चे ईटों से बनी]।

9—कूर्म —[कछुए की आकार वाली]।

ये सभी वेदियाँ तथा चौकोर आकृति की वेदि सुन्दर परतों में बनायी जाती है। प्रथम (सबसे नीचे वाली) तृतीय एवं चतुर्थ परतें एक आकार की तथा द्वितीय एवं चतुर्थ परतें अन्य आकार की होती हैं। ईंटों में गारा लगाकर इनका निर्माण किया जाता है। वेदि निर्माण के बारे में ब्राह्मणों में पर्याप्त निर्देश दिये गये हैं। शतपथब्राह्मण के चयनकाण्ड में विभिन्न प्रकार की वेदियों का विवरण अंकित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में कुछ वेदियों के प्रकार

---

1. तं हैके एतया विकृत्या अभिमन्त्य अन्यांचिंति चिन्वन्ति द्रोणचिंति वा रथचक्रचितं वा कंकचितं वा प्राङ्चितं वा। श० ब्रा० 6.7.2.8

वर्णित हैं। इनके अध्ययन से विदित होता है कि वेदियों के आकार प्रकार की पूरी रेखागणित निश्चित व्यवस्था सहित इनमें विवेचित है[1]।

4–प्रवर्ग्यः—प्रवर्ग्य की क्रिया सोमयाग के प्रारम्भिक दिनों में सम्पन्न की जाती है। प्रवर्ग्य में उबले हुए घी को बकरी तथा गाय के दूध में मिलाकर आहुति दी जाती है। यही मत प्रो० कीथ ने अपने ग्रन्थ 'रेलिजन एण्ड फिलासफी आव् वेद एण्ड उपनिषद्स' 2 में पृ० 332 पर व्यक्त किया है। सोमयाग में यह दिन में दो बार किया जाता है। प्रतिदिन प्रातः प्रवर्ग्य के बाद उत्तर-वेदि की एक परत रखी जाती है। उत्तर वेदि में पाँच परतें रखी जाती हैं, अतएव प्रवर्ग्य निरन्तर पाँच दिन तक किया जाता है। प्रवर्ग्य को धर्म भी कहा जाता है। इस क्रिया में वह पात्र जिसमें घृत उबाला जाता है, महावीर कहलाता है। 'वीर' का अर्थ 'अग्नि' है, अतएव महावीर का अर्थ है महा (विशाल) अग्नि। संभवतः यह क्रिया ही 'महा अग्नि' के नाम से ज्ञात रही होगी। तदनुसार पात्र का नाम पड़ गया। यह पात्र विशिष्ट ढंग से निर्मित होता है। जैसे ही पात्र में उबलते, उफनते हुए घी में दूध डाला जाता है, अग्नि की अति विशाल लपटें उत्पन्न होती हैं।

उपसदः— प्रवर्ग्य की महाग्नि की क्रिया के बाद जो क्रिया महाग्नि के शमन हेतु सम्पन्न की जाती है, उपसद कहलाती है।

5–सोमयाग के सवनः— कर्मकाण्ड के आधार पर सोमयाग का प्रधान दिवस तीन भागों में विभक्त होता है। प्रत्येक भाग को सवन कहा जाता है। प्रत्येक सवन में सोमलता से रस निकालने, स्तोत्र एवं शस्त्र पाठ करने आदि की क्रियाएँ प्रमुख होती हैं। उद्गाता एवं अन्य ऋत्विक्गण सामगान करते हैं जिसे शस्त्र कहा जाता है। एक तरफ शस्त्र गान होता है, उधर अध्वर्यु या प्रतिप्रस्थाता गायक ऋत्विक् के सामने खड़े होकर अपने दोनों हाथों को पैर के घुटनों पर रखकर गायक को प्रोत्साहित करते हुए 'ओमामोद इव' (अर्थात् अथ आमोद इव) शब्दों का उच्चारण करता है। इसे प्रतिगर कहते हैं। शस्त्र पाठ के अन्त में, अध्वर्यु ग्रह (पात्र) में सोमरस उत्सृजित करता है तथा साथ ही नौ अथवा दस चमसों में आहवनीय में इस प्रकार रस डाला जाता है कि चमसों (पात्रों) में

1. विशेष अध्ययन के लिये द्रष्टव्य–आर० एन० आप्टे का निबन्ध 'Some points connected with constructive Geometry of the Vedic Altars'
ए० बी० ओ० आर० आई० 7,1926, पृ० 3

सोमरस की कुछ बूंदें शेष रह जाती हैं। इस प्रकार होम करने के बाद 'ग्रहों' एवं 'चमसों' को होता के पास लाया जाता है और तब प्रत्येक चमसी[1] को उसका अपना चमस दे दिया जाता है। वे चमस में बची सोमरस की बूंदों का एक दूसरे को संसूचित करने के बाद पान करते हैं। एक दूसरे को संसूचित करके सोमरस पीने की यह प्रथा आधुनिक सभ्यों के सुरापान में 'चियर्स' की प्रथा की आधारभूत प्रतीत होती है। किन्तु सोमरस अमिय रस है, सुरा-सुरा है। एक में देवत्व की उपलब्धि है, दूसरे में देवत्व से दूर जाने की अन्धता !

तीनों सवन दिन के कालभाग के आधार पर ही प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन के नाम से प्रसिद्ध हैं। पंचब्राह्मण (9.5.5) ने ही एकमात्र अपवाद के रूप में तृतीय सवन को अपराह्ण सवन की संज्ञा दी है। बाद के लौकिक साहित्य में तृतीय सवन को सायन्तन सवन भी कहा गया है। कालिदास[2] ने 'सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते' में इसी नाम का अभिधान किया है। इस सवन क्रिया में सोमलता को दो टुकड़ों में तोड़कर प्रथम दो सवनों हेतु बाँट दिया जाता है। प्रथम दोनों सवनों में पेरी गयी सोमलता की बची हुई खूजी को तृतीय सवन हेतु पुनः पेरा जाता है तथा जो भी थोड़ा सा रस निकलता है उसे मथे हुए दही में मिलाया जाता है। इसीलिये जैमिनिब्राह्मण में तृतीय को 'बचा[3] हुआ' भी कहा गया है।

6. अहिंसा :—वेदविदों ने यज्ञों में हिंसा एवं अहिंसा बिषय पर भी विचार किया है। चार्वाक एवं नास्तिक अति प्राचीनकाल से ही यह मानते आये हैं कि वैदिक यज्ञों में अहिंसा का कोई स्थान नहीं है। कतिपय दार्शनिकों ने भी इस मत का समर्थन किया है। प्रो० कीथ ने तो यहाँ तक कहा[4] है कि वैदिक युग में कभी अहिंसा की पूर्ण मान्यता नहीं रही है।

---

1. चमसिन् को सोमयाग में सोमरस पीने का अधिकार प्राप्त होता है। ये अधिकारी हैं :- होता, ब्रह्मा, उद्गाता, प्रशस्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्ट्रा, आग्नीध्र, यजमान तथा सदस्य।
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् तृतीय अंक, 24
3. जै० ब्रा० (1.4)।

4–'The use of animals for food was the basis of this slaughter and the doctrine of ahimsa is one which never even in India received full sanction.'

एo बीoकीथ : रेलिजन एण्ड फिलासफी आव् वेद एण्ड उपनिषद्स.' 2 पृ० 476

ब्राह्मणों में अनेक यज्ञों का वर्णन किया गया है। इनमें विशिष्ट यज्ञ-पशुओं के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि वैदिक यज्ञों में 'अहिंसा' अज्ञात वस्तु थी। 'हिंसा' का विषय बारम्बार जीवन एवं स्थिति के संदर्भ में आया है। समग्र ब्रह्माण्ड जड़ एवं जंगम तत्त्वों से परिपूर्ण बताया गया है। ये ही स्थिति एवं जीवन को गतिमान् करते हैं।

अश्वमेध यज्ञ में आरण्य-पशुओं का पर्यग्नि-कर्म के बाद अहिंसा के कारण ही छोड़ दिया जाना वर्णित है (पर्यग्निकृतं पुरुषं चारण्यांश्चोत्सृजन्त्यहिंसायै)[1]। वेदि का निर्माण करते समय 'स्फ्या' से भूमि खोदनी पड़ती है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि भूमि खोदते समय स्फ्या और भूमि के बीच घास रखकर भूमि खोदनी चाहिए ताकि भूमि की हिंसा न हो[2]। वेदिकरण (वेदिनिर्माण) कर्म को ही क्रूर कर्म माना[3] गया है। इष्टि विधान में पुरोडाश बनाने हेतु जब चावल के लिये धान कूटा जाता है तो उलूखल को कृष्णाजिन पर रखा जाता है जिससे कि उलूखल एवं पृथ्वी को चोट न पहुँचे[4]। एक कर्मकाण्ड में स्वधिति चाकू को सम्बोधित कर कहा गया है, 'हे स्वधिति। इसे चोट न पहुँचाओ[5]।' यह बात नितान्त उपहासास्पद ही लगती है कि जब कोई वस्तु काटी जा रही है तो काटने वाले चक्कू से यह कहा जाता है कि वह किसी वस्तु को चोट न पहुँचाए। साथ ही निर्जीव पदार्थों से अनुरोध किया जाना कि वह चोट न पहुँचाए, आश्चर्यजनक अवश्य लगता है। किन्तु इस सब से यह तथ्य अवश्य उभर कर सामने आता है कि इस प्रकार के वर्णनों से प्राकृतिक जीवों एवं पदार्थों के प्रति दया, संवेदना एवं सहानुभूति के भावों को सृजित किया गया है। साथ ही यह भी व्यक्त करने का प्रयास किया गया है कि चीरफाड़ एवं काटपीट करने वाले पदार्थों के निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण तथा पवित्र प्रयोजन हुआ करता है[6]। उन

---

1. तै०ब्रा० 3.9.9.3;
2. अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति। नेदनेव वज्रेण संशितेन पृथिवीं हनसानीति। श०ब्रा० 1.2.4.15
3. क्रूरमिव वा एतत् करोति। यद्वेदि करोति। धा असि ....स्वधा असीति योयुप्यते शान्त्यै तै० ब्रा० 3.2.9.13
4. श० ब्र० 1.1.4.5-7
5. 'ओषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसीः इत्याह हिंसन्।......आम्नायवचनात् अहिंसा प्रतीयेत।' निरुक्त 1.52
6. शल्य चिकित्सा द्वारा उपचार का उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है। कालिदास के 'शाकुन्तलम्' में धीवर की उक्ति 'पशुमारणकर्म दारुणो अनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः' इसी विचारधारा की पोषिका है।

हथियारों या औजारों का जिनके द्वारा हिंसापरक चोट पहुँचायी जाती है अपना-अपना आधार होता है। शक्ति के साधनभूत इन हथियारों तथा औजारों के अपने-अपने अधिष्ठात्री देवता होते हैं जिनकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता, प्रत्युत संगत उत्सवों, पर्वों एवं कर्मकाण्डों में इनका उद्‌बोधन—स्तवन आयुष्य, सुख, शान्ति एवं समृद्धि के लिये आवश्यक समझा गया था। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि यज्ञ के पुरोडाश निर्माण के लिये अन्न को कूटे पीसे जाने की क्रिया को भी हिंसात्मक मारणक्रिया के रूप में लिया जाता था। स्पष्टतः अन्न को जीवन से संयुक्त ही माना गया है। इसी प्रकार सोमलता को रस हेतु जब पेरा जाता था तो उस क्रिया से उसका मरण ही परिकल्पित किया गया। 'शतपथब्राह्मण' का कथन है कि यज्ञकर्म से स्वयं यज्ञ का ही मारण किया जाता है (घ्नन्ति) उलूखल एवं मुसल से हविर्यज्ञ का मारण किया जाता है।[1] अग्निहोत्र में मुसल को सम्बोधित मन्त्र, अध्रिगु[2] को सम्बोधित मन्त्र तथा सोमयाग में पशु के सम्बन्ध में शमिता को सम्बोधित मन्त्र के समान ही है। इन सभी उदाहरणों से इस एकमात्र तथ्य को उजागर किया गया है कि जीवन की आहुति देना लेना मात्र पशुओं के लिये ही नहीं है, प्रत्युत प्रकृति के हर क्षेत्र व उपादान में यह लागू होता है। मानव के ज्ञान के लिये यही तथ्य अभिव्यक्त किया गया है। शतपथब्राह्मण (2.2.2.1) में सोमलता (पादपजगत्) पशु (बुद्धि विवेक रहित पशुजगत् (तथा अन्न) जीवन संयुक्त कृषिजगत्)—प्रकृति के तीनों उपादानों को एक भाव तथा एक दृष्टि से देखा गया है। इन तीनों ही उदाहरणों में एक ही चेतना का वास होना ध्वनित है।

वेदों में हिंसा पर विचार करते समय 'अध्वर' शब्द पर दृष्टि गड़ जाती है। 'ध्वर' शब्द का अर्थ हिंसा है। अतएव जिसमें हिंसा न हो वही अध्वर है। हिंसा वहीं होती है जहाँ चोट या पीड़ा पहुँचाने वाला व्यक्ति वैरभाव से चोट या पीड़ा पहुँचाता है (अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिः हिंसाकर्म तत्प्रतिषेधः। निरुक्त 21.15.16—द्वेषपूर्वको प्राणिवधो हिंसा)। द्वेषपूर्वक प्राणि वध करना

1. घ्नन्ति वा एतद्यज्ञं यदेनं तन्वते। यन्नेब राजानं अभिषुण्वन्ति। तत्तं घ्नन्ति। यत् पशु संज्ञपयन्ति विशासति तत्तं घ्नन्ति उलूखलमुसलांभ्या दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञं घ्नन्ति। श० ब्रा० 2.2.2.1

2. स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्वेति स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुरु इत्येवैतदाह। श० ब्रा० 1.1.4.10 अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वम्। तै० ब्रा० 3.6.6

हिंसा है। अतएव वैदिक अध्वर या यज्ञ में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि वहाँ द्वेषपूर्वक प्राणिवध नहीं किया जाता । इस सिद्धान्त से कायिक पीड़ा पहुँचाना मात्र हिंसात्व का द्योतक नहीं होता, बल्कि मानसिक भाव हिंसात्व का निर्णायक होता है । यदि व्यक्ति की नीयत वैर या द्वेषभाव से प्रेरित हो तभी चोट पहुँचाना हिंसा का कृत्य माना जा सकता है, अन्यथा नहीं । यह वैदिक सिद्धान्त कितना आधुनिक है यह तथ्य हमें विस्मयमुग्ध कर देता है । आज भी विधिजगत् में कदाशयता अर्थात् खराब नीयत— (mens rea) ही फौजदारी के अपराध को सिद्ध करने के मूल में निर्णायक तत्त्व माना गया है। कदाशयता से की गयी हत्या ही आज अपराध मानी जाती है, आत्मरक्षा में की गयी हत्या कदापि अपराध नहीं मानी जाती । वैदिक यज्ञ में जब कर्मकाण्ड का परिणाम सुखात्मक हो तो उस कर्म को हिंसात्मक नहीं कहा जा सकता, भले ही आहुति देते समय पीड़ा का अनुभव किया जाय, अन्यथा जीवन ही संभव नहीं होगा । यदि यह सिद्धान्त न माना जाय तो शल्य चिकित्सा करने वाले चिकित्सक का चीरफाड़ कृत्य भी हिंसा की श्रेणी में गिना जाने लगेगा । जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं जिनमें किये गये कृत्य हिंसा की परिधि में आ जायँगे । यज्ञ एक विशिष्ट सार्वभौम, अनुष्ठानकर्म है जिसका मूल्यांकन उच्चतर स्तर पर किये जाने की अपेक्षा होती है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जो भी 'ऋत' के अनुकूल हो और उसका अनुपोषण करे वह अच्छा कृत्य कहा जायगा, भले ही उसकी इन्द्रियात्मक अनुभूति वेदनागर्भित क्यों न हो । जो कृत्य 'ऋत' का परिपन्थी हो, उसका अवष्टम्भक हो, वह हिंसा कहलाएगा । यदि जीवन की आहुति आवश्यक है तो वह आहुति अच्छा कृत्य होगा । वस्तुतः यही सार्वभौम दृष्टि कही जाएगी । शतपथब्राह्मण (11.4.13.4) में यही भाव अभिव्यक्त किया गया है कि पशुबन्ध वास्तव में आत्मसमर्पण का उदात्त कर्म है । 'एतेऽपि याज्ञिकाः यज्ञकर्मणि प्रशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेः न जानन्ति । तत्र किल एतदुक्तम् । अजैः यष्टव्यमिति । अजा व्रीह्यः तावत् सप्तवार्षिका कथ्यन्ते । न पशुविशेषाः ।' (पंचतन्त्र, तन्त्र 5, पृष्ठ 219 निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, नवां संस्करण 1950) । पंचतन्त्र में यह कथन यद्यपि दुष्ट विडाल के मुख से कहलाया गया है, अतएव यह किसी परम्परा का भले ही परिचायक न हो, किन्तु फिर भी इस बात का उदाहरण तो है ही कि इस तरह का भी अर्थ लगाया जा सकता है । वेदों में पशुयज्ञ आखिरकार आत्म की आहुति या अर्पण ही तो है और यही जीवन का

रहस्य है[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि पशुयज्ञ की आवश्यकता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। ये पशुयज्ञ हिंसा एवं अहिंसा के परिक्षेत्र से बहुत ऊपर थे। वैसे भी मानवीव दृष्टिकोण से हिंसा तथा अहिंसा की वास्तविक परिभाषा करना बहुत कठिन है। जैन सम्प्रदाय द्वारा उद्घोषित अहिंसा को जो कि जीवन के कटु यथार्थ के ठीक उल्टी है, यदि मान लिया जाय तो व्यक्ति का जीवन और मरण दोनों ही दूभर हो जाएगा। इसीलिये जैन सम्प्रदाय की अहिंसा को संशोधित-सीमित परिवेश में लेना ही श्रेयस्कर है।

पशुयज्ञ का प्रयोजन देव-ऋण से मुक्ति पाना भी होता है। दीक्षा[2] लेकर यजमान स्वयं को सभी देवताओं को अर्पित (आलभते) कर देता है। संचित देव-ऋण से मुक्ति पाने के लिये वह स्वयं हविष् बन जाता है। यज्ञ में पशु यजमान का प्रतिस्थानी बन जाता है। जीव अर्थात् जीवन जो अमृत है स्वयं अमृत रूप देवों का हविष् बन जाता है[3]। जीवात्मा यजमान तथा यज्ञ में उसके प्रतिस्थानी पशु के आनन्दबोध तथा जीवन संघर्ष के वीच एक ऋण बाधक के रूप में खड़ा रहता है जो पशुयज्ञ में ही मुक्त एवं पर्यवसित होता है।

7–दक्षिणा :—

किसी अनिवार्य देवविषयिणी सेवा हेतु सम्मानपूर्वक दिया गया उपहार अथवा पारिश्रमिक दक्षिणा कहलाता है। यास्क ने दक्षिणा का अर्थ समृद्ध करना लगाया है–दक्ष धातु समृद्ध करने के अर्थ में ली गयी[4] है। अकिञ्चन ऋत्विक् को दक्षिणा समृद्ध कर देती है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि जब यज्ञानुष्ठान किया जाता है तो यज्ञ को आघात पहुँचता है, जब सोमरस पेरा जाता है तो उसको आघात पहुँचता है, जब पशु का संज्ञपन किया जाता है तो उसको आघात पहुँचाया जाता है, ऊखल मूसल तथा चक्की के दो पत्थर हविष् को आघात पहुँचाते हैं। इस प्रकार आघात पहुँचाया हुआ यज्ञ आहत हो जाता है। देवों ने दक्षिणा देकर यज्ञ को दक्ष (शक्तिमान्) बनाया। इसलिये इसका नाम दक्षिणा

---

1. आर० एन० सूर्यनारायण,—'युनिवर्सल रेलिजन' पृष्ठ 43,52
2. स हविर्वा एष भवति यो दीक्षते··· तत् पशुना आत्मानं निष्क्रणीते। श० ब्रा० 33.4.11 सयत् पशुबन्धेन यजते। आत्मानं एवैतान् निष्क्रणीते। वीरेण वीरम् वीरो हि पशुः वीरो यजमानः। श०ब्रा० 11.7.1.3
3. जीवं वै देवानां हविः अमृतं अमृतानाम्। श०ब्रा० 1.2.1.20
4. 'दक्षिणा दक्षतेः समर्धयति कर्मणः व्यृद्धं समर्धयतीति।' निरुक्त, 1.7

पड़ गया। यज्ञ की समृद्धि हेतु दक्षिणा दी जाती है[1]। यास्क की एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार चूँकि अग्निष्टोमादि में दक्षिणा को वेदि के दक्षिण भाग में रखा जाता है, अतएव दिशावोध कराने के कारण यज्ञसम्पादन के वदले पारिश्रमिक के रूप में दिये गये पदार्थ भी दक्षिणा कहलाये[2]। प्रत्येक देवताविषयक अनुष्ठान या कर्मकाण्ड में नकद रूप में दक्षिणा देने का निश्चित विधान होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में दक्षिणा का सविस्तर वर्णन मिलता है। इनमें स्पष्ट रूप से प्राविधानित किया गया है कि किस कर्मकाण्ड में किस ऋत्विक् को क्या दक्षिणा दी जानी चाहिए। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ में दक्षिणा देना अनिवार्य कृत्य माना गया है। जैसे बिना बैलों के बैलगाड़ी चालक के लिये कष्टकारक होती है वैसे ही बिना दक्षिणा के यज्ञ भी यष्टा के लिये हानिकारक होता है[3]। ब्राह्मणों में प्रयुक्त दक्षिणा शब्द अतिजटिल है। मोनियर विलियम्स ने दक्षिणा का अर्थ यज्ञिय शुल्क दान पुरस्कार आदि माना[4] है। शतपथब्राह्मण में यह कहा गया है कि दक्षिणा केवल ऋत्विजों को दी जाती है। ऋक् यजुः साम तथा आहुतिमय यज्ञ से यजमान का नवीन आत्मा बनाया जाता है। देहत्याग के अनन्तर परलोक में उसका यही आत्मा होता है। इस अपर आत्मा का निर्माण ऋत्विज ही करते हैं। इसलिये दक्षिणा ऋत्विजों को ही देय है। जो ऋत्विक् नहीं हैं, उन्हें दक्षिणा देय नहीं है[5]। इससे यह स्पष्ट है कि दक्षिणा ऋत्विजों को यज्ञ सम्पादन के बदले पारिश्रमिक के रूप में दी जाती थी। ऐतरेय ब्राह्मण (5.34) में कहा गया है कि यजमान अध्वर्यु को इसलिये दक्षिणा देता है कि अध्वर्यु ने उसके लिये ग्रहों को थामा, परिक्रमा की तथा आहुतियाँ डालीं, उद्गाता को यह जानकर दक्षिणा देता है कि उद्गाता ने उसके लिये मन्त्रों का गान किया है, होता को यह जानकर कि उसने अनुवाक याज्य और शस्त्रों का पाठ किया है तथा ब्रह्मा को यज्ञ की चिकित्सा करने हेतु दक्षिणा देता है। इन

---

1. 'घ्नन्ति वा एतद् यज्ञं, यदेनं तन्वते। यन्नवेव राजा मभिषुण्वन्ति तन्त्तं घ्नन्त्तिं। यत्पशुं सञ्ज्ञपयन्ति विशासति तत् तं घ्नन्ति उलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यांहविर्यज्ञं घ्नन्ति। स एषयज्ञो हतो न ददक्षे। तं देवा दक्षिणा भिरदक्षयन्। तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्त स्माद्दक्षिणा तद्यदेवात्र यज्ञस्य हतस्य व्यथते तदेवास्यैतद् दक्षिणाभिर्दक्षयत्यथ समृद्ध एव यज्ञो भवति, तस्माद् दक्षिणाददाति। श०ब्रा० 2.2.2.1-2
2. निरुक्त, 1,7
3. ऐ० ब्रा० 6.35
4. मोनियर विलियम्स–'संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश' पृ० 466
5. श०ब्रा० 4.3.4.5

वर्णनों से यह आभास नहीं मिलता कि पुजारीगण दक्षिणा के लिये वहुत अधिक लालायित रहा करते थे। पुराणों में दक्षिणा का विशिष्ट उल्लेख मिलता है। उनमें वर्णित अनेक कथाओं में यह प्रदर्शित किया गया है कि राजा महाराजा अथवा धनाढ्य लोग ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा देते थे। इन कथानकों को पढ़ने से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि उन ब्रह्मनिष्ठ कर्म-काण्डपरायण ब्राह्मणों की सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धनी महानुभाव स्वयमेव प्रभूत दक्षिणा इसलिये दिया करते थे कि वे ब्राह्मण वीतराग एवं निःस्पृह हुआ करते थे तथा इसलिये कि वे अनुष्ठानों एवं पवित्र कर्मकाण्ड का सम्पादन निश्चिन्त भाव से स्वतन्त्र और तुच्छ मोह माया में बिना पड़े निर्वाध रूप से करा सकें। दक्षिणा से तत्कालीन समाज के सम्पन्न जनों की नष्ठिक उदार-भावना ही अभिव्यक्त हुआ करती थी, वह प्राप्तिकर्त्ता की लालच कदापि ध्वनित नहीं करती। कतिपय विद्वानों की दक्षिणा[1] के बारे में अति तुच्छ राय है। ये विद्वान् जिनमें मोनियर विलियम्स सम्मिलित हैं दक्षिणा को 'शुल्क' की संज्ञा देते हैं, शुल्क अर्थात् कृत कर्मकाण्ड में निहित श्रम के बदले में माँगा गया पारिश्रमिक अथवा धन। इस प्रकार ये महानुभाव 'पौरोहित्य' कर्म को ही गर्हणा की दृष्टि से देखते हैं। उनकी प्रायः यह धारणा रही है कि ब्राह्मण पुरोहित पारिश्रमिक अथवा 'शुल्क' के पीछे ही भागते रहते थे। किन्तु दक्षिणा के बारे में ऐसी धारणा एकाङ्गी ही कही जाएगी। ब्राह्मण ग्रन्थ इस विषय पर स्पष्ट अभिधान करते हैं। उनका कथन है कि 'दक्षिणा' अपने साथ 'विपत्ति' भी लाती है। इस दृष्टिकोण के रहते हुए ऋत्विक् को दक्षिणा के पीछे भागने वाला नहीं ठहराया जा सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कहना है कि दक्षिणा लेने के बाद प्राप्तिकर्त्ता को सत्रहगुना अधिक प्राणायाम (अपान्यात्) करना पड़ेगा जिससे कि वह स्वयं प्रजापति बन जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि दक्षिणा लेने के बाद प्राप्तिकर्ता के लिये अन्तः शुद्धि हेतु प्राणों का संयमन करना अनिवार्य था जिससे कि वह अपने तेज की अभिवृद्धि करते हुए प्रजापतित्व को प्राप्त करे। ऐसा करने पर ही वह पुरोहित दक्षिणा-जन्य विपत्ति[2] (अनार्ति) से बच सकता है। दक्षिणा

---

1. उदाहरणार्थ : 'Very fine poetry marred by references to the sacrifice and the priestly fee·········disgusting character of dakshina of later Hinduism. Deshmukh—'Religion in Vedic Literature,' P. 348

2. दक्षिणां प्रतिगृहीष्यन् सप्तदशकृत्वोऽपान्यात्। आत्मानमेव समिन्धे। तेजसे वीर्याय। अथो प्रजापतिरेवैनां भूत्वा प्रतिगृह्णाति आत्मनोऽनार्त्यै। (तै० ब्रा० 2.3.2.1)

लेते समय प्राप्तिकर्त्ता को निर्दिष्ट मन्त्रोच्चार करना पड़ता है। जो भी हो, दक्षिणा देने तथा लेने का विधान अनिवार्य[1] सा ही था। अतएव जब दक्षिणा एक तरह से लेनी विहित ही थी तो प्राप्तिकर्ता के ऊपर उसके पीछे दौड़ने का आरोप लगाना समझ में नहीं आता, विशेषकर उस दशा में जब स्वीकार[2] की गयी दक्षिणा विपत्ति भी लाती थी।

शतपथब्राह्मण में मुख्यतया स्वर्ण, गाय, वस्त्र तथा अश्व को दक्षिणा के रूप में दिये जाने का विधान है[3] —'चतस्रोवै दक्षिणा। हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो…।'

ब्राह्मण ग्रन्थों में दक्षिणा का अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है। दक्षिणा को यज्ञ की धुरी कहा गया[4] है। दृष्टान्त से स्पष्ट है कि जैसे बिना धुरी के चक्का चल ही नहीं सकता वैसे ही बिना दक्षिणा के यज्ञ कर्मकाण्ड सम्पन्न होना संभव ही नहीं है। और जब यज्ञकर्म ही अपूर्ण रहेगा तो यजमान का अभीष्ट कैसे पूर्ण हो सकता है? शतपथब्राह्मण की मान्यता है कि यज्ञ तथा दक्षिणा चूँकि ये दोनों ही देवलोक को जाते हैं, अतएव यजमान देवलोक जाने की लालसा से यज्ञ करता[5] है। इस प्रकार दक्षिणा देवलोक पहुँचाने हेतु माध्यम मानी गयी है। इसी आशय का भाव व्यक्त करते हुए गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि दक्षिणा एक सेतु के समान है जिसपर चढ़कर यजमान स्वर्ग लोक में उतर जाता[6] है। प्रकारान्तर से गोपथब्राह्मण में एक और दृष्टान्त दिया गया है जो दक्षिणा

1. विशेष अध्ययन के लिये द्रष्टव्य इमर्सनकृत 'लेक्चर्स एण्ड ब्रायोग्राफिकल स्केचेज' पृ० 186.
2. यह उल्लेखनीय है कि दक्षिणा नकद ही न होकर अन्य रूपों में भी होती थी। वस्तुत: यज्ञ कर्म के सम्पादन के बदले जो कुछ भी दिया जाता था वह 'दक्षिणा' था। दक्षिणा की सूची में गिनायी गयी वस्तुओं को उनके अभिधेयार्थ में ही नहीं लिया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक हजार गायों की दक्षिणा से गिनती में एक हजार गायें नहीं होती हैं। सम्भवत: 'गाय' विनिमय हेतु 'इकाई' हुआ करती होगी। पतञ्जलि का कथन यहाँ महत्त्वपूर्ण है, सहस्रकृत्वो दत्त्वा तया सर्वे ते सहस्र दक्षिणा: सम्पन्ना:।' 'Occasionally, the same cow passed on a thousand time' :—
बी० एन० पुरी —इण्डिया इन पतञ्जलि, पृ० 168
3. श०ब्रा० 4.3.4.7; 4.3.4.24
4. ता०म० ब्रा० 16.1.13
5. श०ब्रा० 4.3.4.6
6. गो० ब्रा० 2.3.17

के माहात्म्य पर प्रकाश डालता है। इसमें यज्ञ को नाव बतलाया गया[1] है। यज्ञ सम्पादन में यदि मन्त्र प्रयोग, कर्मकाण्ड तथा दक्षिणा में कोई त्रुटि रह जाती है तो वह यज्ञ रूपी नाव में एक छेद के रूप में रह जाती है जिसके कारण नाव डूब जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में दक्षिणा का माहात्म्य अनन्त है।

दक्षिणा के पीछे ऋत्विक् के न भागने के पक्ष में अन्य कारण यह भी तो था कि प्राचीन मान्यताओं में दक्षिणा पाने वाला व्यक्ति सौभाग्यशाली नहीं माना जाता था, बल्कि दक्षिणा देने वाला व्यक्ति आशीर्वाद एवं सौभाग्य का वास्तविक पात्र होता था। दक्षिणा देने में श्रद्धा अनिवार्य बतलायी गयी है। शतपथ ब्राह्मण में अग्न्याधान हेतु निर्दिष्ट दक्षिणा के अतिरिक्त श्रद्धा के अनुसार दक्षिणा देने का उल्लेख किया गया है[2]। शतपथ ब्राह्मण में श्रद्धा को दक्षिणा की प्रतिष्ठा कहा गया है[3]।

दक्षिणा के विधान का एक लाभ यह भी होता था कि दक्षिणा प्राप्त करने वाला दक्षिणा पाकर प्रोत्साहित होता था जिससे उसकी कर्मकाण्ड में दक्षता[4] और अधिक बढ़ जाती थी। जो दक्षिणा उदारमना होकर बिना संकोच दी जाती है, उससे महती जय होती है[5]। कर्मकाण्ड बिना दक्षिणा के अपूर्ण रहता है, क्योंकि दक्षिणा दे देने से यजमान एक प्रकार से ऋत्विक् के ऋण का प्रतिदान करता है। संभवतः इसी से 'ऋण' के विचार का सूत्रपात हुआ। परस्पर दक्षिणा देकर व लेकर यजमान एवं ऋत्विक् ऋणमुक्त हो जाया करते थे। ऋत्विक् द्वारा सम्पूर्ण मनोयोग एवं निष्ठा से यजमान का यज्ञ कर्मकाण्ड सम्पादित होता था। दक्षिणा पाकर वह ऋत्विक् प्रसन्न व सन्तुष्ट हो जाता था। दक्षिणा देने से सम्पादित कर्मकाण्ड की जाने अनजाने में की गयी मन, वचन एवं कर्मगत त्रुटियों का मर्षण हो जाता है। इस प्रकार दक्षिणा प्रायश्चित्त का भी कार्य करती है। अतएव दक्षिणा-रहित सम्पादित यज्ञ कर्मकाण्ड या धार्मिक कृत्य निष्फल हो जाता है। देवता को उद्देश्य कर द्रव्यत्याग ही याग का सर्वस्व माना गया है और चूंकि ऋत्विक् भी 'देवता' का ही मूर्त रूप होता है, अतएव उसे दी गयी

1. गो० ब्रा० 2.2.5
2. श० ब्रा० 2.2.2.5
3. श० ब्रा० 14.6.9.22
4. 'दक्षते ह्वै दक्षिणाँ प्रतिगृह्य।' तै० ब्रा० 3.11.8.8
5. श० ब्रा० 4.3.4.20

दक्षिणा प्रकारान्तर से देवता को दी गयी आहुति ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों से भले ही दक्षिणा मांगने का भाव निकलता हो, किन्तु समस्त धार्मिक कृत्य एवं अनुष्ठान में ऋत्विक् एवं यजमान का परस्पर सहभाव व सौमनस्य यज्ञ के पवित्र लक्ष्य को और अधिक उदात्त बना देता है। श्रद्धा के अनुसार ही दी गयी व स्वीकार की गयी दक्षिणा सही अर्थ में दक्षिणा है। वह यजमान एवं ऋत्विक् दोनों को अनिष्ट[1] से बचाती है।

8. प्रायश्चित्त :—ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायश्चित्त विषय पर उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कर्मकाण्ड एवं याग क्रियाओं को नियमित करने वाले सिद्धान्तों एवं प्राविधानों का कड़ाई एवं अनुशासनयुक्त ढंग से पालन कराये जाने पर बहुत बल दिया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ इस तथ्य की ओर पूर्णतया जागरूक हैं कि नियम, आचार संहिता, आदेश तथा स्पष्टीकरण चाहे जितने कट्टर हों तथा उनका अनुपालन कराने वाले ऋत्विक् एवं यजमान चाहे जितनी निर्भीकता से शुद्धमन से जागरूक एवं विवेकी होकर यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करायें, जाने अनजाने उनमें कहीं न कहीं कोई न कोई कमी या त्रुटि अवश्यमेव रह जाती है। इतने व्यापक क्षेत्र के यज्ञानुष्ठान में त्रुटि का रह जाना मानवसुलभ है। ये त्रुटियाँ या कमियाँ, चाहे यजमान की अनवधानता के कारण रह जांय या उससे साक्षात् अथवा परोक्ष रूप से सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा रह जांय, अतएव इन कमियों एवं त्रुटियों का प्रायश्चित्त अथवा मार्जन आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार शरीर के टूटे-फूटे[2] अंगों को शल्योपचार के माध्यम से जोड़कर पुनः एक संयुक्त रूप दिया जाता है ठीक उसी प्रकार प्रायश्चित्त द्वारा त्रुटि का मार्जन किया जाता है। प्रायश्चित्त कर्म जप अथवा मार्जन (मन्त्रोच्चार सहित शरीर पर पवित्र जल का छिड़काव) अथवा होम करके किया जाता है। किये गये संकल्प में कमी रह जाने अथवा अन्य त्रुटि प्रायश्चित्त द्वारा तिरोभूत हो जाती है। प्रायश्चित्तकर्म अत्यन्त स्वाभाविक कृत्य होता है जिसके द्वारा देवों का स्तवन कर त्रुटि के लिए उनसे क्षमा माँगी जाती है। प्रायश्चित्त सदैव कर्म-

---

1. तेभ्यो यद् दक्षिणां न नयेत्। दुरिष्टं स्यात्। अग्निमस्य वृञ्जीरन् तेभ्यो यथाश्रद्धं दद्यात्। तै० ब्रा० 3.12.5
2. तद्यथात्मनात्मानं सन्दध्याद्यथा पर्वणा पर्व यथा श्लेष्मणा चर्मण्यं वान्यद्वा विश्लिष्टं संश्लेषयेदेवमेव एताभिर्यज्ञस्य विश्लिष्टं सन्दधाति। ऐ० ब्रा० 25.32 तद्यथा शीर्णं तत्पर्वणा पर्वं सन्धाय भिषज्येत् एवमेवैनं विद्वान् त सर्वंविभिषज्यति।.........तस्मादु हैवं विदं एव प्रायश्चित्तिं कारयेत। जै० ब्रा० 1.3.85

काण्ड के अन्त में अत्यन्त विनीत भाव से किया जाता है ताकि त्रुटि की माफी मिल जाय और सम्पद्यमान कृत्य सफल हो जाय।

ब्राह्मणों में त्रुटियों के स्वरूपों के अनुरूप ही प्रायश्चित्तों[1] की भारी संख्या दी गयी है। ये प्रायश्चित्त कर्मकाण्ड की गरिमा, महत्ता एवं उसके फल के अनुरूप हुआ करते हैं। प्रत्येक कृत्य के उपरान्त एक सामान्य प्रायश्चित्त के रूप में व्याहृति सहित एक होम सन्पन्न किया जाता है—'सैषा प्रायश्चितिः यदेता, व्याहृतयः तस्मादेवैव यज्ञे प्रायश्चितिः कर्तव्या (ऐतरेय ब्राह्मण 25.32; जैमिनीय ब्राह्मण 1.358)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञानुष्ठानों को सार्थक एवं निर्दोष बनाने के लिए आवश्यकतानुसार नियमित करते हैं। स्थान, पात्र, ऋतु एवं अन्य परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए इन ग्रन्थों में वैकल्पिक व्यवस्थाएँ दी गयी हैं। इनमें इस प्रकार की विधियों का उल्लेख किया गया है जिनसे कर्मकाण्ड में पुनरावृत्ति अथवा अनावश्यक श्रम से बचा जा सके। उदाहरणार्थ, एकाह यज्ञ में समस्त कृत्य एक ही दिन में सम्पादित किये जाते हैं। इस प्रकार के श्रमसाध्य दिवसव्यापी कर्मकाण्ड-संकुल वातावरण में यजमान की मानसिक प्रसन्नता बनाये रखने हेतु ब्राह्मण ग्रन्थ उसे बारह कमलों वाली माला प्रदान किये जाने की संस्तुति करते हैं[2]। अग्निहोत्र के बारे में इस आशय के विवेचन एवं विमर्श अंकित मिलते हैं कि क्या होम सूर्योदय के पूर्व अथवा सूर्योदय के पश्चात् किये जायँ। एक इतर प्रकरण में व्रतोपवास पर विचार-विमर्श मिलता है[3]। कृत्यों को सरल एवं आयासरहित बनाने हेतु वर्णित इस प्रकार के विचार-विमर्श, विधियाँ एवं व्यवस्थाएँ यही इंगित करती हैं कि परिस्थतियों के अनुसार यज्ञों के विधान एवं प्रक्रिया में संशोधन-परिवर्धन संभव था। यज्ञों के सम्पादन हेतु ब्राह्मणों में बनाये गये कठोर

---

1. तै० ब्राह्मण 1.4.3
2. जामि वा एतत्कुर्वन्ति। यत् सद्यो दीक्षयन्ति सद्यस्त्रोमं क्रीणन्ति। पुण्डरिस्रजां प्रयच्छति अजामित्वाय। तै० ब्रा० 1.8.2.1
3. अथो खल्वाहुः। यस्य वै द्वो पुण्यौ गृहे वसतः। यस्तयोरन्यं राधयत्यन्यं न उभौवाव स तावृच्छतीति।·········यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात्। यथातिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथामाहार्यं हरन्ति। तादृगेव तत्। तै० ब्रा० 2.1.2.8 तद्वा अदो व्रतोपासन उद्यते। यदि नाश्नाति पितृदैवत्यो भवति यद्यु अश्नाति देवानत्यश्नाति। तदारण्यमश्नीयादिति तत्र स्थापयति। श० ब्रा० 11.1.8

नियम-विधान सामान्य निर्देश के रूप में लिये जाने चाहिए, उनका शब्दशः अनुपालन सर्वथा अनिवार्य नहीं था। उनमें परिस्थितिवश यत्र-तत्र हेरफेर संभव था।

9. कर्मकाण्ड में पवित्रता :—

प्रत्येक यज्ञाचरण में भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की पवित्रता अथवा शुचिता का अत्यन्त महत्त्व है। यज्ञानुष्ठान में प्रत्येक वस्तु स्वच्छ रखी जाती है। उपयोग में लाने के पूर्व बर्तनों को पानी से धोया व आग पर तपाकर पवित्र किया जाता है। 'आज्यावेक्षणम्' (आज्य में दृष्टि डालना) एक सटीक उदाहरण है जिसमें यजमान की पत्नी को आहुति के पूर्व आज्य में दृष्टि डालकर देखना पड़ता है। यह केवल यह सुनिश्चित करने हेतु किया जाता है जिससे कि यह जाना जाय कि आज्य में किसी इतर अपवित्र वस्तु की मिलावट तो नहीं है।

सौमिक वेदी के पूर्वोत्तर के कोने में तथा वेदि की सीमा के बाहर लगभग दो फीट गहरा एक गड्ढा खोदा जाता है। इस गड्ढे को चात्वाल कहते हैं। यह चात्वाल कूड़ेदान का प्रयोजन सिद्ध करता है। चात्वाल के समीप ही आचमन एवं मार्जन किये जाते हैं। इससे यह अनुमान सरलतापूर्वक लग जाता है कि देव कार्य से सम्बद्ध कार्यस्थल को पवित्र रखने के लिए कितनी जागरूकता बरती जाती थी। वेदि के थोड़ी दूरी पर वेदि सीमा के बाहर ही शामित्रगृह बनाया जाता है। वेदि के दक्षिण ओर चमस पात्रों को मांजने धोने के लिये स्थान नियत रहता है। ईसाई धर्मशास्त्रों के स्वच्छता सम्बन्धी नियमों के बारे में डा० बी० एल० गोर्डन ने कहा है 'As an illustration of the farsightedness and the originality of the early thinker may be cited the hygienic regulation of the scripture[1].'

यह उक्ति वेदों के बारे में भी उतनी ही चरितार्थ होती है।

10. यज्ञों में प्रतीक एवं उनका महत्त्व :—

वेदों के अध्येता को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि वैदिक यज्ञ कर्मकाण्डों एवं विभिन्न धार्मिक कृत्यों के संकलन मात्र नहीं हैं। वस्तुतः यज्ञ वह दिव्य, चैतन्यपूर्ण कृत्य है जिससे ऊर्जा उद्‌भूत होती है। यज्ञ का विनियोग अत्यन्त व्यापक होता है। यज्ञ विधान के अपने अन्तर्निहित मूल्यों के अतिरिक्त

1. बी०एल० गोर्डन : 'रोमान्स आव् मेडिसिन', पृष्ठ 10.

यज्ञ हमें मानव जीवन तथा संसार के अपरिहार्य दैनिक कर्तव्यकर्मों की व्यावहारिक शिक्षा देता है। यह दैनिक कृत्यों की सूक्ष्म एवं स्पष्ट प्रक्रिया बतलाता है। यागक्रिया के अन्तरंग कृत्यों के साथ-साथ जीवन में इसके भौतिक पक्ष के उपयोग का भी ज्ञान होता है। अतएव यज्ञ केवल कर्मकाण्ड मात्र नहीं होता, प्रत्युत ब्रह्माण्ड में कार्यरत प्रकृति की अनन्त शक्तियों में परस्पर समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करने के लिये ऊर्जा प्रदान करता है। सभी शक्तियों के अधिष्ठात्री देवता यज्ञ कर्म से सन्तुष्ट होते हैं, तभी उनमें समरूपता आती है। इसी प्राकृतिक समरूपता अथवा सामंजस्य के फलस्वरूप ही विश्व का वातावरण शान्त व जीवनोपयोगी वन सकता है। इन महाशक्तियों के विस्फोटक रूप धारण करने पर महाप्रलय का प्रभंजन आ सकता है। यदि ऐसा हुआ तो सृष्टि की जड़ें हिल जाएँगी। यही तो कारण है कि वेदों में इन्द्रादि देवताओं के स्वस्तिगान गाये गये हैं। मानव शरीर पृथ्वी, जल, पावक, आकाश एवं वायु तत्त्वों की महाशक्तियों से निर्मित हुआ है, अतएव मानव तथा मानव जगत् में सुखशान्ति तभी रह सकती है जब इन शक्तियों में परस्पर समन्वय रहे तथा ये निरन्तर हमारे अनुकूल बनी रहें। इन विराट् महाशक्तियों को अनुकूल एवं परस्पर वाँधे रखने का मूल उद्देश्य यज्ञ-सम्पादन से ही संभव होता है। अग्नि में डाली गयीं आहुतियाँ भस्म होकर कदापि नष्ट नही होतीं। अग्नि को महाशक्ति तत्तद्देवताओं के निमित्त डाली गयीं इन आहुतियों की गन्ध को सूक्ष्म रूप में तत्तद्देवताओं तक पहुँचाती है। हविष् की गन्ध पाकर इन महाशक्तियों के अधिष्ठात्री देवता प्रसन्न हो उठते हैं जिसके परिणामस्वरूप ब्रह्माण्ड में तनाव नहीं रहता, वातावरण शान्त एवं अनुकूल बनता है, यह संसार जीने योग्य स्थान बनता है और जड़-जंगम की प्रगति होती है।

प्राय: यह देखा गया है कि विद्वत्समाज में भी यज्ञ की इस सार्वभौम, व्यापक प्रकृति तथा उसके प्रतीकात्मक स्वरूप के महत्त्व का सही-सही आकलन नहीं किया गया है। यज्ञों को मात्र कर्मकाण्ड का शुष्क पिटारा मानकर उससे दृष्टि फेर ली जाती है। यज्ञ को जिस गाम्भीर्य से तथा जिस पैनी दृष्टि से देखा-आँका जाना चाहिए, नहीं देखा गया है। उदाहरण के लिये एक वेद समीक्षक का कहना है, 'यज्ञ स्वयं में साध्य नहीं थे; वे यज्ञकर्त्ता के पक्ष में लाये जाने हेतु देवताओं को प्रसन्न करने के साधन मात्र थे। यज्ञों का कोई रहस्यात्मक महत्त्व नहीं है[1]।' डा० देशमुख तो यहाँ तक कहते हैं कि यज्ञों को अनावश्यक महत्त्व

1. बी० एन० लूनिया—'इवोल्यूशन आव् इण्डियन कल्चर, पृ० 65-66

देने के प्रयास में वैदिक भारतीयों के मानसिक स्तर की गिरावट आरम्भ हो गयी थी तथा यह गिरावट अपेक्षाकृत ऋग्वेद के उज्जवल काल तक चलती रही। मानसिक पतन की इस कड़ी में जादू-टोना, प्रेत-कर्म एवं पौरोहित्य प्रपञ्च जुड़ते गये[1]।

महर्षि अरविन्द के अनुयायी सम्बुद्ध विद्वान् कापालि शास्त्री ने भी इस प्रकरण पर संभवतः गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। उनका कहना है, 'We could already see how the inclusion of Brahmanas in the Krisna yajurveda samhita has gradually ended in eclipsing the true and inner meaning of yajna which is the real srauta dharma[2].' इसी ग्रन्थ 'लाइट्स आन द वेद' में ही एक अन्य स्थान पर उनका कथन है कि ऋग्वेद के यज्ञ का सही तात्पर्य नष्ट हो गया था तथा यह कि गीता ने विपरीत ढंग से इस विषय को प्रतिपादित[3] किया है। किन्तु इसके ठीक विपरीत महर्षि अरविन्द का कहना है, 'The smallest circumstances of the sacrifice around which the hymns were written were intended to carry a symbolic and psychological power of signifidance, as was well known to the writers of the ancient Brahmanas[4].'

ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों से यज्ञ के प्रतीकात्मक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वेदों में ब्राह्य यज्ञ के तत्त्वों को आभ्यन्तर यज्ञ एवं आत्मोत्सर्ग के प्रतीक (symbol) की तरह प्रयुक्त किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि इस विषय पर सूक्ष्म गवेषणा की आवश्यकता है जिससे कि यौगिक विनियोग को जो ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म एवं विराट् क्षेत्रों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है, सम्यक् रूप से समझा जा सके। याग, कर्मकाण्ड एवं इतर धार्मिक देवविषयक कृत्य-ये सभी जनसामान्य की पूजा है। ये वे विधाएँ हैं जिससे व्यक्ति को मूला प्रकृति के वास्तविक स्वरूप, पदार्थों की प्रकृति, उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं ब्रह्माण्ड और ईश्वर की याद दिलाई जाती है[5]।

---

1. डा० देशमुख–,रेलिजन इन वेदिक लिट्रेचर,' पृ० 62
2. कापालि शास्त्री–'लाइट्स आन् द वेद' पृ० 48.
3. कापालि शास्त्री : 'लाइट्स आन् द वेद' पृष्ठ 48
4. श्री अरविन्द—'फाउण्डेशन्स आव् इण्डियन कल्चर,' पृ० 295
5. विशेष अध्ययन के लिये, देखें ऑल्डस हक्सले–'पेरेनियल फिलासफी,' पृ० 314

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार उस व्यक्ति द्वारा किया गया होम जो आश्रावित प्रत्याश्रावित, ब्रह्मा एवं वषट्कार जानता है, वास्तविक होम होता है। ब्राह्मणग्रन्थ की उक्तियों से स्पष्ट रूप से विदित होता है कि यज्ञों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द न केवल तकनीक एवं पारिभाषिक शब्दावली का परिचय कराते हैं, बल्कि ब्रह्माण्ड तत्त्व, आत्म तत्त्व, जीवन एवं परमतत्त्व के गूढ़ार्थ के बारे में भी जानकारी देते हैं तथा तत्तद्विषयक अपने उन अर्थों का बोध कराते हैं। ब्राह्मण साहित्य से ज्ञात होता है कि प्राण आश्रावित है, अपान प्रत्याश्रावित है, मन होता है, चक्षु ब्रह्मा है तथा निमेष वषट्कार है[1]। महर्षि अरविन्द ने प्रकारान्तर से इसी आशय का भाव अत्यन्त स्फुट शब्दों में व्यक्त किया है कि हमारी निःश्वास-उच्छ्वास, एवं हमारे हृदय की धड़कनों को सार्वभौम, विराट् यज्ञ की स्पन्दनशील लयों के रूप में जगाया जा सकता है तथा ऐसा अवश्यमेव किया जाना चाहिए[2]।

जैमिनीय ब्राह्मण ब्रह्मवादियों के विचार विमर्श के साथ आरम्भ होता है। यह प्रश्न उठाया जाता है कि किस वस्तु की तथा किस वस्तु में आहुति दी जाती है ? उत्तर में कहा गया है कि यह आहुति प्राण की दी जाती है। तथा प्राण में दी जाती है। अग्नि-मन्थन की पाँच स्थितियों को पाँच प्राण कहा गया है; उदाहरणार्थ, अन्न, मनस्, चक्षुष्, श्रोत्र एवं वाक्। इन्हें तीन अग्नि में विभाजित कर दिया जाता है तथा उनमें आहुतियाँ दी जाती हैं[3]। यज्ञ की विराट्ता (सार्वभौमता) तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.12.9.3-8) एवं पंचब्राह्मण (25.18.4) में स्पष्टरूप से अवलोकनीय है यहाँ वैश्वसृज चयन में आये ऋत्विजों की सूची अंकित की गयी है। यहाँ साफ-साफ यह कहा गया है कि जीवन स्वयमेव एक यज्ञ है। ब्रह्मा के पर्यवेक्षण में ऋत द्वारा नियन्त्रित तथा सक्रिय प्राणतत्त्व द्वारा अग्रेनीत जीवन-यज्ञ सदैव चलता रहता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.1.5.1-2) अग्निहोत्र को विराट् (ब्रह्माण्ड) तक ले जाता है। पृथिवी सदस् है, अन्तरिक्ष आग्नीध्र है, द्यौः (आकाश)

1. यो वा अग्निहोत्रस्याश्रावितं प्रत्याश्रावितं होतारं ब्रह्माणं वषट्कारं वेद। तस्य त्वेव हुतम्। प्राणो वा अग्निहोत्रस्याश्रावितम्। अपानः प्रत्याश्रावितम्। मनो होता। चक्षुर्ब्रह्मा। निमेषो वषट्कारः। य एवं वेद। तस्य त्वेव हुतम्। तै० ब्रा० 2.1.5.9
2. श्री अरविन्द–'सिन्थेसिस आव् योग' पृ० 72
3. प्राणेनैव जुहोति प्राणे हूयते। जै० ब्रा० 1.1,2 तद् यद् एतद् अग्नीन्मन्थन्ति यजमानस्यैव तत् प्राणान् जनयन्ति।......स एतान् पंचप्राणान् जनयते। तान् त्रेधा व्यूह्य देवान् कृत्वा तेषु जुह्वद आस्ते। जै० ब्रा० 1.1

हविर्धान है, दिव्य जल (वर्षाजल) प्रोक्षणी (अभिषेकार्थ जल) है, ओषधि बर्हि है, वनस्पतियाँ इध्म (ईंधन) हैं, दिशाएँ परिधियाँ (सीमास्थितदर्भ) हैं, आदित्य यूप हैं, यजमान पशु है, समुद्र अवभृथ है तथा संवत्सर स्वगाकार (जो हविष् को देवताओं तक पहुँचाता है) है[1]। दैनन्दिन होने वाले अग्निहोत्र को ब्रह्माण्ड में सम्पादित किये जाने वाले विराट् यज्ञ के रूप में परिकल्पित किया गया है। यजमान स्वयं याग के 'पशु' की भाँति कल्पित है जो आदित्य रूप यूप से नित्य बँधा रहता है। एक अन्य सन्दर्भ में विभिन्न भुवनों को स्रुवा, द्यौः (आकाश) को जुहू, अन्तरिक्ष को उपभृत, प्रथिवी को ध्रुवा तथा वृष्टि को पवित्र करने वाले जल की संज्ञा दी गयी है[2]। पंचब्राह्मण (20.15.2) के अनुसार यज्ञ ब्रह्माण्ड के कण-कण में ओत-प्रोत है। इसमें गर्गत्रिरात्र का प्रतीकात्मक शैली में वाक् अर्थ लगाया गया है। यहाँ यह प्रश्न प्रस्तुत किया गया है—त्रिरात्र किस प्रकार का होता है ? विचार-विमर्शोपरान्त यह निष्कर्ष निकाला गया है कि त्रिरात्र प्राणदायक वायु की भाँति है। त्रिरात्र समस्त लोकों में उसी तरह परिव्याप्त है जैसे मणियों के के बीच (माला का) सूत्र पिरोया रहता है[3]।

यज्ञ के वास्तविक स्वरूप की विराट्ता का अन्दाज़ इस कथन से लगाया जा सकता है कि वेदि को पृथिवी के समान ही विशाल स्वरूप वाली कहा[4] गया है। यज्ञ की अर्थ सीमा भौतिक कर्म-काण्ड सीमा मात्र नहीं है। वह इस सीमा के बहुत आगे निकल गयी है। यज्ञ का प्रतीकात्मक अर्थ कुछ और ही है। वैसे देखा जाय तो तैत्तिरीय ब्राह्मण की उक्ति 'एतावती पृथिवी यावती वेदिः'—'पृथिवी उतनी बड़ी है जितनी कि वेदि' अपाततः गलत लगे, किन्तु ऐसा नहीं है। इस उक्ति का अर्थ प्रकारान्तर से लगाना उचित होगा—वेदि उतनी बड़ी हैं जितनी

---

1. तस्य पृथिवी सदः। अन्तरिक्षमाग्नीध्रम्। द्यौर्हविर्धानम्। दिव्या आपः प्रोक्षणयः। ओषधयो बर्हिः। वनस्पतयः इध्मः। दिशः परिधयः। आदित्यो यूपः। यजमानः पशुः। समुद्रोऽवभृथः। संवत्सरस्स्वगाकारः। तै० ब्रा० 2.1.5.1-2 तथा ये ही भाव ऐतरेय ब्राह्मण (24.28) में व्यक्त किये गये हैं। (यहाँ पृथिवी को सदस् के बदले वेदि कहा गया है। शेष यथावत् है।)
2. असौ वैजुहूः। अन्तरिक्षमुपभृत। पृथिवी ध्रुवा। तै० ब्रा० 3.3.6.11 इमे वै लोका-स्स्रुचः। तै० ब्रा० 3.3.9.2
3. तद्यथा वा अदो मणौ सूत्रं ओतं एवमेव लोकेषु त्रिरात्र ओतः॥ पं० ब्रा० 20.16.6
4. एतावती वै पृथिवी यावती वेदिः॥ तै० ब्रा० 3.2.9.12

कि पृथिवी। अर्थात् यह सम्पूर्ण पृथिवी वेदि है। वेदि के रूप में पृथिवी उसी (तत्त्व) की महिमा की वृद्धि करती है[1]।

पंचब्राह्मण में एक स्थल पर कहा[2] गया है कि कुरुक्षेत्र उतना बड़ा है जितना कि वेदि। यहाँ निर्विवाद है कि 'कुरुक्षेत्र' शब्द का अर्थ इतिहास-प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र न होकर 'कर्मक्षेत्र' है। अर्थात् वेदि मानव के सभी कर्म समूहों की पवित्र आचरण भूमि है। वेदि का पृथिवी से साम्य यज्ञ के स्वरूप को और अधिक विशाल बना देता है। जो भी कर्म पृथिवी पर सम्पादित होते हैं सभी यज्ञ कर्म हैं। ब्राह्मणसाहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जो कुछ भी आहिताग्नि प्रदान करती है, वह दक्षिणा है (तस्मात् आहिताग्नेः सर्वमेव बर्हिष्यं दत्तं भवति। तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.1.5.3; बहुभिः ह वै यज्ञैः एकमहः एका रात्रिर्मिता। शतपथब्राह्मण 10.2.2.9)। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन के प्रत्येक दैनिक कृत्य यज्ञकृत्य हैं। वास्तव में यज्ञशरीर से ही ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। श्री बी० आर० शर्मा ने अग्नि वेदि के प्रतीक का अध्ययन किया है। उनका कथन[3] है,'..........We may see how much the author of the Brahmana is eager to symbolical illustration for every ritual act. He visualised in the fire altar the veritable picture af the universe, the creation of which was supposed to have been from the divine sacrifice.'

यज्ञ ब्रह्माण्ड का केन्द्र विन्दु एवं उद्भवस्थल[4] है। जैसा ऊपर कहा गया है कि यज्ञ से निखिल ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है तथा वह सदैव यज्ञ में ही प्रतिष्ठित[5] रहता है। यज्ञ ही विश्व का भरण पोषण करता है, यही विश्व को सत्ता में

---

1. (वेदिः) भूमि भूत्वा महिमानं पुपोष ।। तै० ब्रा० 3.7.6.4 पृथिवी वेदिः ।। 3.3.6.8 वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीम् तै० ब्रा० 3.3.9.10; 3.7.4.12
2. पञ्चब्राह्मण 25.13-3; जै० ब्रा० 2.300
3. बी० आर० शर्मा,—'सिम्बालिज्म आव् द फायर आल्टर,' ए० बी० ओ० आर I 33, 1952, पृ० 194
4. यज्ञः वभूव भुवनस्य गर्भः। तै० ब्रा० 2.4.7.5
5. "In the same manner that the world originated through sacrifice."---- जंग--'साइकॉलोजी आव् द अन्कान्शस," पृ० 259

रखता है तथा यही सृष्टि के अन्त तक स्थित रहता है। यज्ञ अध्वर[1] है। देवतागण एवं मनुष्य अध्वर के विभिन्न मार्गों एवं विधियों पर जीवनधारण[2] करते हैं। यज्ञ उनका जीवन है, भोजन उनका रक्षक[3] है। यज्ञ देवताओं के जीवन का साधनभूत ही नहीं, प्रत्युत उनकी चेतना एवं उनकी साक्षात् आत्मा है। शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञ को ऋत का स्रोत[4] कहा गया है। वैदिक साहित्य में ऋत का अर्थ एवं माहात्म्य अनिर्वचनीय है। अतएव ऋत पर अन्यत्र विशेष रूप से विचार किया गया है। डा० दासगुप्त ने कहा है कि यज्ञ में ही हमें ब्रह्माण्ड की सत्ता व्यवस्था अथवा प्रकृति में परिव्याप्त कानून की प्रथम मान्यता के दर्शन होते हैं, ...'It is in the yajna that we see tne first recognition of cosmic order or law prevailing in Nature-'-Dasgupta : H.I.P. I, 27

यज्ञ स्वयं पुरुष (माप हेतु मानकस्वरूप) है जिससे पृथ्वी पर स्थित समस्त वस्तुएँ मापी[5] जाती हैं। यज्ञ देवताओं का वह आवास[6] (आयतनम्) है जो असुरों द्वारा कभी पराजित नहीं हो सका। यज्ञ को दैवी रथ (देवरथ) के रूप में प्रकल्पित किया गया है, विभिन्न साम इसके अंग[7] हैं। यज्ञ को इन्द्र[8] के रूप में अभिहित किया गया है। यज्ञ में आश्रावण, प्रत्याश्रावण, प्रेष, याज्या तथा वषट्-कार को व्याहृतियों[9] की 'संज्ञा' दी गयी है। ये प्रत्येक यज्ञ में आती हैं तथा यज्ञ

---

1. यज्ञ एव अन्ततः प्रतितिष्ठति ।। तै० ब्रा० 1.8.1.2 अध्वरो वै यज्ञः ।। श० ब्रा० 1.3.3.38-40
2. देवा अन्यां वर्त्मनिमध्वरस्य मानुषास उपजीवन्ति अन्याम् । जै० ब्रा० 1.2.77
3. द्रष्टव्य शतपथब्राह्मण 8.6.1.10 यज्ञमेव प्रजापतिं संस्करोति। आत्मानमेव तत्संस्करोति। तै० ब्रा० 3.2.7.4 यज्ञो वा आयुः। यज्ञा वा अवतिः। पं० ब्रा० 6.4.4; 5 यज्ञो हि देवानां अन्नम्। श० ब्रा० 11.1.8.2,.4
4. यज्ञो वा ऋतस्य योनिः। श० ब्रा० 1.3.4.16
5. पुरुषो वै यज्ञः। तेनेदं सर्वमितम् ।। श० ब्रा० 10.2.1.2
6. एतत् खलु वै देवानामपराजितमायतनम्। यद्यज्ञः ।। तै० ब्रा० 3.3.7.7
7. यज्ञो वै देवरथः वहिष्पवमानमेव यज्ञमुखम्। बृहद्रथन्तरे अश्वौ। ......एष वै देवरथः ।। जै० ब्रा० 1.129-130, 343
8. सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणः। उर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ।।
   अश्विना यज्ञं सविता सरस्वती। इन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन् ।।
   तै० ब्रा० 2.6.4.1
9. ता वा एताः पंचव्याहृतयो भवन्ति। ओ श्रावय, अस्तु श्रौषद्, यज्ञ वै यजामहे, वौषट् इति। ......तासां सप्तदशा क्षराणि। सप्तदशः प्रजापतिः ।। श०ब्रा० 1.5.2.16-17

की सम्पूर्ण प्रक्रिया इनसे व्याप्त है। यज्ञानुष्ठान में वह दिव्य प्रणाली या व्यवस्था जो इन मन्त्रों के पवित्रोच्चारण द्वारा विभिन्न अधिष्ठात्री देवताओं के आवाहन एवं उनके द्वारा आकर आहुति स्वीकार करने हेतु प्रयुक्त होती है उसकी समता प्रजापति से की गयी है। इस प्रकार प्रजापति के लिये यज्ञ का अभिधान किया गया है। वह संवत्सर भी है। नाचिकेताग्नि को भी संवत्सर कहा गया है। वर्ष (संवत्सर) के विभिन्न प्रकार अग्नि के विभिन्न अंग[1] हैं। वर्ष (संवत्सर) जो काल का प्रतीक एवं मापक तत्त्व है, वस्तुतः यज्ञ है। काल स्वयमेव यज्ञ है। ब्राह्मणों में अनेकशः यज्ञ को सर्वव्यापी[2] विष्णु कहा गया है। यज्ञ धनधान्य वनविटप एवं धरती[3] की उर्वरता का नियन्त्रक होता है। यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कर्म[4] है।

उपरिवर्णित यज्ञ के माहात्म्य एवं सार्वभौमरूप पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट होता है कि जीवन के विविध कर्म एवं कर्तव्य यज्ञ के ही अंग हैं, रूप हैं। जीवन का ताना-बाना यज्ञमय है। इस विराट्तम एवं अणुतम आकृति वाले यज्ञ का भौतिक लघु रूप वैदिक याग कर्मकाण्ड है जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व निहित होता है। यज्ञ कर्मकाण्ड में विभिन्न प्राकृतिक महाशक्तियों में पारस्परिक बन्धन का अनुभव हो जाता है। यज्ञ में ही भुवनों में परिव्याप्त क्षण-क्षण की प्राकृतिक लीलाओं की झाँकी मिल जाती है तथा निरन्तर गतिशील जीवनचक्र का दर्शन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल में यज्ञ को ब्रह्माण्ड-नियन्ता की ऊँचाई तक उठा दिया गया था। समस्त विश्व एक यज्ञ है। यज्ञों के ही माध्यम से देवतागण अपना कार्यकलाप सम्पादित करते हैं। ब्रह्माण्ड के जनक स्वयं प्रजापति अपनी विराट् प्रजननक्षमता को यज्ञ के ही द्वारा प्राप्त करते हैं।

---

1. संवत्सरो वा अग्निर्नाचिकेतः। तस्य ह वसन्तशिशरः। ···· तै० ब्रा० 3.11.10.2-4
2. यज्ञो वै विष्णुः 11 तै० ब्रा० 3.2.3.12; 3.2.7.4; 3.3.6.11; 3.3.7.7 आदि, श०ब्रा० 1.1.3.1; 1.2.5.3; आदि, पं०ब्रा० 13.3.2. यज्ञः प्रजापतिः। तै०ब्रा० 3.2.3.1; 3.2.7.3 आदि संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः। श०ब्रा० 11.1.13; 1.2.5.12; 13. जै० ब्रा० 1.135 यज्ञो वै भुवनम्। तै०ब्रा० 3.3.7.4 यज्ञो वै विष्णुः। यज्ञा एव अन्ततः प्रतितिष्ठति ।। तै०ब्रा० 1.8.1.2।
3. यज्ञो रायो यज्ञ ईशे वसूनाम्। यज्ञः सस्यानांमुत सुक्षितीनाम्। यज्ञ इष्टः पूर्वचितिं दधातु। यज्ञो ब्रह्मण्वां अप्येतु देवान्। तै०ब्रा० 2.5.5.1
4. यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म 11 तै०ब्रा० 3.2.1.4; श०ब्रा० 1.5.4.5 यज्ञो वै कर्म ।। श०ब्रा० 1.1.2.1.2

यज्ञ न केवल अपने समष्ट्यात्मक व्यक्तित्व में ब्रह्माण्ड के मूल में है प्रत्युत उसके अंग-प्रत्यंग जैसे, प्रारम्भिक अनुष्ठान एवं कृत्य, दीक्षा, व्रतोपवास, स्नानादि-क्रियाएँ, उपासना-पूजा के समय एवं स्थान, ऋत्विजों की संख्या एवं उनके कृत्य, पशु, वनस्पति, पुरोडाश, हविष् आदि सबके सब उसी विराट्ता में अन्तर्भूत होते हैं। विभिन्न प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान उनके अपने विशिष्ट प्रतीकात्मक स्वरूप की पृष्ठभूमि में सम्पादित किये जाते हैं। इनमें से पुरुषमेध का अपना वैशिष्ट्य है। पुरुषमेध के समग्र विधान का गूढ़ एवं व्यापक अध्ययन करने से यह दृढ़ आभास मिलता है कि पूरा का पूरा पुरुषमेध प्रयोग एक प्रतीक है। यह धारणा इस यज्ञ के अधिष्ठात्री देवता एवं पशुओं की सूची देखने से दृढ़ होती है। एक विशिष्ट देवता तथा उससे सम्बद्ध विशिष्ट पशु के बीच का सम्बन्ध वर्गीकरण के औचित्य-सिद्धान्त पर निर्भर करता है। यहाँ कोई स्वच्छन्दता की गुंजाइश नहीं है। यज्ञों के चिरपरिचित सामान्य देवताओं की अपेक्षा पुरुषमेध के प्रधानदेवता-गण भिन्न कोटि एवं प्रकृति के हुआ करते हैं। पुरुषमेध के प्रधान देवतागण कतिपय अमूर्त एवं गूढ़ वस्तुओं, गुणों, तत्त्वों तथा प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। इन प्रधान देवताओं के निमित्त जिन पशुओं का आहुतिविधान किया गया है वे तत्तद्देवताओं के गुणों से स्वयं भी अनिवार्यतया सम्पन्न होते हैं। तत्तद्देवता भी अपने विशिष्ट गुणों को अपने से सम्बद्ध पशु के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।

पुरुषमेध में जो भी व्यक्ति 'पशु' बनने के लिये पात्र होता है, उसे यजमान की ओर से और यजमान के ही लिये स्वयं की आहुति देनी पड़ती है। यजमान जिस विशिष्ट लक्ष्य अथवा प्रयोजन की सिद्धि हेतु यज्ञ सम्पादित करता है उसके अनुरूप ही तद्गुण-विशिष्ट सम्पन्न व्यक्ति को ही 'पशु' की पात्रता दी जाती है। उदाहरणार्थ, पुरुषमेध में तपः नामक प्रधान देवता के लिये पशु के रूप में शूद्र पात्र ही वांछनीय होता है। अतएव ज्ञानार्जन एवं तपश्चर्यारूप फलों की आकांक्षा वाले यजमान के लिये शूद्र 'पशु' की आहुति देय है। यहाँ यह उल्लेख-नीय है कि 'शूद्र' व्यक्ति वैदिककालीन मान्यताओं के अनुसार ही 'शूद्र' होना चाहिये जो कि सामान्यतः गुणकर्म मानक पर ही आधृत था। ऐसा ही 'शूद्र' 'पशु' बनने हेतु पात्र था और वह यजमान की बृहत्तर लक्ष्यसिद्धि हेतु अपना उत्सर्ग कर अपनी भी संस्कारगत प्रोन्नति कर लेता है, तपोमय व्यक्तित्व पाकर वह अपने विकासचक्र में अगला जन्म धारण करता है। यह बोध हो जाने पर ही पुरुषमेध का सही अर्थ लग सकता है, अन्यथा वह संसारिक दृष्टि से 'यज्ञ' से

इतर निकृष्ट कर्म बन जाएगा। इसी प्रकार पूर्ण शुचिता-पवित्रता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने तथा उसे भोगने के निमित्त किये जाने वाले पुरुषमेध में भिषक् (वैद्य) 'पशु' का पात्र बन सकता है। इसी प्रकार प्रज्ञान (विज्ञानादि का प्रकृष्ट ज्ञान) पाने के लिये एक नक्षत्रवेत्ता की आवश्यकता 'पशु' के रूप में पड़ती है। यज्ञ की प्रतीकात्मक (symbolical) प्रकृति को समझे बिना पुरुषमेध समझना असंभव है।

यज्ञ की इस परम्परा के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान अथवा परम तत्त्व का निःस्वार्थ भाव से ज्ञान कराने वाला सद्‌गुरु एवं सुयोग्य सत्पात्र शिष्य भी यज्ञ ही सम्पादित करते हैं। सत्पात्र, सुयोग्य शिष्य वस्तुतः इस ज्ञान-यज्ञ में 'पशु' की पात्रता प्राप्त कर स्वयं की आहुति देता है। इस ज्ञानयज्ञ में शुकदेवाचार्य को परीक्षित एवं स्वामी रामकृष्णतीर्थ को विवेकानन्द जैसे सत्पात्र सम्बुद्ध शिष्य मिले जिन्होंने 'पशु' के रूप में अपनी पात्रता सिद्ध की एवं वेदान्त ज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु जीवनोत्सर्ग किया।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि यज्ञ की परिधि में समस्त जडजंगमात्मक ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। ब्रह्माण्ड की इस विराट्ता की पृष्ठभूमि में यज्ञ के प्रत्येक कृत्य की वास्तविकता को भलीभाँति समझने के लिए आस्तिक, नैष्ठिकी एवं समर्पित धारणा की आवश्यकता है। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि पाश्चात्य जगत् की भौतिकवादी सभ्यता में पगे धुरन्धर विद्वान् भी यज्ञ के तत्त्व तथा उसके वास्तविक प्रतीक (symbol) को समझ नहीं सके।

—०—

तृतीय अध्याय

ब्राह्मणों में देवता

'देवता' का अर्थ एवं परिचय :

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार देवता वह शक्ति होती है जो मनुष्य को दान में कुछ देती है, स्वयं में दीप्त है तथा अन्य वस्तुओं को प्रकाशित अथवा द्योतित करती है। यास्क ने 'देवता' शब्द का अर्थ दान, दीपन एवं द्योतन (प्रकाशन) किया है[1]। शतपथब्राह्मण का कथन है कि देव द्यौर्लोक में प्रविष्ट होते समय उत्पन्न हुए, यही उनका देवत्व है। देवों के उत्पन्न होने पर दिन हुआ, यही देवों का देवत्व है[2]। द्युलोक को देवों का आयतन[3] (गृह) कहा गया है। ब्राह्मण साहित्य के अनुसार देवों की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से हुई। षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार देवों की उत्पत्ति दिन से हुई तथा असुरों की उत्पत्ति रात्रि से हुई। चूँकि देव दिन से उत्पन्न हुए, अतएव वे देव कहलाये[4]। देवों की दिन से उत्पत्ति का समर्थन शतपथब्राह्मण में भी किया गया है[5]। ब्राह्मण ग्रन्थों के इन वर्णनों से यह सुस्पष्ट है कि देवगण वे शक्तियाँ हैं जो द्युलोक में अवस्थित हैं, स्वयं उद्दीप्त हैं तथा सम्पर्कगत वस्तुओं को भी द्योतित अर्थात् प्रकाशित करती हैं।

प्रारम्भ में प्राकृतिक शक्तियों एवं अन्य उपादानों को चैतन्यपूर्ण माननेवाली धारणा ने देवों की कल्पना को जन्म दिया होगा। विराट् ब्रह्माण्ड में प्रकृति नटी के अनेकानेक दृश्यों घटनाओं को देखकर मानव के मानस-पटल पर इनके मूर्त मानवीय रूपों की छाया उभर कर आ विराजी होगी। इसी सन्दर्भ में वेदों में

---

1. निरुक्त 'देवो दानाद् वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'। निरुक्त 7.15
2. 'तद्देवानां देवत्वम् यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय दिवेवास तद्वेव।' श० ब्रा० 11.1.6.7
3. 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्' श० ब्रा० 14.3.2.8
4. 'दिवादेवानसृजत् नक्तमसुरान्। यद् दिवा देवानसृजत् तद् देवानां देवत्वम्।'— ष० ब्रा० 4.1
5. श० ब्रा० 11.1.6.7

देवों के मानवीकरण की समूची प्रक्रिया को समझना चाहिए। मानवीकरण की इस प्रक्रिया में देवताओं को भी मरणधर्मा माना गया है[1]। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र तथा अग्नि को मरणशील बतलाया गया है[2]।

इस प्रकार ब्राह्मणों के अनुसार देवगण भी पहले मरणधर्मा थे, किन्तु संवत्सर की प्राप्ति से उन्हें अमरत्व मिला[3]। शतपथब्राह्मण की यह धारणा है कि सृष्टि-प्रक्रिया में देवगण पहले जन्मे तथा मनुष्य बाद में उत्पन्न हुए, 'प्राचीन प्रजनना वै देवाः प्रतीचीन् प्रजनना मनुष्याः[4]।'

ब्राह्मणों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि पूर्व में देवगण एवं मनुष्य एक साथ रहते थे, किन्तु विकास की उस स्थिति में भी देवगण विलक्षण शक्ति से सम्पन्न थे, क्योंकि वे मनुष्यों को महार्ह वस्तुएँ प्रदान करने में समर्थ[5] थे। ताण्ड्यमहाब्राह्मण के वर्णन से यह स्पष्ट जानकारी मिलती है कि मनुष्यों के लिए प्रत्यक्ष वस्तु देवगण के लिए परोक्ष तथा मनुष्यों के लिए परोक्ष वस्तु देवों के लिए प्रत्यक्ष थी[6]। शतपथ ब्राह्मण के कथनानुसार देवगण दीर्घायु तथा मनुष्य अल्पायु होते हैं[7]।

ब्राह्मणों में देव एवं मानव योनि के बारे में किये गये इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि सृष्टि रचना की प्रक्रिया में पूर्व में देव एवं मनुष्य में सम्भवतः कोई विशिष्ट अन्तर नहीं रहा होगा। यद्यपि उस समय भी गुण एवं शक्तिमत्ता में देवगण विलक्षण अवश्यमेव रहे। शक्ति वैलक्षण्य की प्राप्ति का भी उनका अपना इतिहास रहा होगा। यह वैशिष्ट्य युगों-युगों की तपोनिष्ठ वृत्ति के फलस्वरूप ही उन्हें अर्जित हुआ होगा। अथर्ववेद के अनुसार देवगण ने ब्रह्मचर्य एवं तप द्वारा

---

1. श० ब्रा० 10 4.3.3
2. ऐ० ब्रा० 8.14.4 तथा 3,4
3. श० ब्रा० 11.1.2.12;–मर्त्या ह्वा अग्रे देवा आसुः। स यदैव ते संवत्सरमापुरथामृता आसुः।' 11.2.3.6
4. श० ब्रा० 7.4.2.40
5. 'उभये ह वा इदमग्रे सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च तद्यद्ध रूपं मनुष्याणां न भवति तद्ध रूपं देवान्याचन्तऽइदं वै नो नास्तीदं नोऽस्त्विदि'। श० ब्रा० 2.3.4.4
6. 'यद् वै मनुष्याणां प्रत्यक्षं तद्देवानां परोक्षम् यन्मनुष्याणां परोक्षं तद्देवानां प्रत्यक्षम्।' ता० म० ब्रा० 22.10.3
7. 'द्राघीयो हि देवायुषं ह्रसीयो मनुष्यायुषम्'। श०ब्रा० 7.3.1.10

यह अमरत्व प्राप्त किया था। देवों के अमरत्व की पुष्टि ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] द्वारा होती है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि देवगण को अमरत्व तब प्राप्त हुआ जब वे संवत्सर को प्राप्त हो गये। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ये सभी वर्णन प्रतीकों से परिपूर्ण हैं। संवत्सर 'काल' का प्रतीक है। अतएव देवगण तभी मरणधर्मा से अमरत्व प्राप्ति में सफल हुए होंगे जब वे कालजयी हो गये होंगे। कालतत्त्व से जीवात्मा का तादात्म्य जीव को देवत्त्व की कोटि में पहुँचा देता है। इस प्रकार जैसे-जैसे जैविकशक्तियाँ कालजयी बनती गयीं तैसे-तैसे उनके समूह दुर्धर्ष शक्तिसम्पन्न एवं अमर होते गये और वे शक्तियाँ ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों में परस्पर आकर्षण, सन्तुलन एवं सामंजस्य स्थापित करने में व्यस्त हो गयीं। दैवी शक्तियों की विशिष्ट क्रियाशीलता, गुणवत्ता एवं उनकी प्रकृतियों के अनुरूप ही सम्भवत: ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों में वर्गीकृत किया गया।

यज्ञ कर्म से देवगण का अपरिहार्य सम्बन्ध है। यज्ञ ही देवों का भोज्य[3] (अन्न) अमृतत्व एवं उनकी शक्ति हैं। सूर्य देवों की ज्योति है[4]। साम को भी देवों का अन्न कहा गया है[5]। पशु भी देवों का अभिन्न अंग प्रतीत होता है, क्योंकि यज्ञ में पशुप्रयोग होता है। देवगण एवं मनुष्य दोनों पशु पर ही जीवित हैं[6]। ओषधियाँ देवों की पत्नी मानी गयी हैं[7]। वस्तुतः सोमादि ओषधियाँ यज्ञकर्म से अविभाज्य रूप से बँधी रहती हैं। वास्तव में जैसा बारम्बार निवेदन किया जा चुका है कि ब्राह्मणों में प्रतिपादित समस्त यज्ञकर्मकाण्ड का मर्म तभी समझ में आ सकता है जब उनमें निहित-प्रतीकात्मकता की गुत्थी सुलझा ली जाय। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक अनादि एवं अनन्त शक्ति का मूर्त रूप है। जडजंगम, गोचर-अगोचर इस विराट् शक्ति के अविभाज्य अंग हैं तथा उसी विराट् ऊर्जा के प्रतिनिधिभूत भी हैं। अतएव इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में 'पशु', 'मनुष्य' एवं 'वनस्पति' में कोई भी तात्त्विक भेद नहीं रह जाता है। यहाँ तक कि इनमें परिव्याप्त नाद अर्थात्

---

1. ऋग्वेद 4.54.2
2. अथर्ववेद 11.5.19 तथा 4.11.6
3. 'यज्ञऽउ देवानामन्नम्।' श० ब्रा० 8.1.2.10
4. श० ब्रा० 2.4.2.1
5. 'साम देवानामन्नम्।' ता० म० ब्रा० 6.4.13
6. 'उभये देवमनुष्याः पशूनुपजीवन्ति।' श० ब्रा० 6.4.4.22
7. 'ओषधयो वै देवानां पत्न्यः।' श० ब्रा० 6.5.4.4

'स्वर' में भी इन्हीं की ही समन्वित आत्मा निवास करती है। देवगण उसी विराट् शक्ति के सहारे ही तो शक्तिमान् एवं समर्थ हैं। उसी की कालजयी प्रकृति पाकर ही तो ये अमर हैं। ये द्युलोकवासी अवश्य हैं, किन्तु पृथिवी पर भी ये सर्पण (विचरण) करते रहते हैं, इसीलिये पृथिवी को देवों की रानी कहा गया है[1]। इस प्रकार देवों का अमरत्व विकास क्रम में अर्जित हुआ था। अमरत्व की प्राप्ति में ब्रह्मचर्य एवं तप के अतिरिक्त सोमपान[2] तथा यज्ञ कर्म[3] भी कारण भूत रहे हैं।

देवगण को सत्यमय कहा गया है[4]। देवगण सदा आनन्दमग्न रहते हैं[5]। देवगण कभी सोते नहीं[6]। स्पष्ट है कि कालजयी होने के कारण ही इनके कभी सोने की कल्पना ही नहीं की गयी। देव सर्वज्ञ हैं। ये मानव मन को जानते हैं[7]। यज्ञ-कर्म भी अन्ततोगत्वा मनुष्य को देवों की श्रेणी में पहुँचाने वाला बतलाया गया है। मनुष्य का गन्तव्य भी देव बनकर द्युलोकवास करना है। यही कारण है कि परवर्ती काल में धर्मशास्त्र में इस तथ्य को बार-बार दुहराया गया है कि पुण्य क्षीण होने पर देवगण भी मृत्युलोक में जीवन धारण करते हैं[8]। इससे तो यही ध्वनित होता है कि मनुष्य देव बनने के लिये शाश्वत यज्ञ-तप करता है, किन्तु देव भी अपना देवत्व बनाये रखने के लिये परमाशक्ति के सार्वभौम एवं नियामक तत्त्व ऋत एवं सत्य की लीक पर ही चलते हैं, अन्यथा उन्हें भी मरण-धर्मा स्वरूप धारण करने के निमित्त विराट् सृष्टि चक्र में उद्भूत होने के लिये विवश होना ही पड़ता है।

यज्ञ-विशेष द्वारा अमरत्व प्राप्ति के कारण देवगण गातुविद कहलाये[9]। प्रजापति ने अग्नि, इन्द्र तथा सोम को उत्पन्न किया[10]। इसी क्रम में प्रजापति

---

1. 'देवा वै सर्पाः। तेषामियं (पृथिवी राज्ञी)।' तै० ब्रा० 2.2.6.2
2. श० ब्रा० 9.5.18.1 एवं अथर्ववेद 9.106.8
3. तै० सं० 7.4.2.1
4. 'सत्यमया उ देवाः।' कौ० ब्रा० 2.8 'सत्यसंहिता वै देवाः अनृतसंहिता मनुष्या इति।' ऐ० ब्रा० 1.6
5. 'आनन्दात्मानो हैव सर्वे देवाः।' श० ब्रा० 10.3.5.13
6. 'न वै देवाः स्वपन्ति।' श० ब्रा० 3.2.2 22
7. 'मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति।' श० ब्रा० 2.1.4.1
8. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'
9. श० ब्रा० 1 9.2.28
10. श० ब्रा० 11.1.6.14

द्वारा ही परमेष्ठी भी उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्रजापति ने जितने देवों को उत्पन्न किया उन्हें यज्ञ-रूपी अन्न प्रदान कर चार तत्त्व दिये-अमृत, ऊर्जा, सूर्य तथा ज्योति[1]।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध देवतागण के चरित्र एवं उनकी प्रकृति के बारे में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। देवताओं के गुह्य एवं दुरूह स्वभाव के कारण आज तक इन वैदिक देवताओं का सम्यक् अध्ययन नहीं हो पाया है। एक बात यहाँ उल्लेखनीय है कि देवताओं का जैसा वर्णन ऋक् संहिता में मिलता है वैसा ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होता। ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध ऋचाओं में देवताओं के बारे में किये गये उल्लेख की पृष्ठभूमि को देखते हुए उनके विषय में नये-नये अर्थ मिलते हैं। प्रोफेसर ब्लूमफील्ड के मतानुसार[2] ब्राह्मणग्रन्थ तथा यज्ञ कर्मकाण्ड से सम्बद्ध अन्य साहित्य वेदों का अर्थ समझने में बहुमूल्य सहायता-स्रोत के रूप में सिद्ध होते हैं। विविध देवताओं से सम्बद्ध विभिन्न यज्ञानुष्ठान के सन्दर्भों तथा देवताओं के बारम्बार वर्णित आवाहनों एवं विवरणों के आधार पर देवताओं के गूढ़ स्वभाव और प्रकृति को भलीभाँति समझने में बड़ी सहायता तथा मार्ग दर्शन मिलता है। इन वर्णनों से देवतागण में एकत्व की पृष्ठभूमि का औचित्य भी ज्ञात होता है। ब्राह्मणों में आये देवतागण के वर्णन को देखते हुए एकेश्वरवाद का कोई स्थान नहीं रह जाता। एकेश्वरवाद का सिद्धान्त वेद अथवा वेद के किसी अंग पर लागू नहीं होता। प्रोफेसर ह्विटनी का कथन[3] है कि यह दावा किया जा सकता है कि एकेश्वरवाद जैसा कि इसके अविष्कारक ने प्रस्तुत किया है गलत तथ्यों पर आधृत एक भूल है जबकि इसके ठीक विपरीति बात कहनी चाहिए थी।

ब्राह्मणों में देवताओं को प्रायः देव कहा गया है तथा ये ग्रन्थ देवों की प्रकृति को समझने में तार्किक पद्धति का उपयोग करते हैं। तार्किक पद्धति का व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'त्व' प्रत्यय का अधिकांश प्रयोग

---

1. यज्ञो वो अन्नं अमृतत्वं वः ऊर्ग्वः सूर्योवो ज्योतिः।' श० ब्रा० 2.4.2.1
2. एम० ब्लूमफील्ड :—'कान्ट्रिब्यूशन् टु द इन्टरप्रिटेशन् आव् द वेद III जे०ओ०ए०एस० 15, 1893, पृ० 153
3. डब्लू० डी० ह्विटनी—'आन् द सोकॉल्ड हिनोथीज्म आव् द वेद' पी० ए० डी० एस० न्यू हेवेन 1881, पृ० L XXXII (जे० ए० ओ० एस० II)

मिलता है। 'त्व' प्रत्ययान्त शब्दों जैसे कि 'देवत्व' शब्द का निर्वचन व्युत्पत्ति के अतिरिक्त तर्क के आधार पर भी किया गया है।

देवताओं की संख्या एवं उनका वर्गीकरण :—

प्रायेण देवताओं की संख्या[1] 33 वतलायी जाती है। इनकी संख्या अनिश्चित[2] या संख्यातीत नहीं वतलायी गयी है। कभी-कभी प्रजापति का चौंतिसवें देवता के रूप में भी उल्लेख[3] मिलता है। 'आवेस्ता' में भी दैवी शक्तियों की संख्या 33 ही बतलायी[4] गयी है। देवताओं के वर्णन प्रसंग में तीन तथा तीन के गुणा की संख्या विशेष रूप से सम्बद्ध[5] मिलती है। बृहस्पति की अध्यक्षता एवं नेतृत्व में ये सभी 33 देवतागण सृष्टि की उत्पत्ति, संरक्षण एवं विघटन के विशिष्ट कार्य सम्पादित करने में समर्थ[6] होते हैं। तीन लोकों के अनुरूप ही देवताओं के तीन वर्ग किये गये हैं। वैसे तो देवताओं की संख्या केवल 31 ही रहती है, किन्तु प्रजापति एवं वषट्कार को जिन्हें दो देवों की तरह गिना गया है, मिलाकर 33 देवगण बनते हैं। देवताओं के तीन वर्ग इस प्रकार हैं :—

1–आठ वसु, (जलमय, पृथ्वीलोक के देवता)

2–ग्यारह रुद्र, (अन्तरिक्ष लोक के देवता) तथा

3–बारह आदित्य (महः द्युलोक) के देवता—कुल मिलाकर 31 देवतागण।

वसुओं के वर्ग के प्रमुख देवता अग्नि हैं। रुद्रों का नेतृत्व इन्द्र[7] करते हैं तथा आदित्यों के अगुआ वरुण[8] हैं। ये देवताधिपति अपने-अपने वर्ग के ज्येष्ठ

---

1. 'त्रिरेकादशाः इह माण्वत' तै० ब्रा० 3.7.5.1
2. तस्मान्मिता देवाः, जै० ब्रा० 1.2.7.9
3. त्रयस्त्रिंशत् वैंदेवताः। ता एवाप्नोति प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः ॥ तै० ब्रा० 1.8 7.1
4. हॉग : 'एसेज आन् द पारसीज़', पृ० 275
5. त्रिषत्या हि देवाः (त्रित्वेन सत्यत्वम्) ॥ तै० ब्रा० 3.2.3.6
   देवाः त्रिरेकादशाः त्रिस्त्रयस्त्रिंशाः। तै० ब्रा० 3.11.2.4
6. त्रया देवा एकादश। त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः बृहस्पतिपुरोहिताः। तै० ब्रा० 2.6.5 26
7. देवता तात त्रयस्त्रिंशत्। अष्टौ वसवः। एकादशरुद्राः द्वादश आदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च त्रयस्त्रिंशौ पं० ब्रा० 6 2.5 ऐ० ब्रा० 3.22
8. इदमहं अग्निज्येष्ठेभ्यः। वसुभ्यो यज्ञं प्रब्रवीमि। इदमहं इन्द्रज्येष्ठेभ्यः। रुद्रेभ्यो यज्ञं प्रब्रवीमि। इदमहं वरुणज्येष्ठेभ्यः। आदित्येभ्यो यज्ञं प्रब्रवीमि। तै० ब्रा० 3.7.4-29-30

देव तो हैं ही साथ ही साथ ये क्रमशः जलमय पृथिवी लोक, नभोमण्डल (अन्तरिक्ष लोक), तथा महःलोक (द्युलोक) के अधिपति[1] एवं नियन्ता भी हैं। इसी प्रकार आठ वसुदेवता वसन्त ऋतु, ग्यारह रुद्र देवता ग्रीष्म ऋतु, एवं बारह आदित्यगण वर्षा ऋतु का नियमन करते हैं[2]।

उक्त तीनों वर्गों के अतिरिक्त ऋभुगण, मरुद्गण, साध्य, विश्वेदेव तथा भृग्वङ्गिरस भी हैं[3]। एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार समस्त देवों को अग्नि अथवा इन्द्र की अगुवाई में रखा गया है[4]।

देवताओं की सामान्य प्रकृतिः— ब्राह्मणग्रन्थों में देवताओं की प्रकृति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उदारदृष्टि से ब्राह्मणों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि देवतागण वस्तुतः विभिन्न शाक्तियाँ हैं जिनकी सिद्धि सूक्ष्म अथवा विराट् ब्रह्माण्ड के शाश्वत नियमों के अन्तर्गत संभव होती है। 'देव' शब्द व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य तथा विश्व के कल्याणार्थ अनुकूल वातावारण प्रदान करने वाली शक्ति का द्योतक है। ये शक्तियाँ अथवा 'कार्यकलाप' 'ऋत' के कठोर नियन्त्रण के अधीन कार्यरत होते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड एक सर्व शक्तिमयी विधि के इंगित पर चलता है। यही शक्तिमयी विधि ऋत, के नाम से अभिहित है। ब्रह्माण्ड का यह संचालन उस जीवन शक्ति के कारण संभव है जो समस्त जड जंगमात्मक लोकों में परिव्याप्त है। यह महाशक्ति भौतिक पदार्थों के माध्यम से ही ब्रह्माण्ड में विभिन्न स्तरों पर कार्य करती रहती है। मानव इसी विश्वरूपा शक्ति का

---

1. अयं वै लोको अम्भांसि। तस्य वसवोऽधिपतयः। अग्निर्ज्योतिः। यदम्भांसि जुहोति। इममेव लोकमवरुन्धे वसूनां सायुज्यं गच्छति। अग्निं ज्योति रवरुन्धे। नभांसि जुहोति। अन्तरिक्षं वै नभांसि। तस्य रुद्रा अधिपतयः। वायुर्ज्योतिः। यन्नभांसि जुहोति अन्तरिक्ष मेवावरुन्धे। रुद्राणां सायुज्यं गच्छति। वायुं ज्योतिरवरुन्धे। महांसि जुहोति। असौ वै लोको महांसि। तस्मादित्या अधिपतयः। तै० ब्रा० 3.8.18. 68-69
2. वसन्तेनर्तुना देवाः। वसवस्त्रिवृता स्तुतम्। रथन्तरेण तेजसा। हविरिन्द्रे वयो दधुः। ग्रीष्मेण देवा ऋतुना। रुद्राः पञ्चदशे स्तुतम्। बृहता यशसा बलम्। हविरिन्द्रे वयो दधुः। वर्षाभिर् ऋतुनाऽऽदित्याः। स्तोमे सप्तदशे स्तुतम्। वैरूपेण विशौजसा। हविरिन्द्रे वयो दधुः। शारदेनर्तुना देवाः। एकविंश ऋभवस्स्तुतम्। वैराजेन श्रिया श्रियम्। हविरिन्द्रे वयो दधुः। हेमन्तेनर्तुना देवाः। मरुतस्त्रिणावे स्तुतम्। तै० ब्रा० 2.6.19
3. तै० ब्रा० 2.2.10;, 2.5.7.1; 2.6.9.1
4. अग्नि वा अन्वन्या देवताः। इन्द्र मन्वन्याः ता एवोभयीः प्रीणाति। तै० ब्रा० 3.7.1.8 ब्रह्म एवं क्षत्र के अन्तर्गत भी वर्गीकरण व्यक्त होता है। 'इन्द्राग्नी' द्रष्टव्य है।

एक अंग है तथा ब्रह्माण्ड के विभिन्न स्तरों पर वही पराशक्ति अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों के माध्यम से कार्यशील रहती है जिन्हें देवतागण की संज्ञा दी गयी है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के संचालन नियमन के पीछे 'ऋत' की सत्ता निहित है। इस पर विशिष्ट जानकारी हेतु डा० कुन्हनराजा का अभिमत उल्लेखनीय है[1]।

श्री ह्वाइट के मतानुसार[2] 'बाइबिल, में भी 'एन्जिल' एवं 'शैतान' शब्द क्रमशः कल्याणकारी अथवा विघ्न-विनाशकारी शक्तियों कार्यकलापों को द्योतित करते हैं भले ही ये 'एन्जिल' अथवा 'शैतान' निजी व्यक्तित्व धारण किये हुए क्यों न हों। उनके अनुसार 'बाइबिल' में उनके स्वरूप एवं व्यक्तित्व को उतना महत्त्व नहीं दिया गया है जितना कि उनके कृत्यों को तथा उनकी सत्ता पर उतना महत्त्व नहीं जितना कि उनके कार्यकलाप पर।

वास्तव में वैदिक देवतागण उन विभिन्न माध्यमों का द्योतन करते हैं जिनसे जीवन मुखरित-प्रस्फुटित होता है। वेदों में जीवन की सृजनात्मक ऊर्जा के विभिन्न अंगों को मूर्त स्वरूप प्रदान किया गया है। सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के निम्नतम स्तर पर मानव शरीर के अन्दर देवतागण विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों में सन्निविष्ट दिखाई देते हैं तथा ब्रह्माण्ड के विराट् स्तर पर प्रकृति की शक्तियों में अवस्थित हुआ करते हैं। अतः जिन विद्वानों ने देवताओं के मात्र बाह्य भौतिक स्वरूप को देखा है, उन्होंने वैदिक देवतावाद के गूढ़ चरित्र को गलत समझा है[3]। इसलिए देवताओं को ब्रह्माण्ड के किसी एक स्तर से सम्बद्ध करना कठिन है। उदाहरणार्थ, इन्द्र देवता चैतन्य के प्रतीक हैं। वह बल (भौतिक शक्ति) तथा उन सभी महान् गुणों से सम्पन्न हैं जो किसी भी वर्ग या समाज के नेतृत्व एवं मार्ग दर्शन के लिये अपेक्षित हैं। इन्द्र उस दुर्धर्ष शक्ति के प्रतीक हैं जो वायु को बहने के लिए प्रेरित करता है तथा बादल से वृष्टि कराता है। इन्द्र चूँकि अन्तरिक्ष लोकों के देवाधि-देव हैं, अतएव वायु एवं बादल के ऊपर उनका ही आधिपत्य है। स्पष्ट है कि ये सभी-इन्द्र के विभिन्न कार्याङ्ग हैं। देवताओं के प्रमुख चरित्र एवं स्वभाव का यदि समष्ट्यात्मक व्यष्टयात्मक एवं निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र आंकलन किया जाय तभी जाकर इनकी गूढ़ प्रकृति को जाना जा सकता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'देव' शब्द का निर्वचन किया गया है। 'देव' का

---

1. डा० सी कुन्हनराजा :– 'सर्वे आव् सस्कृत लिट्रेचर, पृ०। 8
2. ह्वाइट 'गॉड एण्ड द अन्कान्शस' पृ०। 17 और 125,
3. श्री अरविन्द 'फाउण्डेशन्स आव् इण्डियन कल्चर,' पृ० 163

देवत्व पक्ष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका सामंजस्य एवं सम्वन्ध दिन के प्रकाश से है। देवत्व या देवता का अर्थ ही है, प्रकाशित, भास्वर अथवा चमकता हुआ। प्रकाश अथवा भास्वरत्व की प्राप्ति ही देवत्व है[1]। इसीलिए सभी देवता भास्वर एवं शक्ति सम्पन्न हैं। वे सर्वाधिक वन्दनीय, यशस्वी एवं महनीय हैं[2]।

देवों का विद्वत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखायी पड़ता है। देवतागण 'विद्वत्व' के प्रति गम्भीर सम्मान रखते हैं तथा जो 'विद्वत्व' के परिपन्थी हैं उनके वे विरुद्ध रहते हैं[3]। ब्रह्माण्ड को सत्य अथवा 'ऋत' तथा अनृत में विभाजित किया गया है। सत्य अथवा 'ऋत' देवताओं का धर्म है जबकि अनृत मनुष्यों का। इस प्रकार ऋतानृत में ही समग्र ब्रह्माण्ड बटा हुआ है। किसी तीसरे विभाजक तत्त्व की गुँजाइश नहीं रखी गयी है[4]। इस विभाजन का तात्पर्य एवं सिद्धान्त यह है कि भौतिक एवं महत्त्वपूर्ण महाशक्तियाँ (देवतागण) सत्य अर्थात् 'ऋत' के अनुरूप ही कार्यरत रहती हैं। उनमें कोई परिवर्तन अथवा इस महानियम के अनुपालन में कोई च्युति नहीं होने पाती, जबकि वातावरण के वहुविध प्रभावों से आवद्ध मनुष्य यदाकदा 'ऋत' अथवा 'सत्य' की सार्वभौम व्यवस्था के विपरीत भी चला जाता है अथवा इस व्यवस्था का उल्लंघन भी कर डालता है। इसीलिये मनुष्य का धर्म 'अनृत' बताया गया है। मनुष्य को स्वेच्छाचारिता की वृत्ति ही उसके अनृतत्व की कारण है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के नियामक एवं सार्वभौम सिद्धान्त 'ऋत' अथवा 'सत्य' देवताओं की आचारवृत्ति को अपवाद रहित ढंग से व्यवस्थित करती है। ब्राह्मणों के अध्ययन से जानकारी मिलती है कि देवतागण अपने अधिदेवता प्रजापति की शक्ति द्वारा विनियमित होते हैं। देवों की कर्मवृत्ति[5] उन्हें मरणधर्मा अथवा मर्त्य बना देती है। जब सृष्टि-विकास का चक्र घूमता हुआ पूरा हो जाता है तो वे देवगण 'अमृत' अमर हो जाते हैं। यह वात ब्राह्मणों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से अभिहित है कि जो 'ऋत' अथवा 'सत्य' के सनातन नियमा-

1. 'दिवा वैनोऽभूदिति। तद्देवानां देवत्वंवेद।' तै० ब्रा०–2.2.9.9
2. विश्वे व देवो देवानां यशस्थितमाः। ......देवा वैं देवानां अपचिततमा :। .... सर्वे देवा: त्विषिमन्तः हरस्विनः। तै० ब्रा० 2.8.7.2
3. एता उ एवैनं देवता धूर्वति य एव विद्वांसं धूर्वतीति।। जै० ब्रा० 1.24.9
4. द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतञ्च। सत्यमेव देवाऽ अनृतं मनुष्याः।। श० ब्रा० 1.1.1.4
5. प्रजापति: देवान् असृजत। ते पाप्मना सन्दिता अजायन्त। तान् व्यद्यत्। तै० ब्रा० 3.10.9.1

नुसार ही कार्य करते रहते हैं, वे अपने आन्तरिक गुण शील के कारण ही 'अमृतत्त्व' प्राप्त कर लेते हैं[1]।

यह ध्यातव्य है कि वेदियों में खाली स्थान भरने के लिए प्रयुक्त किये गये लोकम्पृण (पत्थर) को देवगण कहा गया है। कभी-कभी देव शब्द का उपयोग इन्द्रियार्थ में भी किया गया है[2]। तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.2.2.6) में देवगणों की पत्नियों का उल्लेख मिलता है। शतपथब्राह्मण में ओषधियों को देवों की पत्नी कहा गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में उनकी सूची भी दी गयी[3] है। इन विवरणों में कतिपय देवताओं की प्रकृति पर विचार किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन दैवी शक्तियों का प्रतीकात्मक अर्थ भी स्पष्ट झलकता है। उदाहरणार्थ, प्रयाज की अधिष्ठात्री देवता इडा, भारती एवं सरस्वती का वर्णन मिलता[4] है। इन्हें कर्म के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में वर्णित किया गया है। जैमिनि ब्राह्मण के एक स्थल से प्रतीत होता है कि देवतागण को 'स्वर नाद' (Vibration) के रूप में भी जाना गया है। इन्द्र देवता को मनस् एवं वाक् से उत्पन्न होने वाला 'स्वर' कहा गया[5] है। जैमिनि ब्राह्मण में ही देवों एवं मनुष्यों में परस्पर तुलना प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि मनस् मनुष्यों का नेता है जब कि 'आप' देवों का नेतृत्व करते हैं। इस कथन से मानव पर मनस् के दुर्दमनीय प्रभाव का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। जन्म-जन्मान्तर मनुष्य मन के बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता है। बाद में यह सत्य दार्शनिक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। गीता में 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' के चिरन्तन सत्य से कौन नहीं अभिज्ञ है।

पंचब्राह्मण के अनुसार चक्षु, श्रोत्र एवं वाणी मनुष्य की धुरी स्वरूप अर्थात् मनुष्य के उन्नेता हैं। इसी प्रकार वायु, आदित्य, दिशाएँ एवं पृथ्वी देवों के नेता हैं। इस प्रकार आपः, वायु, आदित्य, दिशाएँ एवं पृथ्वी समान प्रकृति

---

1. मर्त्या हवा अग्रे देवाः आसुः। स यदैव ते संवत्सरमापुः। अथामृता आसुः ॥ श० ब्रा० 11.1.2.12
2. अथ यद्देवा इत्याख्यायते तल्लोकम्पृणा तद्वा एतत्सर्वे देवा ॥ श० ब्रा० 10.4.2.17
3. पत्नी व्याचष्टे ॥ तै०ब्रा० 2.2.2.6 एवौषधयो वै देवानांपत्न्यः श० ब्रा० 6.4.2.4
4. होता यक्षत्तिस्रो देवीः। त्रयः त्रिधातवो अपसः। इडा सरस्वती भारती। महीन्द्रपत्नीः हविष्मतीः। तै० ब्रा० 2.6.7.4-5
5. स यो मनश्च वाचश्च स्वरो जायते। स इन्द्रः ॥ जै० ब्रा० 1.3.21

वाली हैं। पृथ्वी तत्त्व की अनुभूति मानव शरीर में हुआ करती है। सम्पूर्ण मानव-शरीर देवता के आवास स्थल के रूप में तथा पृथ्वी देवताओं के रथ के रूप में कल्पित है[1]। वेदान्त दर्शन का भावी स्वरूप बीज रूप में इस कथन में समाविष्ट है। देवगण रहस्य प्रेमी अथवा 'देवगण परोक्षप्रेमी' प्रकृति के होते[2] हैं, ये वाक्य ब्राह्मणों में प्रायेण प्रयुक्त हुए हैं। देवों की प्रकृति के बारे में इस प्रकार के वर्णनों से यही धारणा बनती है कि देवतत्त्व एक विशिष्ट प्रतीकात्मक अर्थ है। ब्राह्मणों में उपलब्ध वर्णनों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अग्नि, वायु एवं आदित्य तीन लोकों के प्रतिनिधिभूत, अधिष्ठात्री देवता हैं जो मानव द्वारा आचरित समस्त कर्मों के साक्षी होते हैं। अग्नि को मानव के कृत्यों का उपद्रष्टा (निकटस्थ दर्शी), वायु को उपश्रोता (निकटस्थ श्रोता) एवं आदित्य को अनुख्याता (पर्यवेक्षक) कहा[3] गया है। इन तीन देवताओं को पवित्र करने वाले तीन समुद्रों के रूप में माना गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राचीन भारतीय परम्परा जल को तारण की क्षमता वाला तीर्थ मानती आयी है। यही कारण है कि गंगा आदि नदियों के जलों एवं उनके द्वारा पवित्र किये गये तटों को भी तीर्थ की संज्ञा दी गयी है। समुद्र जलों की राशि है, अतएव उसकी पवित्र करने की क्षमता निर्विवाद सिद्ध है। कतिपय देवताओं के गुण प्रायेण समान बताये गये हैं। उदाहरणार्थ, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र एवं आपः ऐसे देव हैं जिन्हें समस्त देवों के गुणों से संयुक्त माना गया है[4]।

अग्निहोत्र में हविष् के रूप में प्रयुक्त होने वाला दुग्ध गाय के स्तनों में सर्वप्रथम अनुस्यूत होकर निर्माण के अनेक स्तरों-सोपानों से गुजरने के बाद अन्त में आहुति के रूप में डाला जाता है। दुग्ध निर्माण की उक्त प्रक्रिया में यह अवधारणा है कि यह दुग्ध प्रत्येक उक्त सोपान पर विभिन्न देवताओं के अधीनस्थ

---

1. नरो वै देवानां ग्रामः ।। पं० ब्रा० 6.9.2 इयं वै देवरथः ।।
   पं० ब्रा० 6.9.2; 7.7.14
2. परोक्षप्रिया इव हि देवाः। तै० ब्रा० 1.5.9.2; 2.3.11.1
   पं० ब्रा० 4.8.9 आदि।
3. तस्य मेऽग्निरूपद्रष्टा। वायुरूपश्रोता। आदित्योऽनुख्याता ।।
   तै० ब्रा० 3.7.5.4
4. अग्निः सर्वादेवताः ।। तै० ब्रा 1.4.4.10; 1.6.1.5, 1.8.10.3
   आपःसर्वा देवताः ।। ता० म० ब्रा० 3.3.4.5, 3.7.3.4 श० ब्रा० 10.4.2.14
   प्रजापतिः सर्वा देवताः ।। तै०ब्रा० 3.3.7.2 इन्द्रः सर्वा देवताः जै० ब्रा० 2.1.321

है[1]। सायण के अनुसार यह अर्थवाद है। विचार एवं कर्म में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करना आवश्यक माना गया है। ब्रह्माण्ड में दिव्यतत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी सत्ता नहीं है–यह अवधारणा महत्त्वपूर्ण है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में उपन्यस्त देवताओं की कतिपय विशेषताएँ यहाँ उल्लेखनीय हैं।

देवता (1) तै० ब्रा० 2.5.7.3-4
(2) तै० ब्रा० 1.7.4.1-2
(3) तै० ब्रा० 3.11.4.12

1– अग्निः	अन्नादः	अन्नपतिः	गृहपतीनां सुवते	पृथिवीपतिः
2– सोमः	राजा	राजपतिः	वनस्पतीनां	वीरुधांपतिः
3– वरुणः	सम्राट्	सम्राट्पतिः	धर्मपतीनां	धर्मणांपतिः
4– मित्रः	क्षत्रम्	क्षत्रपतिः	सत्यानां	सत्यानांपतिः
5– इन्द्रः	वलम्	बलपतिः	ज्येष्ठानाम्	ओजसांपतिः
6– बृहस्पतिः	ब्रह्म	ब्रह्मपतिः	वाचाम्	ब्रह्मणाम्पतिः
7– सविता	राष्ट्रम्	राष्ट्रपतिः		
8– पूषा	विश्	विश्पतिः		
9– सरस्वती	पुष्टिः	पुष्टिपत्नी		
10– त्वष्टा	रूपकृत्	रूपपतिः		समर्धिपतिः
11– रुद्रः			पशूनाम्	पशूनांपतिः
12– विष्णुः				आशानांपतिः
13– मरुतः				गणानांपतयः

---

1. रौद्रं गवि। वायव्यमुपसृष्टम्। आश्विनं दुह्यमानम्। सौम्य दुग्धम्। वारुणमधिश्रितम्। वैश्वदेवा भिन्दवः। पौष्णमुदन्तम्। सारस्वतं विष्यन्दमानम्। मैत्रंशरः। धातुरुद्धासितम् बृहस्पतेरुन्नीतम्। सवितुः प्रक्रान्तम्। द्यावापृथिव्यं ह्रियमाणम् ऐन्द्राग्नमुपसन्नम्। अग्नेः पूर्वाऽऽहुतिः। प्रजापतेरुत्तरा। ऐन्द्रं हुतम्।। तै० ब्रा० 2.1.7 तथा 2.1.8.2 जै०ब्राह्मण 1.21

1– कतिपय देवताओं के सूक्ष्म ब्रह्माण्डपरक एवं विराट् ब्रह्माण्डपरक दोनों ही अंगों को इष्टि के दौरान प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों में सन्दर्भित किया गया है ।

2– कतिपय देवताओं को भक्तजनों पर विभिन्न (काम्य) वस्तुओं का प्रभुत्व प्रदान करने वाले देवों के रूप में अङ्कित किया गया है ।

3– एक अन्य सन्दर्भ में कतिपय देवताओं को कतिपय वस्तुओं के अधिष्ठात्री देवताओं के रूप में सम्बोधित किया गया है । निम्नांकित सात देवताओं को पुष्टिकाम देवताओं की संज्ञा दी गयी है (देवता वै सप्त पुष्टिकामा न्यवर्तयन्त[1]) तथा उनके नामों का उल्लेख उन वस्तुओं एवं तत्त्वों के साथ किया गया है जिनसे वे परिपुष्ट व विभूषित हुआ करते हैं[2]—

अग्निः	साहस्रं अपुष्यत् ।
पृथिवी	ओषधीभिः वनस्पतिभिः अपुष्यत् ।
वायुः	मरीचिभिः अपुष्यत् ।
अन्तरिक्षम्	वयोभिः अपुष्यत् ।
आदित्यः	रश्मिभिः अपुष्यत् ।
द्यौः	नक्षत्रैः अपुष्यत् ।
चन्द्रमाः	अहो रात्रैः, अर्धमासैः ऋतुभिः संवत्सरेण अपुष्यत् ।

ध्यान से देखा जाय तो ये सात दैवी शक्तियाँ जड़ एवं जंगम के रूप में दृश्यमाण समूची सृष्टि के पोषण-परिरक्षण में न केवल आधारभूत हैं, अपितु इनके बिना जीवन ही दूभर हो जाएगा ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भारत की एक सभा का वर्णन मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि देवगण इन्द्र के चारों ओर आसीन हैं; वसुगण भारत के पूर्व में, रूद्रगण भारत के दक्षिण में, आदित्यगण भारत के पश्चिम में तथा विश्वेदेव

1. तै० ब्रा० 2.3.3.2
2. वही वही

भारत के उत्तर में बैठे दिखाये गये हैं। अंगिरस् पूर्व में आसीन इन्द्र के समक्ष पश्चिम की ओर बैठे हैं। साध्यगण इन्द्र के पीछे पश्चिम दिशा में बैठे हैं[1]। अनेक शक्तियों में परस्पर समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित कराने हेतु ही ये सभी दैवी शक्तियाँ एक विशिष्ट प्रकार की संरचना में आसीन होती है।

अब ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित देवताओं के अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के बारे में संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

1–प्रजापति :–प्रजापति का नाम ब्राह्मण ग्रन्थों में पदे-पदे प्राप्त होता है। इन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि प्रजापति वह जीवनशक्तिदाता उद्भव-स्रोत है जिससे ब्रह्माण्ड की सर्जना हुई है तथा जो उसे स्थिति प्रदान करता है। इस प्रकार प्रजापति जीवधारियों के विकास के आदि स्रोत के रूप में वर्णित है। जड़-जंगम के व्यक्त रूप में आने के पूर्व अव्यक्तावस्था में प्रजापति की ही सत्ता परिकल्पित है। प्रजापति की यह इच्छा हुई कि वह एक से अनेक होना चाहता[2] है और तभी वह ब्रह्माण्ड रूप में स्वयं परिणमित हो गया। सर्वप्रथम वह आदि रूप (सलिल रूप) में प्रकट हुआ। तदनन्तर शूकर के रूप में पृथिवी का उद्भव हुआ। पृथिवी पुष्करपर्ण पर फैल कर स्थित हुई[3]। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि वाराहावतार की उत्पत्ति का यह परिचायक भी है। प्रजापति ने देवों, मनुष्यों एवं पितरों का सृजन किया[4]। यहीं पर प्रजापति को रक्षक बताया गया है। प्रजापति दु:खराहित्य का कारण है तथा वही सभी सुखों का मूल भी है[5]। ब्राह्मणों का कथन है कि प्रकट होने के बाद प्रजाएँ प्रजापति से दूर चली

---

1. तं देवा समन्तं पर्यविशन्। वसव: पुरस्तात्। रुद्रा दक्षिणत:। आदित्या: पश्चात्। विश्वे-देवा उत्तरत:। अंगिरस: प्रत्यञ्चम्। साध्या: पराञ्चम्।........तै० ब्रा० 2.2.10.5-6
2. प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्रऽ एकएवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति···1 पं० ब्रा० 4.1.4; 16.1.1 जै० ब्रा० 1.68 प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति। स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत्। तै० ब्रा० 2.1.2.8
3. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापति: अकाम्यत् ······ स वराहोरूपं कृत्वो न्यमज्जत्। ······तत्पुष्करपर्णेत्॥ तै० ब्रा० 1.13.5-6
4. एत इति वै प्रजापति: देवान् असृजत् पं० ब्रा० 6.9.15 वातं प्राणं मनसाऽन्वारभामहे। प्रजापति यो भुवनस्य गोपा:॥ तै० ब्रा० 3.7.7.2 प्रजापतेत्वं निधि पा: पुराण:। देवानां पिता जनिता प्रजानाम्। पतिर्विश्वस्य जगत: परस्पा: हविर्नो देव विहवे जुषस्वा।······ य: पशूनां रक्षिता विष्ठितानाम्। प्रजापति: प्रथमजा ऋतस्य॥ तै० ब्रा० 2.8.1.3-4
5. तमु ह नाका इत्याहु:न हि प्रजापति: कस्मै च नाकम्॥ पं० ब्रा० 10.1.18

गयीं। प्रजापति ने साम, होम अथवा यज्ञ की शक्ति से उन्हें रोके रखा। आगे यह कहा गया है कि प्रजापति ने ओदनसव देखा और स्वयं को अन्न के रूप में प्रकट किया। प्रजाएँ जब कहीं भी भोजन नहीं प्राप्त कर सकीं तो वे प्रजापति के पास लौट आयीं[1]। विश्व की सृष्टि करने के फलस्वरूप प्रजापति शक्तिरहित हो गये। उनका पुनः यज्ञ के द्वारा शक्तिसंचय हुआ, क्योंकि यज्ञ चिकित्सा का कार्य करता है तथा प्रजापति का शक्तिकल्प कर देता है[2]। इसका यह तात्पर्य हुआ कि जीवन के दो तत्त्व शक्तिकल्य एवं शक्तिस्थैर्य चक्र की भाँति विश्व की नित्य सत्ता अथवा स्थिरता बनाये रखते हैं। अन्य सभी देव प्रजापति से उद्‌भूत हुए बताये गये हैं। प्रजापति को कभी-कभी चौंतीसवाँ देवता बताया गया है जो यज्ञ का रूप धारण कर देवों को धारण करता (स्थित रखता) है[3]। प्रायः प्रजापति का तादात्म्य विश्वकर्मा, सूर्य, अग्नि, त्वष्टा, मृत्यु तथा इन्द्र जैसे अनेक देवताओं के साथ किया जाता है[4]। चूँकि प्रजापति समस्त देवताओं का अधिकरण (आधार) है, अतएव उन देवताओं को भी प्रजापति की संज्ञा दे दी गयी। वास्तव में प्रजापति सर्वदेवमय[5] हैं। प्रजापति को बोधगम्य नहीं बताया गया है। उनका वास्तविक स्वरूप जाना नहीं जा सकता। उनके बारे में 'वह कौन हैं?' कहकर जिज्ञासा ही अभिव्यक्त की गयी[6] है, क्योकि 'वह यह है' अथवा 'वह वह है' कहकर प्रजापति का परिचयांकन करना कठिन है। वास्तव में वह सबमें परिव्याप्त है तथा वही सर्वमय है। वह प्रजापति ही है जो समस्त

---

1. प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता अस्मात्सृष्टाः पराचीरायन्न। स एवं प्रजापतिरोदनं (ओदनसवं अपश्चयत्। सोऽन्नं भूतोऽतिष्ठत्। ता अन्य मान्नहयमवित्वा प्रजापतिं प्रजा उपावर्तन्त। तै० ब्रा० 1.1.5
2. प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा अभिषज्यन्। प्रजापतिः प्रजाअसृजत्। आस्थत्। पं० ब्रा० 1.1.10.1; 4.10.7
3. प्रजापतिः देवान् असृजत्॥ तै० ब्रा० 3.10.0.1; पं० ब्रा० 6.9.15 प्रजापतिः चतुस्त्रिंशः॥ तै० ब्रा० 1.8.7.1 यज्ञो भूत्वा देवान् विभर्ति जै० ब्रा० 1.314
4. एष वै प्रजापतिर्यदग्निः॥ तै० ब्रा० 1.1.5 स एष वा एको वीरो य एव तपति एष इन्द्रः एष प्रजापतिः॥ जै० ब्रा० 1.8 सत्वष्टा जै० ब्रा० 1.259 एषवैमृत्युः जै० ब्रा० 1.29 सविता वै प्रजापतिः।
5. अथो प्रजापतिः सर्वा देवताः॥ तै० ब्रा० 3.3.7.3 प्रजापतिः विश्वेवेवाः जै० ब्रा० 1.6
6. अनिरुक्तः प्रजापतिः॥ तै० ब्रा० 1.3.8.5; 1.8.5.5 पं० ब्रा० 78.3; जै० ब्रा० 1.60 ऐ० ब्रा० 1.1.1.13 को हि प्रजापतिः पं० ब्रा० 7.8.3; 11.4.2 प्रजापतिर्वैकः तै० ब्रा० 2.2.5.5

दृश्यमाण जागतिक प्रपंच में आच्छन्न है[1]। प्रायः प्रजापति का रूप देवों तथा असुरों दोनों में समान रूप से अभिव्यक्त होता है, यद्यपि देवों एवं असुरों में परस्पर 'अहिनकुलम्' वैरभाव रहता है। प्रजापति विश्व की महा निर्माण योजना का निर्माता व अधीक्षक है।

विभिन्न गायत्री, जगती आदि वैदिक छन्दों को प्रजापति के विभिन्न अंगों के रूप में अभिहित किया गया है[2]। प्रजापति वाक् (वाणी) है[3]। यह वाणी की विधा ही है जो समस्त पदार्थों का महत्त्व सूचित करती है तथा उन्हें आकार एवं सत्ता प्रदान करती है। प्रजापति 'ऋत' का स्वरूप[4] है, अर्थात् वह 'ऋत' द्वारा सर्वप्रथम निर्मित हुआ है। ब्रह्माण्ड में जैसे ही 'व्यवस्था', परिलक्षित हुई, तैसे ही प्रजापति प्रथम ज्ञातवस्तु के रूप में सामने प्रकट हुआ। 'प्रजापति' शब्द से इंगित कार्यकलाप ही प्रजापति के प्रमुख तत्त्व होते हैं। ब्राह्मणों में बहुचर्चित प्रजापति का अन्य प्रमुख स्वरूप उसका यज्ञ से तादात्म्य[5] है। यज्ञ ही प्रजापति को संस्कृत परिमार्जित करता है। वस्तुतः विकसनशीलता को ही यज्ञ कहा गया है। प्रजापति ने स्वयं को यज्ञ के रूप में प्रस्फुटित किया तथा उसे देवों को प्रदान किया[7]। यज्ञ देवताओं का आहार है[8]। आहार अथवा अन्न के सत्रह अनिवार्य तत्त्व बताये गये हैं जो प्रजापति स्वयं ओदन रूप हैं।

---

1. प्रजापते न त्वदेतानन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु, तै० ब्रा० 2.8.1.2
2. सोऽब्रवीत्प्रजापतिः। छन्दांसि रथो मे भवत। युष्माभिरहमेतमध्वानमनुसंचराणीति तस्य गायत्री च जगती च पक्षावभवताम्।.........
   तै० ब्रा० 1.5.12.5 प्रजापतेर्वा एतस्य अङ्गानि यत् छन्दांसि॥ ऐ० ब्रा० 7.8.2
3. प्रजापतिर्हि वाक्॥
   तै० ब्रा० 1.3.4.5
4. प्रजापतिः प्रथमजामृतस्य॥
   तै० ब्रा० 2.8.1.3.4
5. यज्ञो वै प्रजापतिः॥
   तै० ब्रा० 1.3.10.9; 3.2.7.4; 3.7.2.1 श० ब्रा० 1.1.1.13; 1.7.4.4 आदि;
6. प्रजापतिः देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत्॥ तै० ब्रा०। 1.3.2.5; 3.8.14.1 देवेभ्यो आत्मानं यज्ञं कृत्वा प्रापयत्॥ श० ब्रा० 11.1.8.2-4, ऐ० ब्रा० 12.2
7. 'यज्ञो हि देवानां अन्नम्, श० ब्रा० 11.1.8.2-4

प्रजापति को सत्रह अवयवात्मक वाला वर्णित[1] किया गया है[2]। शरीर के विभिन्न अवयवों के नामों की संख्या सत्रह है। लोम (रोम) की दो, त्वक् (त्वचा) की दो, मेद को दो, मांस की दो, स्नायु की दो, अस्थि की दो, मज्जा की दो, कला (सोलह कलाओं) की दो संख्या तथा प्राण को मिलाकर इस प्रकार कुल सत्रह संख्या वाला प्रजापति अभिहित किया गया है। व्याहृतियों की संख्या भी सत्रह ही है। वर्ष में महीनों की संख्या बारह होती है जिसमें ऋतुओं की पाँच संख्या मिलाने पर सत्रह की ही संख्या आती है[3]। प्रजापति संवत्सर अथवा वर्ष का भी प्रतिनिधित्व करता है। वर्ष काल का माप होता है। संवत्सर की तरह प्रजापति अपने में पूर्ण होता है। संवत्सर काल का एक सम्पूर्ण चक्र होता है। प्रजापति में चूँकि काल की ही प्रकृति अन्तर्भूत होती है, अतएव प्रजापति को संवत्सर कहा गया है[4]। ब्राह्मणों के अनुसार संवत्सरं काल का मापक होता है तथा भूत एवं भविष्यत् को इंगित करने वाले कृत्य संवत्सर में ही अन्तर्भूत होते हैं[5]। एक प्रकार से संवत्सर जीवजन्तुओं के जन्म का कारण होता है[6]। यह कितना अकाट्य सत्य है कि मानवशरीर-धारियों की गर्भावस्था नौ महीनों के बाद समाप्त हो जाती है। पशुओं के प्रकरण में भी गर्भावस्था बारह महीनों के अन्दर ही निश्चित रूप से पूर्ण हो जाती है[7]। जीव-जन्तुओं के जन्म लेने तथा

---

1. 'अन्नं वै सप्तदशः'॥ पं० ब्रा० 2.7; 7.56 प्रजापतिर्वा ओदनम्। तै० ब्रा० 3.6.18.2
2. तद्वै लोम इति द्वे अक्षरे। त्वग् इति। द्वे भेदः इति द्वे। मांसमिति द्वे। स्नायुः इति द्वे। अस्थिं इति द्वे। मज्जा इति द्वे। ताः षोडश कलाः। अथ च एतदन्तरेण प्राणः संचरति। स एव सप्तदशः प्रजापतिः। तस्मा एतस्मै प्राणाय एताः षोडशकला अन्नमभिहरंति। श० ब्रा० 10.2.8.17
3. द्वादशमासाः संवत्सरः पंचर्तवः. स वै संवत्सरः। पं० ब्रा० 18.2.14.18.4.1 प्रजापतिर्वे सप्तदशः॥ तै० ब्रा० 1.3.3.2 आदि पं० ब्रा० 4.5.6.9.8.15 आदि। व्याहृतियों के लिये कृपया पूर्व टिप्पणी देखें।
4. पूर्ण इव हि प्रजापतिः। तै० ब्रा० 2.2.1.2 संवत्सरो वै प्रजापतिः॥ तै० ब्रा० 1.6.2 2; पं० ब्रा०। 10.3.6; श० ब्रा० 1.3.2.10; 10.3.1.1 जै० ब्रा० 1,135,167, आदि, संवत्सरः वै यज्ञः प्रजापतिः॥ श० ब्रा० 1.2.5.12, 11.1.1.1 Year lowest complete revolution of Time-represents prajapati'
   जे० एगलिंग: शतपथब्राह्मण पार्ट 4 (श० ब्रा० ई० 43) इन्ट्रोडक्शन; पृ० XXIII
5. 'संवत्सरेऽन्तर्भूतञ्च भव्यञ्च'। पं० ब्रा० 18.9.7
6. संवत्सरं हि प्रजाः पशवोऽनुप्रजायन्ते॥ पं० ब्रा० 10.1.9; 18.4.11
7. द्वादशेन परिगृहीताः। पं० ब्रा० 6.1.3

ऊर्जा प्रस्फुटित करने वाने प्रजापति अथवा संवत्सर अथवा काल के मध्य पूर्ण सामञ्जस्य स्थित रहता है। जूलियस एगलिंग का कहना है, As the totality of all beings, Prajapati, however, not only represents the aspects of space but also those of time-he is the father time[1].' वास्तव में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड यज्ञ अथवा कल है। अन्य ढंग से इसको 'कलन', 'गति' एवं 'स्वर नाद, (Vibration) कहा जा सकता है[2]।

2.अग्निः— ऋग्वेद में अग्नि अति महत्त्वपूर्ण देवता है। वैदिक यज्ञ में अग्नि को अत्युन्नत स्थान प्राप्त है। यह एक अपरिहार्य देवता है। समस्त आहुतियाँ अग्नि के माध्यम से ही देवों तक पहुँच सकती[3] हैं। वस्तुतः अग्नि यज्ञ का मुख[4] है। समस्त देवताओं में अग्नि प्रथम एवं सर्वप्रथम देवता[5] है। वसुओं का नेता भी अग्नि[6] है। अग्नि को पृथिवीपति कहा गया[7] है। अग्नि के माध्यम से ही देवतागण प्रसन्न किये जाते हैं। अग्नि देवताओं का जठर (उदर) है[8]।

अग्नि देवों का व्रतपति है[9], क्योंकि यह देवताव्रतों का रक्षक है। अग्नि देवताओं का यष्टा[10] है। अग्नि का तादात्म्य विभिन्न देवों के साथ किया गया है।

---

1. शतपथब्राह्मण जे० एगलिंग, पार्ट 4 (श० ब्रा० ई० 43), इन्ट्रोडक्शन, पृ० XXII
2. द्रष्टव्य, आर० एन० सूर्यनारायण : 'Kala karma yajna and Amrta manthana and Jyotish'
   एस्ट्रॉलाजिकल मैगज़िन, सेप्टेम्बर, आक्टुबर 1961, तथा अलेक्जेण्डर : Everything is motion, space time and deity वाल्यूम 1, पृ० 320, हक्सले Universe, an everlasting succession of events'—'पेरेनियल फिलासफी', पृ० 212
3. अग्निर्वैसर्वा देवता। 'अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताम्योजुह्वति' श० ब्रा० 3.4.1.19
4. 'अग्निर्वै यज्ञमुखम्॥ तै० ब्रा० 1.6.1.8
5. अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्॥ तै० ब्रा० 2.4.3.3 अग्निः पुरस्तात्॥ तै० ब्रा० 3.3.7.6
6. इदंमहं अग्निज्येष्ठेभ्यः वसुभ्यः यज्ञं प्रब्रवीमि॥ तै० ब्रा० 3.7.4.6 तै० ब्रा० (3.8.14.2-3) में आज्य एवं तन्डुल (चावल) को क्रमशः अग्नि एवं वसुओं का रूप कहा गया है। अग्नेर्वा एतद्रूपं यदाज्यम्। वसूनां वा एतद्रूपं। यत्तण्डुलाः।
7. अग्निः प्रथिवीपते॥ तै० ब्रा० 3.11.4.1 अग्नेः पृथिवी॥ पं० ब्रा० 20.15.2
8. अग्निर्वै देवानाम् जठरम्॥ तै० ब्रा० 2.7.12.3
9. श० ब्रा० 3.2.2.22-24; 3.4.3.9 अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः 3.6.2.21
10. अग्निर्वै देवानां यष्टा॥ तै० ब्रा० 3.3.7.6

सामान्यतया यह कहा गया है कि अग्नि समस्त देवता है[1]। अग्नि में सभी का वास है। अग्नि का तादात्म्य आदित्य एवं आप (जल) से किया गया है[2]। मूलतः सरस्वती से सम्बद्ध वाणी को अग्नि से सम्बद्ध बतलाया गया है[3]। अग्नि को रुद्र, असुर एवं पूषन् भी कहा गया है[4]। समस्त लोक अग्नि है। पृथिवी में स्थूल अग्नि के रूप में अग्नि को स्थित माना गया है, अन्तरिक्ष में रुद्र के रूप में अग्नि विद्यमान है तथा द्यौः में आदित्य के रूप में अग्नि स्थित है[5]। यह भी कहा गया है कि द्यौ में नाक नामक अग्नि है जो राक्षसों का विनाश करता है[6]। समस्त जीवों में व्याप्त अग्नि पवित्रकर्ता (अग्निः पवमानः), जल में व्याप्त अग्नि 'अग्निपावक' तथा आदित्य में व्याप्त 'अग्निशुचि' कहा गया[7] है। अग्निचित का अर्थ है समस्त जीवधारी तथा देवगण[8]। ब्राह्मणों में अग्नि के चार रूपों का अभिधान करते हुए निम्नांकित त्रिधा अर्थ लगाया गया है :—

1- आधिभौतिक,

2- आधिदैविक, तथा

3- आधियाज्ञिक

चार प्रकार की अग्नियाँ बतायी गयी हैं (1) आहित (2) उद्धृत (3)

---

1. अग्निः सर्वा देवताः ।। तै० ब्रा० 1.4.4.10; 1.8.10.3; 3.2.8.10; आदि, जै० ब्रा० 1.342
2. अर्कश्चक्षुस्तदसौ सूर्यस्तदयमग्निः ।। तै० ब्रा० 1.1.7.2 एष वै प्रजापतिः यदग्निः ।। तै० ब्रा० 1.1.5.5 संवत्सरो वै प्रजापतिरग्निः । श० ब्रा० 10.2.8.16; 10.3.1.1
3. तै० ब्रा० 3.10.8.4 असावेहि अग्निर्मे वाचिश्रितः ।
4. एष रुद्रः यदग्निः ।। तै० ब्रा० 1.1.5.8.1.1.8.4; 1.4.3.6 आदि, पं० ब्रा० 12.4.24 त्वमग्ने रुद्रो असुरो महोदिवः । त्वंशर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे । त्वं वातैररुणैर्यासि शंगयः । त्वं पूषा विधतः पासि नुत्मना तै० ब्रा० 3.11.2.3 'Agni and Rudra are in other words beneficient Power and destroying Power' साइकॉलाजी आव् अन्कान्शस पृ० 63
5. इमे वा एते लोका अग्नयः । तै० ब्रा० 1.1.8.1
6. दिवि नाको नामाग्नी रक्षोहा, तै० ब्रा० 3.2.8.6
7. पशवो वा अग्निः पवमानः । यदेव पशुष्वासीत् । तत्तेनावारुन्धत तेअग्नये पावकाय । आपो वा अग्निः पावकः, यदेवाप्स्वासीत् । तत्तेनावारुन्धत । तेअग्नये शुचये । असौ वा आदित्योऽग्निश्शुचिः । तै० ब्रा० 1.1.6.2-3
8. सर्वाणि हत्वेव भूतानि सर्वे देवा एषोऽग्निचितः ।। श० ब्रा० 10.4 2.14

प्रहृत एवं (4) विहृत। प्रथम आहिताग्नि अर्थात्, अवस्थित अग्नि (गार्हपत्य) इस लोक की अग्नि है। दूसरी उद्धृत अथवा वह जिसे ऊपर अन्तरिक्ष में ले जाया जाय, यथा वायु आहवनीय। तीसरी प्रहृत अथवा द्यौः आदित्य में सम्प्रेषित तथा जिसे उत्तरवेदी में पूर्व की ओर रखा जाता है। चौथी विहृत अथवा दिशाओं में फैली हुई यथा चन्द्र[1] अर्थात् जो विभाजित कर विभिन्न धिष्ण्यों पर रखी जाती है।

अग्निहोत्र के प्रकरण में कुण्ड में अवस्थित अग्नि के सात सोपान या स्तर वर्णित हैं तथा प्रत्येक सोपान या स्तर एक विशिष्ट देवता से सम्बद्ध होता है :—

1- वह अग्नि जिसे सद्य गार्हपत्य से निकाला गया है, वसु है।

2- विभिन्न कुण्डों में रखी व सुलगती अग्नि रुद्र है।

3- ईंधन के सम्पर्क में आयी अग्नि आदित्य है।

4- समस्त ईंधन को भस्मसात् करने वाली अग्नि विश्वेदेव है।

5- रक्त ज्वालाओं में उद्दीप्त अग्नि इन्द्र है।

6- ज्वालारहित अग्नि प्रजापति है।

7- राख से ढकी अग्नि ब्राह्म है।

धार्मिक कर्मकाण्ड में सम्पृक्त यजमान अग्नि के इन विभिन्न स्तरों तथा सम्बद्ध देवों को आतमसात करते हुए अपने ध्यान को केन्द्रित करता है। यहाँ उक्त विभिन्न देवगण एक ही अग्नि के विभिन्न रूपों का प्रतिनिधित्व करते हुये वर्णित किये गये हैं। अग्नि में जो भी आहुति डाली जाती है वह समस्त देवगण को प्राप्त होती है। अग्नि के विभिन्न रूप यथा वैश्वानर एवं स्विष्टकृत् भी बताये गये हैं। अग्नि के वैश्वानर रूप को पृथिवी एवं संवत्सर भी कहा गया है[2]। स्विष्टकृत् अग्नि को रुद्र कहा गया है[3]। अग्नि को अन्नपति अर्थात् समस्त

---

1. तै० ब्रा० 2.1.10
2. इयं वा अग्निः वैश्वानरः ।। तै० ब्रा० 3.8.6.2 संवत्सरो वा अग्निः वैश्वानरः। तै० ब्रा० 1.7.2.5 अग्निर्वाव संवत्सरः। तै० ब्रा० 1.4.10.1
3 रुद्र अग्निः स्विष्टकृत् ।। तै० ब्रा० 39..11.3

अन्न का भोक्ता तथा गृहपतियों का देवता भी कहा गया है[1]। अग्नि जीवों का प्राणाधार है तथा उनका पालन-पोषण करता है। उसे रेतोधा[2] (रेतस् अर्थात् शुक्र को धारण करने वाला) बतलाया गया है। इसी कारण उसे जीवों के प्रजनन का आधारभूत कारण[3] माना गया है। अग्नि क्षत्राभृत् है अर्थात् वह क्षत्र धारण करने वाला है। भौतिक रूप से प्रज्वलित अग्नि की लपटें क्षत्राकार दिखाई देती हैं किन्तु 'क्षत्र' शब्द पालकत्व गुण का द्योतक है। अतः अग्नि पालनकर्ता के रूप में उपन्यस्त है। अग्नि को साक्षात् 'ऋत' कहा गया है[4]। अग्नि यज्ञ[5] है। अग्नि के सर्वव्यापी स्वरूप व प्रभुत्व के कारण उसे साक्षात् ब्रह्म[6] कहा गया है।

अग्नि के साथ सात की संख्या साभिप्राय सम्बद्ध बतायी गयी है। समिधाएँ सात प्रकार की होती हैं। सात प्रकार की ज्वालाएँ होती हैं। सात मन्त्र होते हैं। आज्य आदि सात होते हैं। सात धाम[7] (निवासस्थान) हैं। होता (होतृ) सात होते हैं। सात योनियाँ (अधिकरण अथवा आधार) होती हैं[8]। डा० रेले[9] के मतानुसार अग्नि मानव के मस्तिष्क के अन्दर स्थित उस अंग विशेष की भाँति है जिसकी आकृति अश्व या चील के सिर की तरह होती है। इसी अंग के माध्यम से मस्तिष्क में समस्त स्पन्दन संङ्केत प्राप्त होते रहते हैं।

3. इन्द्र :— समस्त वैदिक देवों में इन्द्र का सर्वाधिक महत्त्व बतलाया गया है। इन्द्र वर्षा के देव बताये गये हैं। वर्षा के देव वह तभी हैं जब वह प्रकाश के स्वामी हैं, क्योंकि प्रकाश ही जल का सर्जक है। इसीलिए इन्द्र सूर्य के रूप में अभिहित[10] हैं। ब्राह्मणों में आकाश को इन्द्र का प्रतीक माना गया[11] है। वायु को

---

1. अग्निरन्नादोऽन्नपतिः। तै० ब्रा० 2.5.7.3; तै० ब्रा० 1.7.4.1
2. अग्निर्वै रेतोधाः ॥ तै० ब्रा० 2.1.2.11; 3.7.3.7
3. अग्निः प्रजानां प्रजनयिता ॥ तै० ब्रा० 1.7.2.3
4. अग्निर्वा ऋतम् ॥ तै० ब्रा० 2.1.1.1
5. 'अग्निर्वै यज्ञः'। श० ब्रा० 3.4.3.9
6. 'अग्निर्ब्रह्म' श० ब्रा० 3.2.2.7; 3.2.2.9
7. तै० ब्रा० 3.1.1.5
8. तै० ब्रा० 1.4.7.3-9
9. डा० रेले 'वैदिक गाड्स एज् फिगर्स एज् बायलोजी'
10. 'एषवै शुक्रो यएष (सूर्यः) तपत्येष उ एवेन्द्रः। श० ब्रा० 4.5.5.7; 8.5.3.2; 2.3.4.12
11. 'यः स आकाशः स एवेन्द्रः।' जै० उ० ब्रा० 1.18.2.1

भी इन्द्र के रूप में वर्णिय किया गया[1] है। शतपथब्राह्मण में प्राण का सम्बन्ध इन्द्र के साथ बतलाया गया[2] है। इन्द्र को हृदय से भी सम्बद्ध किया गया[3] है। ब्राह्मणों के अनुसार इन्द्र अवर्षण रूपी असुरों को हराकर जल की अजस्र धाराओं को मुक्त करने वाला देवता है। प्रकाश के देव के रूप में इन्द्र अन्धकार रूपी असुरों को तिरोहित करने के लिए प्रकाश को फैलाता है। वृत्र के अरि के रूप में इन्द्र की महिमा गायी गयी है। कतिपय विद्वानों ने वृत्र का अर्थ 'हिम' लेते हुए यह अभिमत व्यक्त किया है कि सूर्य के रूप में अवस्थित इन्द्र 'हिम' रूपी वृत्र को विगलित कर उसे नदियों के रूप में प्रवाहित करते हैं। यास्क तथा सायण ने वृत्र का अर्थ 'मेघ' वा 'अहि' किया है। वृत्र का वध करने की प्रसिद्धि के कारण इन्हें 'वृत्रघ्न' की संज्ञा दी गयी है। स्पष्ट है कि इसी आधार पर इस देव को वर्षा के देवता के रूप में माना गया है। शत्रु विनाश के समय इन्द्र के भयंकर रूप का वर्णन मिलता है। उसकी शक्ति से द्युलोक तथा पृथ्वीलोक काँप उठे हैं। उत्पन्न होते ही इन्द्र ने अपनी दुर्धर्ष शक्तियों से समस्त देवगण को अभिभूत कर लिया था। तभी वह सभी देवों में प्रधान देव हो गया[4]।

वज्र इन्द्र का प्रमुख अस्त्र है। इसे त्वष्टा ने बनाया था। वज्र धारण करने के कारण इस देवता को 'वज्रबाहुः' तथा 'वज्रहस्तः' कहा गया है[5]। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार 'बल' अथवा 'शक्ति' इन्द्र देवता के प्रमुख वैशिष्ट्य में से अन्यतम है। इन्द्र बल अर्थात् शक्ति है तथा बलपति अर्थात् सेनानायक भी है[6]। इन्द्र 'ओजस्' गुण से परिपूर्ण है, इसीलिए उन्हें ओजस्पति की संज्ञा दी गयी है[7]। इन्द्र अपने भक्तों को ज्येष्ठों में ज्येष्ठ बना देता है। स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति बलशाली होगा वही किसी वर्ग का नायक व अधिपति बन जाएगा। इन्द्र देवों का अधिपति है तथा समस्त रुद्रों का नायक माना गया है[8]। इन्द्र का वास्त-

1. 'अयं वा इन्द्रोयोऽयं (वातः) पवते।' श० ब्रा० 14.2.2.6
2. 'प्राण एवेन्द्रः।' श० ब्रा० 12.9.1.14
3. 'हृदयमेवेन्द्रः।' श० ब्रा० 12.9.1.15
4. 'यो जात एवं प्रथमो मनस्वान् देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्। यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जना स इन्द्रः॥' ऋग्वेद 1.12.1
5. ऋग्वेद 2-12-12-13 'यः सोमपा निचितो वज्रबाहुः यो वज्रहस्तः स जना स इन्द्रः।'
6. तै० ब्रा० 2.6.1.5, श० ब्रा० 12.3.3.6, तै० ब्रा० 2.5.7.4
7. तै० ब्रा० 3.11.4.2, 17.1.8.3
8. तै० ब्रा० 1.7.4.1

विक अर्थ इन्द्रिय से सम्बद्ध है[1]। वह अपने भक्तों की रक्षा उनकी इन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए करता है। इन्द्र तथा इन्द्रिय पर विमर्श हेतु डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का ग्रन्थ[2] अवलोकनीय है।

मन तथा वाणी से उत्पन्न स्वर इन्द्र है[3]। इन्द्र मूर्तरूप क्षत्र है[4]। इन्द्र समस्त देवताओं के प्रतिनिधि[5] कहे गये हैं तथा इनका तादात्म्य सुरगण, सवितृ, वरुण तथा वायु से किया गया है। एक स्थान पर इन्द्र की सभा का वर्णन किया गया[6] है। विभिन्न देवगण इन्द्र के चारों ओर बैठे हैं, इन्द्र बीच में आसीन हैं। ब्राह्मणों में प्रायः इन्द्र का वृत्र से युद्ध दिखाया गया है। इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि वह वृत्र का विनाश करें, तदनुसार इन्द्र वृत्र को पराजित करते हैं[7]। रेले का कहना है कि जैविक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो भौतिक रूप में इन्द्र मस्तिष्क की उस पर्त का प्रतिनिधित्व करते हैं जो चेतनावस्था तथा अचेतनावस्था के मूल में कारणभूत है[8]।

4. इन्द्राग्नि :— यज्ञ मुख्यतया इन्द्राग्नि से सम्बद्ध होता[9] है। इन्द्र एवं अग्नि प्राणापान[10] बताये गये हैं। इन्हें देवताओं का ओजोबल कहा गया है। दोनों विश्व के सर्वोत्तम रक्षक[11] के रूप में चित्रित किये गये हैं। समस्त देवता इनमें ही विभक्त हैं।

---

1. इन्द्र इन्द्रियेण (अवति) तै० ब्रा० 1.7.6.5, 1.7.8.4
2. 'इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि', पृ० 394
3. स यो मनसश्च वाचश्च स्वरो जायते स इन्द्रः ॥ जै० ब्रा० 1.3.2.1 वाचः ऐन्द्रवयवम् (प्रजापतिर्निरमिमीत) तै० ब्रा० 1.5.5.2
4. क्षत्रमिन्द्रः तै० ब्रा० 3.9.1.6, श० ब्रा० 10.2.8.5
5. तै० ब्रा० 1.3.2.1, य एवासौ तपति स इन्द्रः जै० ब्रा० 13.3.8
6. तै० ब्रा० 2.6.4.1
7. यदा वृत्रमहनत्…इन्द्राः। तै० ब्रा० 2.8.3.7 इन्द्रोवृत्रमहन् तै० ब्रा० 3.2.5.1, श० ब्रा० 1.1.3 4
8 वैदिक 'गाड्स'–रेले, पृ० 104
9. ऐन्द्रो गता यज्ञाः। ………इन्द्राग्नी यज्ञास्य देवता जै० ब्रा० 1.109-110
10. प्राणापानौ एतौ देवानाम् यमिन्द्राग्नी……ओजोबलं वा एतौदेवानाम् यदिन्द्राग्नी तै० ब्रा० 1.6.4.3-4
11. श्रेष्ठा इन्द्राग्नी भुवनस्य गोपौ, तै० ब्रा० 3.1.1.1

इन्द्राग्नि को ब्रह्म एवं क्षत्र के रूप में एक साथ चर्चित किया गया[1] है। जब अग्नि ब्रह्म को बुलाती है, इन्द्र क्षत्रधर को बुलाते हैं तो अग्नि अन्य जीवों के साथ ऊर्ध्व होती है तथा विश्व की क्रिया सम्पादित होती[2] है। ब्रह्म एवं क्षत्र का सिद्धान्त क्रियाशील रहता है। शरीर के अन्तर्जगत् में अग्नि तथा इन्द्र स्नायु व्यवस्था (नर्वससिस्टम) की दो धमनियों की तरह हैं जो ज्ञान को मस्तिष्क तक ले जाने तथा लाने का कार्य करती[3] हैं।

5. मित्रः— मित्र क्षत्र एवं क्षत्रपति हैं[4]। वह सत्य भी हैं। सत्य तभी स्थित रह सकता है जवकि क्षत्र सक्रिय हो। तात्पर्य यह है कि सत्य तभी स्थित रह सकेगा जव क्षत्र की सत्ता सक्रिय रूप से हो। सत्य सुख के लिये अपरिहार्य है। सत्य मित्र का प्रमुख वैशिष्ट्य है। जीवों को उद्यमी बनाने के गुण वाला होने के कारण ही मित्र के लिये 'यातयति' विशेषण का प्रयोग किया गया है। मित्र का सूर्य के साथ भी प्रगाढ़ सम्बन्ध है[5]। पारसियों के देवता 'मिथ' वैदिक मित्र ही हैं। मित्र सूर्य के ही प्रतीक हैं। यही कारण है कि शतपथब्राह्मण के अनुसार जब अग्नि (वही अग्नि सूर्य मे भी है) घटती हुई शान्त होकर तिरछी जलती है तो वह मित्र हो जाती है[6]।

6: वरुण :—वरुण को भी क्षत्र कहा गया[7] है। वरुण एवं क्षत्र में परस्पर विशिष्ट सम्बन्ध तथा इस सम्वद्धता का स्तर मित्र एवं क्षत्र के पारस्परिक सम्बन्ध एवं स्तर से काफी भिन्न प्रकृति का है। ब्राह्मणों में वरुण को रात्रि वताया गया[8] है। वरुण का तादात्म्य अग्नि से भी स्थापित किया गया[9] है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने

---

1. 'ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रमिन्द्रः।' 'यदैन्द्रोग्नो भवति ब्रह्माक्षत्रे एवावसन्धे' तै० ब्रा० 3.9.1.6-34
2. अग्नि वा अन्वन्या देवता। इन्द्रमन्वन्याः। तै० ब्रा० 3.7.1.8
3. 'वैदिक गॉड्स'.........डा० रेले पृ० 34
4. 'मित्रः क्षत्रः क्षत्रपतिः तै० ब्रा० 2.5.7.4
5. ऋग्वेद 1,35
6. श० ब्रा० 2.3.2.12 'अथ यत्रैतत् प्रतितरामिव ...तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति तर्हि हैष (अग्निः) भवति मित्रः।'
7. क्षत्रस्य राजा वरुणेन अधिराज तै०ब्रा० 3.1.2.7-113
8. 'रात्रिर्वरुणः' ऐ०ब्रा० 4.10
9. 'यो वै वरुणः सोऽग्निः' श०ब्रा० 5.2.4.13 'योवाग्निः स वरुणस्तदप्यैतद् ऋषिणोक्तं त्वमग्ने वरुणो जायसे यदिति' ऐ०ब्रा० 6.26

भी जल में छिपी अपार ऊर्जा शक्ति का माहात्म्य स्वीकार किया है। शतपथ-ब्राह्मण का कथन है कि प्रज्ज्वलित अग्नि ही वरुण का रूप धारण कर लेती[1] है। यही भाव प्रकारान्तर से ऐतरेयब्राह्मण में व्यक्त करते हुए कहा गया[2] है कि अग्नि का भयावह स्पर्श ही वरुण का रूप है। ताण्ड्य महाब्राह्मण का अभिमत है कि क्षीण होता हुआ अर्धमास वरुण[3] है। शतपथब्राह्मण में पृथिवीलोक को मित्र एवं द्युलोक को वरुण कहा गया[4] है। वरुण क्षत्रपति हैं तथा अधिपतों के भी अधिप हैं। वह सम्राट् व समरपति हैं[5]। वह धर्माधिपति हैं[6] तथा अपने भक्तों को धर्मपति बना देते हैं। वरुण की प्रकृति सत्य[7] एवं ऋत दोनों से सम्पृक्त है जबकि अन्य देवों की प्रकृति मात्र सत्यमय होती है। वरुण का क्षेत्र अन्तरिक्ष के मध्य से लेकर उसके बाहर अर्थात् द्युलोक तक व्याप्त है। उनका क्षेत्र ऐसा है कि वायु तक बिना उनके इंगित के नहीं बहता। 'वरुण' नाम के साथ 'पाश'[8] अथवा रज्जु शब्द सम्पृक्त बताये जाते हैं। वरुण चूंकि जीवों को पाश से बाँधे रखते हैं, इसीलिए 'वरुण शब्द अति सार्थक[9] है।

वरुण पाश की ग्रन्थि[10] भी है। यज्ञों में बाँधने के लिए प्रयुक्त होने वाली रस्सी का सम्बन्ध वरुण से बतलाया गया है[11]। वरुण धर्म के पर्यवेक्षक हैं, अतएव इस नाते उनके ही आशीर्वाद से जीव जीवन के बन्धनों से मुक्त होने में समर्थ

---

1. 'अथ यत्रैतत् प्रदीप्ततरो भवति । तर्हि हैष (अग्निः) भवति वरूणः ।'
   श०ब्रा० 2.3.2.10
2. 'स यदग्निर्धीर संस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम् ।' ऐ०ब्रा० 3.4
3. 'यः (अर्धमासः) अपक्षीयते स वरुणः ।' ता०म०ब्रा० 25.10.10
4. 'अयं वै (पृथिवी) लोकोमित्रोऽसौ (द्युलोकः) वरूणः श०ब्रा० 12.9.2.12
5. वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः । तै०ब्रा० 2.5.7.3
6. वरुणः धर्मणांपतिः ।। तै०ब्रा० 3.4.1.4 वरुणोऽसि सत्यधर्मेत्याह
   तै०ब्रा० 1.7.10-34 वरुणो धर्मपती नाम् तै०ब्रा० 1.7.4.2
7. सत्यमेता देवता (सविता इन्द्र मित्र) सत्यावृत वरुण यद्वै किञ्च वातो नाभिवाति तत्सर्वं वरुणदैवत्बम् । तै०ब्रा० 3.2.4.5
8. वारुणो वै पाशः तै०ब्रा० 3.3.10.1
9. शब्द 'वरुण' वृ धातु से लपेटने घेरे में लेने के अर्थ में प्रयुक्त हैं। तै०ब्रा० 1.6.4.1
10. वारुणो वै ग्रन्थिः तै०ब्रा० 1.3.1.16
11. प्रतियुतो वरुणस्य पाश· प्रत्यस्तो वरुणस्य पाशः । तै०ब्रा० 2.6.6.4
    वरुण्या वै यज्ञे रज्जुः, एतमेव तत्प्रजया विविध्यात्मानं वरुणः पाशा—निवेषणाय—
    श०ब्रा० 1.5.9.8

होता है। वरुण का एक अन्य वैशिष्ट्य यह है कि वह काल अथवा संवत्सर का प्रतिनिधित्व करते[1] हैं जिससे वरुण समस्त विश्व को बाँधे रखते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वरुण की पूजा में एक विचित्र कर्मकाण्ड उल्लिखित है। अश्वमेध के अवभृथ में जुम्बक के लिए होम का विधान निर्धारित किया गया है। यह आहुति एक ऐसे व्यक्ति के गंजे सिर पर करणीय बतायी गयी है जो कि गौर वर्ण का हो तथा पसीने से आर्द्र व पीली आँखों वाला हो। इसमें यह भी कहा गया है कि वरुण जुम्बक [2]हैं। जुम्बक का रूप वरुण का रूप है।

कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि जब सूर्य जल में प्रवेश करता है तब वह वरुण का रूप धारण कर लेता है[3]। तैत्तिरीय ब्राह्मण जल को ही वरुण कहता है[4]। यज्ञ के पशुओं में वरुण के लिये मेष के अर्पित किये जाने का विधान वर्णित है[5]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वरुण प्रघास पर्व के कर्मकाण्ड से वरुण का सायुज्य व उसका लोक प्राप्त होता[6] है।

7. मित्रावरुणः— मित्र एवं वरुण को भी युगपत् वर्णित किया गया है। ये दोनों परस्पर प्राण एवं अपान की भाँति[7] हैं तथा इसी रूप में ये दोनों अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। इस देवयुगल में प्रत्येक की चारित्रिक विशेषता एक दूसरे के लिए पूरक के रूप में होती हैं। दोनों ही नियामक शक्ति क्षत्र की दिव्यता से सम्पन्न बताये गये हैं। मित्र को सत्य की सत्ता से सम्बद्ध किया गया है जबकि वरुण को क्षत्र की अद्‌भुत क्रियाशीलता से जोड़ा गया है। इन दोनों को रात्रि एवं दिन में सूर्य की पदवी भी प्रदान की गयी है। सामान्यतया[8] मित्र को दिन से

---

1. संवत्सरो वरुणः ।। श०ब्रा० 4.4.5.18
2. जुम्बकाय स्वाहैत्यवभृथ उत्तमाहुतिं जुहोति । वरुणो वै जुम्बकः । अन्तत एव वरुणमवजयते । खलतेर्विक्लिधस्य शुक्लस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्धंजुहोति । एतद्वै वरुणस्य रूपम् ।' तै०ब्रा० 3.9.15
3. कौ०ब्रा० 18.9 'स वा एषो (सूर्यः) अपः प्रविश्य वरुणो भवति ।'
4. तै०ब्रा०-1.6.5.6-'अप्सु' वै वरुणः,'
5. श० ब्रा० 2.5.2.16. 'एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषः ।
6. श०ब्रा० 2.6.4.8. यद्‌वरुणप्रघासैर्यजते वरुण एव तर्हि भवति वरुणस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयति ।'
7. प्राणापानौ मित्रावरुणौ । जै० ब्रा० 15.8.110.347, 96.105 प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः श० ब्रा० 8.4.2.6
8. तै० ब्रा० 2.5.10.10

तथा वरुण को रात्रि से सम्बद्ध किया गया है। जीवविज्ञान की दृष्टि से विचार करते हुए डा० रेले[1] के अनुसार मस्तिष्क के चारों तरफ का द्रव पदार्थ (सेरिब्रो स्पाइनल फ्लुइड) ही वरुण है तथा वह द्रव पदार्थ जो रीढ़ की हड्डी के चतुर्दिक व्याप्त है, मित्र है। सूर्य मित्र से विभिन्न संवेदन संकेत प्राप्त करता है।

8. पूषन् :—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट संकेत मिलता है पूषन् 'पुष्टि' अर्थात् पोषण के दैवी स्रोत का अधिष्ठात्री देवता है। इनका मुख्य कार्य जीवों का पोषण करना है। यास्क ने पूषन् को सूर्य की संज्ञा प्रदान[2] की है। मैक्डॉनल ने इसका समर्थन किया है। पृथिवी पूषा है। वह शक्ति एवं निर्भीकता का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। मानव को शारीरिक गतिविधियाँ पुष्टि अर्थात् पोषण के कारण सम्पन्न होती हैं। पूषन् को पथिकों का अधिपति बतलाया गया[3] है। ऋग्वेद का कथन है कि पूषा को सभी मार्गों की जानकारी है। अतः मार्गगत समस्त कठिनाइयों को दूर करने हेतु पूषन् की स्तुति की गयी है। पाप से मुक्ति के लिये पथभ्रष्ट मानवों द्वारा पूषन् की स्तुति की गयी[4] है। शरीर एवं इन्द्रियों का संचरण पुष्टि के कारण ही सम्भव है। इसी तथ्य की पुष्टि में पूषन् के बारे में 'पूषणो हस्ता-भ्याम्' का कथन मिलता है। ब्राह्मणों में कहा गया है पूषा हाथों के साथ मन्त्र का भाग बन जाता है, क्योंकि याग कर्मकाण्ड में जब मन्त्र का उच्चारण किया जाता है तो हाथ की क्रियाएँ भी तदनुरूप ही सम्पन्न की जाती हैं। इस क्रिया के पीछे 'पुष्टि' अर्थात् पूषा ही कारणभूत है। पूषा वस्तुतः भौतिक कार्यक्षेत्र में उतर जाते हैं। मस्तिष्क को तीव्र बनाने हेतु पूषा की प्रार्थना-पूजा की जाती है। पूषा प्राणियों के कल्याण-कृत्यों में लगे रहते हैं। उन्हें जीवों का जनक अथवा सृष्टि का कारण भी कहा गया है। पूषन् को विट्पति (विट् अर्थात् वैश्य) कहा[5] गया है। वैश्य समाज का भरण-पोषण करने वाला तत्त्व है। विट् 'विश' अथवा वैश्य ही पुष्टि करने एवं उसके वितरण का भी नियामक तत्त्व है। इसीलिये ऋग्वेद में पूषा को पशुओं का संरक्षक बतलाया गया है। पशुओं को रक्षा उन्हें गड्ढे में गिराने से बचाना तथा भटक जाने पर उन्हें यथास्थान पहुँचाना पूषा का ही कार्य है[6]। ब्राह्मणों में यत्र-तत्र पूषन् एवं आदित्य में तादात्म्य स्थापित किया

1. रेले–'वैदिक गाड्स' पृ० 122-125
2. यास्क–'निरुक्त' 7,9
3. श० ब्रा० 13.4.1.14 'पूषा वै पथीनामधिपतिः।'
4. अथर्ववेद 6.112.3, आ० गृ० सू० 7.9, शां श्रौ० सू० 3.4.9
5. तै० ब्रा० 2.5.7 4–'पूषा विशां विट्पतिः।'
6. ऋग्वेद 6.54.7.10

गया है। वास्तव में पूषन् आदित्य का पोषक रूप है। एक मन्त्र में पूषन् एवं सोम दोनों को युगपत् कार्य करने वालों के रूप में उल्लिखित किया गया है। चूंकि पूषन् के कतिपय गुण रुद्र एवं अग्नि में भी दृष्टिगोचर होते हैं, अतएव उन्हें पूषन् के नाम से भी अभिहित किया गया है। जैविक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की गयी व्याख्या के अनुसार पूषन् 'कर्म कौशल' का नाम है।

9. सोम :—ब्राह्मणों में सोम शब्द एक विशिष्ट लता तथा देवता चन्द्रमा दोनों ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सोम देवता के उक्त दोनों ही स्वरूपों, लताविशेष एवं चन्द्रमा में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिये सोम का आवास पृथिवी एवं अन्तरिक्ष दोनों ही लोकों में स्वीकार किया गया है। सोम का रंग 'रक्त' बतलाया गया है[1], क्योंकि सोमलता भी रक्त वर्ण की होती है[2]। ऐतरेय ब्राह्मण में सोम व सोमरस को मादक बतलाया गया है। इस मादकता को कम करने के लिये उसमें जल, दधि अथवा दुग्ध सम्मिश्रित करने का निदेश किया गया है[3]। यज्ञानुष्ठान में सोमरस को श्वेतवर्ण के घड़े में रखा जाता था[4]। दिन में तीन बार सोम का सवन किया जाता था—प्रातः सवन अग्नि मध्यान्ह सवन इन्द्र तथा सायं सवन ऋभुओं से सम्बद्ध था[5]। अन्य देवगण भी सोमपान करते थे[6]। ऋग्वेद में वर्णित सोम मादक था[7]। आयुर्वेद शास्त्र में सोमलता को कल्पलता की संज्ञा दी गयी है जिसके सेवन से मानव काया का कल्प सम्भाव्य है[8]। सोम को यज्ञ की आत्मा कहा गया है[9]। यज्ञ की विजयपताका सोम के कारण ही थी, इसीलिये सोम को यज्ञ की पताका कहा गया है[10]। शतपथब्राह्मण में सोम को सत्य, श्री एवं ज्योति का प्रतीक कहा गया है[11]। सोम देवों का परमअन्न है[12]।

1. ऋग्वेद 7.98.1, 9.40.2, 9.45.3
2. ऋग्वेद 10.94.3
3. ऐ० ब्रा० 2.3-4
4. ऋग्वेद–9.74.8 'कार्ष्यन् श्वेतं कलशम्।'
5. वैदिक कोश, डा० सूर्यकान्त पृ० 575
6. ऋग्वेद 1.110.7; 2.30.7; 5.34.3
7. ऋग्वेद 8.48
8. वैदिक कोश, डा० सूर्यकान्त पृ० 576
9. ऋग्वेद 9.2.10 आत्मायज्ञस्यं।'
10. ऋग्वेद 9.86.10 'यज्ञस्य केतुः।'
11. श० ब्रा० 5.1.2.10 'सत्यं श्रीर्ज्योतिर्सोमः।'
12. तै० ब्रा० 2.3.3.2 'एतदेवैदेवानां परमन्नं यत्सोमः।'

कौषीतकि ब्राह्मण (4.4) में सोम को चन्द्रमा कहा गया है—'असौ वै सोमो राजा विलक्षणश्चन्द्रमाः।' शतपथब्राह्मण (10.4.2.1) में सोमो राजा चन्द्रमा तथा (6.5.1.1) में 'चन्द्रमा उवै सोमः' कहा गया है।

सोम को रज एवं राजपति कहा गया है। वह समस्त वनस्पति जगत् एवं वृक्षों के अधिष्ठात्री देवता हैं। वह अपने भक्त को वनस्पतिजगत् का स्वामी वना देते हैं। वह समस्त मानवों का कल्याण करते रहते[1] हैं। सोम को प्राण[2] कहा गया है। सोम ऐसा हविष् है जिसे इन्द्र बहुत चाहते हैं[3]। प्रसिद्ध वेदवेत्ता ज़िमर के अनुसार सोम अर्थात् चन्द्र विराट् जीवनदाता सिद्धान्त[4] है। सोम दैवी भोजन है। सभी देवता सोम पर ही जीवनधारण करते हैं। सोम वनस्पतियों का सार-भूततत्त्व अर्थात् निचोड़ है। वह भोजन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। ब्राह्मणों में सोम तथा मन में सम्वन्ध स्थापित किया गया[5] है। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायेण सोम को 'रेतोधा' अर्थात् वीर्य धारण करने वाला कहा गया है। सोम वह ऊर्जा है जिससे वीर्य का स्तम्भन होता है। सोम वीर्य का प्रतिनिधायन करता है[6]। डा० रेले का अभिमत[7] है कि सोम 'नर्वस सिस्टम' है जो एक वृक्ष के आकार जैसा है। इस नर्वस सिस्टम में जिस प्रकार 'सेरिब्रो स्पाइनल' द्रव है उसी प्रकार सोम में सोमरस उपस्थित है।

10. रुद्र :—रुद्र समस्त भूत अर्थात् प्राणियों का विद्यमान अधिपति है। रुद्र समस्त जीवों की देखभाल व रक्षा करता है और अपने भक्त को जीवों का स्वामी बना देता[8] है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में प्रायः रुद्र का अग्नि से तादात्म्य स्थापित किया गया है[9]। शतपथब्राह्मण में भी अग्नि को रुद्र बतलाया गया[10] है। प्रथम

---

1. सोमो नृचक्षा पं० ब्रा० 1.5.19
2. प्राणो वै सोमो राजा ।। जै० ब्रा० 1.361
3. पं० ब्रा० 1.6.8 तै ब्रा० 2.7.7.6
4. ज़िमर–'हिन्दू मेडिसिन,' पृ० 102
5. यत्तन्मन एष स चन्द्रमाः ।। श० ब्रा० 10.2.5.7
6. सोमो वै रेतोधाः ।। तै० ब्रा० 1.7.2.3; 1.8.1.2; 3.7.3.7 रेतो वै सोमः अग्नौ रेतः सिंचति, श० ब्रा० 2.5.1.9 सोमो वै चन्द्रमाः तै० ब्रा० 1.4.10.7, श० ब्रा० 10.3.1.1, जै० ब्रा० 1.8.1.6
7. रेले –'वैदिक गाड्स' पृ० 117
8. रुद्रः पशूनां पते ।। तै० ब्रा० 3.11.4.2 रुद्रः पशूनां एवैनं सुवते ।। तै० ब्रा० 1.7.4.1
9. ऋग्वेद 2.1.6–'त्वमग्ने रुद्रो ।' अथर्ववेद 7.83 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये......'
10. श० ब्रा० 5·3·1·10 'अग्निर्वै रुद्रः ।'

उद्दीप्त होने पर जव अग्नि में धूम निकलता है तो उस अग्नि को रुद्र कहते हैं[1]।

शुक्ल यजुर्वेद में रुद्र को एक बलशाली तथा दक्ष योद्धा के रूप में वर्णित किया गया है। रुद्रपिनाकपाणि के रूप में उपन्यस्त है[2]। रुद्र को चर्मवस्त्रधारी बताया गया है[3]। रुद्र को स्वर्गलोक का रक्त वर्ण (अरुण) वराह कहा गया है[4]। अश्रद्धालुओं को वह अपने बाणों से विदीर्ण कर देते हैं, किन्तु अपने भक्तों पर वह असीम कृपा रखते हैं। इसी कारण उनका नाम 'शिव' भी है। ऋग्वेद में रुद्र को मरुतों का पिता बतलाया गया है[5]। ब्राह्मणों में रुद्र का माहात्म्य कुछ और ही वैशिष्ट्य लिए हुए है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि पुरुष के दस प्राण और ग्यारहवां आत्मा रुद्र है। यह देव जब हमें मरणशील शरीर से निकालते हैं तो रुलाते हैं, चूंकि रुलाते हैं, अतएव इनका नाम रुद्र है[6]। रुद्र अति भयंकर देव के रूप में अभिहित हैं[7]। रुद्र के गणों को शान्ति के लिए यज्ञों में पशु की आँतों की आहुति दी जाती है[8]। हिलेब्रां का अभिमत है कि रुद्र ग्रीष्म ऋतु के देवता हैं जिसका सम्बन्ध एक नक्षत्र विशेष से है।

शतपथब्राह्मण (1.6.1.8) में निश्चित रूप से कहा गया है कि अग्नि एवं रुद्र भिन्न-भिन्न नहीं हैं। रुद्र के नाम अग्नि के भी नाम होते हैं[9]। रुद्र अपने भक्तों की रक्षा सामान्य नियम के रूप में सदा करता रहता है[10]। रुद्र आर्ष भेषज हैं[11] तथा अश्विन उनके अनुगामी हैं। वस्तुतः रुद्र अग्नि का अदृश्य अंग है जो जीवधारियों के स्वास्थ्य की रक्षा करता है। ब्राह्मणों में रुद्र शब्द सर्वदा बहुवचन में

---

1. श० ब्रा० 2·3·2·9, 'अथ यत्रैतत्प्रथमं समिद्धोभवति धूम्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः।'
2. यजुर्वेद 16·51
3. यजुर्वेद 16·51—'कृत्तिं वसानः'।
4. ऋग्वेद 1·114.4
5. ऋग्वेद 1·114·6
6. श० ब्रा० 11·6·1·7 'कतमे रुद्राऽइति। दशेमे पुरुष प्राणाऽआत्मै—कादशस्ते यदाऽस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः इति।'
7. कौ० ब्रा० 16·7—'घोरो वै रुद्रः'।
8. शा० श्रौ० सूत्र 4·19·8
9. अग्निर्वै सदेवः तस्यैतानि नामानि। श० ब्रा० 1·6·1·8
10. पासि नु त्मना॥ तै० ब्रा० 3·11·2·3
11. उन्नो वीरां अर्पय भेषजोभिः भिषक्तमं त्वा भिषाजां श्रृणोमि॥ ऋक्संहिता 2·3.3·4
    तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनी॥ तै० ब्रा० 2·6·4·7

प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि रुद्र सदैव समूह में ही रहते हैं। इन्द्र रुद्रों के अगुआ[1] हैं। डॉ० रेले के मतानुसार रुद्र मानव शरीर में भावप्रवण क्रियाकलापों के स्रोत[2] हैं।

11. सविताः—सविता (सवितृ) देव की बड़ी उच्च पदवी बतायी गयी है। यह देवता जीवों को पापों से दूर कर उन्हें निष्पाप करता है। सविता प्रायः प्रातः एवं सायंकाल से सम्बध्द है। सविता प्रेरणा अथवा प्रवर्तन के अधिष्ठात्री देवता हैं। गोपथब्राह्मण में आदित्य को ही सविता कहा गया है। आदित्य एवं सविता (गोपथब्राह्मण 1.1.33)। यास्क के अनुसार सविता सूर्योदय के पूर्व तथा सूर्य उषाकाल के बाद के हैं[3]। प्रत्येक क्रिया इसी प्रेरणाशक्ति के स्फुरित होने पर सम्भव है। इस प्रकार सवितृ प्रत्येक जीवधारी की क्रिया के पीछे कारणभूत हैं। वह जीव को कोई भी कर्म करने के लिए उकसाते अथवा अभिप्रेरित करते हैं[4]। इस तथ्य के समर्थन में ही 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसव' मन्त्र अनेक बार दुहराया गया है। 'सव' अथवा 'प्रसव' सविता का अपना वैशिष्ट्य है। सविता को राष्ट्र एवं राष्ट्रपति भी कहा गया है[5]। ओल्डेनबर्ग के अनुसार[6] सविता एक सरल भावात्मक देव हैं जो सूर्य में ही समाहित कर लिया गया है। सविता आदित्य का ही एक अंग विशेष है। आदित्य ऊर्जा का सर्वश्रेष्ठ स्रोत है जिसके प्रभाव के कारण जीवधारी कार्य में तत्पर[7] होते हैं। डॉ० रेले के जीवविज्ञान पर आधृत व्याख्या के अनुसार अमूर्त रूप में सवितृ कर्म में प्रवृत्त करने वाली संवेग प्रेरणा है जो 'नर्वस सिस्टम' की झिल्ली के साथ-साथ गतिशील[8] रहती है।

12. त्वष्टा :—त्वष्टा दैवी निर्माता एवं सौन्दर्य प्रसाधक तथा 'शिल्पी' है। त्वष्टा को रूपकृत् तथा रूपपति कहा गया है[9]। त्वष्टा साक्षात् संरचना शक्ति हैं। ब्राह्मणों में कहा गया है कि क्षरित रेतस् (वीर्य) को वह सुव्यवस्थित करते हैं

1. इदमहं इन्द्र ज्येष्ठेभ्यः रुद्रेभ्यः ।। तै० ब्रा० 3.7.4.6-7
2. डा० रेले–'वेदिक गाड्स' पृ० 74
3. ऋग्वेद, 1.35.2–'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्' ।।
4. सवितृ प्रसूतमेवास्य कर्म भवति ।। तै० ब्रा० 3.2.5.3
5. सविता राष्ट्र राष्ट्रपतिः। तै० ब्रा० 2.5.7.4 देवस्य त्वा सवितुः प्रसव तै० ब्रा० 1.7.1.02
6. रेलिजन देस वेद–पृ० 63-64
7. तै० ब्रा० 2.8.1.3
8. डा० रेले–'वेदिक गॉड्स', पृ० 38
9. त्वष्टा पशूनाम् मिथुनानां रूपकृत् रूपपतिः ।। तै० ब्रा० 2.5.7.4, 3.7.3.6

तथा भ्रूण को आकृति प्रदान करते[1] हैं। त्वष्टा को समिधापति[2] कहा गया है। समिधा सम्भवत: हड्डियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि हड्डियों के ढाँचे का सुडौल निर्माण त्वष्टा का ही वैशिष्ट्य है। अग्नि, इन्द्र तथा बृहस्पिति के साथ त्वष्टा की भी गर्भ धारित कराने अथवा गर्भपात रोकने हेतु प्रार्थना की गयी है[3]।

13. अश्विन् :—अश्विन् देवयुगल हैं। शतपथब्राह्मण के कथनानुसार द्यौ: और पृथिवी ही अश्विन् देव हैं[4]। ऋग्वेद के अनुसार अश्विन प्राचीन होकर भी युवा देवगण[5] हैं। उन्हें युग्म रूप में ही सदा सम्बोधित किया गया है। ये दोनों देवताओं के वैद्य[6] राज हैं। ये दोनों रुद्र के अनुगामी[7] हैं। अश्विन् उन देवताओं में से हैं जिन्होंने इन्द्र का कायाकल्प किया था[8]। ऋग्वेद के अनुसार अश्विन् स्वयं प्रकाशमय, प्रकाश के अधिपति तथा हिरण्य को कान्ति वाले कमलमाला धारण किये रहते हैं। अश्विन् सोमरस के स्थान पर मधु का पान करते हैं। अश्विन् के पास मधु से परिपूर्ण कोष भी है। यह देवयुगल मधु के घड़ों को उड़ेल देते हैं। इनका रथ भी मधुवर्णवाला तथा मधुधारण करता है। यह रथ पक्षियों अथवा पक्षधारी घोड़ों द्वारा खींचा जाता है। अश्विन् इस रथ पर आरूढ़ होकर एक दिन में ही द्यवापृथिवी का भ्रमण कर लेते[9] हैं। अश्विन् देवयुग्म जीवधारियों को समस्त विपत्तियों से छुटकारा दिलाते हैं। ये अन्धे व्यक्ति को दर्शनशक्ति प्रदान करते हैं। इन्होंने वृद्ध च्यवन ऋषि को युवा बनाकर उनकी धर्मपत्नी के लिये उन्हें सुन्दर व आकर्षक बना दिया था। अत्रि देव को भी अश्विन् ने अन्धकार से मुक्त किया था। इनके अत्यन्त प्रसिद्ध कृत्यों में से समुद्र में डूबते हुए मृज्यु की रक्षा करना सर्वाधिक श्लाघनीय है। अश्विन् को प्राय: देवताओं का अध्वर्यु कहा

---

1. रेत एव हितं त्वष्टा रूपाणि विकरोति ।। तै० ब्रा० 1.8.1.2; त्वष्टा वै सिक्तं रेतो विकरोति' । श० ब्रा० 1.7.3.10
2. त्वष्टस्समिधां पते ।। तै० ब्रा० 3.11.4.1
3. गर्भस्रवन्तमगदमक: तै० ब्रा० 3.7.3.6
4. श० ब्रा० 4.1.5.16–इमे हवै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम् ।'
5. ऋग्वेद–7.62.5
6. अश्विनौ वै देवानांभिषजौ ।। तै० ब्रा० 1.7.3.5, ऐ० ब्रा० 4.18
7. तदश्विना भिषजा रुदवर्तनी ।। तै० ब्रा० 2.6.4.7
8. अश्विना यज्ञं सविता सरस्वती । इन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन् ।। तै० ब्रा० 2.6.4·1
9. आचार्य बलदेव उपाध्याय 'वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ०–472

गया है । ये दोनों बाहुद्वय का प्रतिनिधायन करते हैं (अश्विनोः बाहुभ्याम्)[1] । इस देवयुग्म के वर्णनों को देखने से यह धारणा बनती है कि अश्विन् वह ऊर्जा है जिनसे जीवन के अनेकविध क्रियाकलाप एक साथ सुगमता पूर्वक सम्पादित होते रहते हैं । ब्राह्मणग्रन्थ अश्विन् के तेज की प्रशस्ति करते हैं तथा उनका सम्बन्ध श्रोत्र (कानों) से स्थापित करते हैं[2] । जीववैज्ञानिक की दृष्टि से अश्विन् 'मेडुला एब्लांगेटा' की आन्तरिक सतह पर विभिन्न रेशों के ऊर्ध्वगमन का नाम हैं[3] ।

14. विष्णु :—ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित देवगण की सूची के लगभग अन्त में विष्णु का वर्णन है जबकि अग्नि उसमें सर्वप्रथम वर्णित[4] हैं । विष्णु एवं अग्नि का यह स्थान निर्धारण सापेक्षिक महत्त्व का नहीं, प्रत्युत उनके भौतिक स्थिति का द्योतक है । परम्परया विष्णु के दो अर्थ किये जाते हैं । विष्धातु से निष्पन्न 'विष्णु' शब्द क्रियाशील का अर्थ द्योतित करता है । वि पूर्वक 'स्नु' धातु से निष्पन्न होने पर इस शब्द का अर्थ 'पृथिवी आदि लोकों का अतिक्रमण करने वाला' होता है । ऋग्वेद में विष्णु द्वारा तीन पद न्यास में विश्व को माप देने का वर्णन किया गया है[5] । ब्राह्मणों में विष्णु को यज्ञ कहा गया[6] है । इससे यज्ञ में विष्णु के माहात्म्य का अनुमान लगाया जा सकता है । देवों द्वारा यज्ञ को तीन रूपों में विभक्त किया गया है (1) प्रातः सवन (2) माध्यन्दिन सवन तथा (3) सायं सवन[7] । जिस प्रकार सोम यज्ञ का अभिन्न अंग है उसी प्रकार विष्णु भी यज्ञ में अति महत्त्वपूर्ण है । इसीलिये विष्णु को सोम भी कहा गया है[8] । शतपथब्राह्मण में

---

1. अश्विनोर्बाहुभ्यामित्याह । अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू आस्ताम् ।। तै० ब्रा० 3.2.2.1, 3.2.9.1, ऐ० ब्रा० 4.18. अश्विनाऽऽध्वर्यवम् ।। तै० ब्रा० 2.6.10.5
2. 'श्रोत्रादाश्विनम् चक्षुषश्शुक्रा मन्थिनौ । आत्मन आग्रयणम् । अङ्गेभ्य उक्थ्यम् । आयुषो ध्रुवम् । प्रतिष्ठाया ऋतुपात्रे । यज्ञंवाव तं प्रजापतिः निरमिमीत । तै० ब्रा० 1.5.5.2
3. डा० रेले, 'वैदिक गाड्स, पृ० 43
4. अग्निरग्रे प्रथमो देवतानां संयातानामुत्तमो विष्णुरासीत् ।। तै० ब्रा० 2.4.3.3 अग्निः पुरस्तात् । विष्णुर्यज्ञःपश्चात् । तै० ब्रा० 3.3.7.6 अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः ।। ऐ० ब्रा० 1·1
5. ऋग्वेद 1.154.3
6. श० ब्रा० 5.2.3.6—'यो वै विष्णुः स यज्ञः ।' ऐ० ब्रा० 1.13—'विष्णर्वै यज्ञः' कौ० ब्रा० 16.8—'यज्ञो वै वैष्णुवारुणः ।' श० ब्रा० 14.1.1.6—'स यः स विष्णुर्यज्ञः ।'
7. श० ब्रा० 14.1.1.15. 'अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त । वसवः प्रातः सवनं रुद्रां माध्यन्दिनं सवनम् आदित्यास्तृयीयं सवनम् ।'
8. श० ब्रा० 3.3.4.21—यो वै विष्णुः सोमः सः ।'

विष्णु को वामन कहा गया है[1]। वामन का रूप ग्रहण संभवतः असुरों को चकमे में डालने के निमित्त ही किया गया प्रतीत होता है। विष्णु देवों के रक्षक हैं, इसीलिये इन्हें देवों के द्वारपाल के रूप में वर्णित किया गया[2] है। विष्णु पर्वत-वासी देवता हैं। वे पर्वतों के स्वामी भी कहे गये हैं[3]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अग्नि एवं विष्णु वैदिक देवों की सीमा रेखा निर्धारित करते हैं। विष्णु देवता ने क्रमिक रूप से एक सर्वातिशायी देवता के आकार के प्रारम्भिक रूपों को प्राप्त किया है। प्रायेण विष्णु को यज्ञ तथा यज्ञ को विष्णु कहा गया है[4]। कभी-कभी विष्णु को वामन के रूप में सभी दिशाओं तथा सम्पूर्ण आकाश के स्वामी के रूप में वर्णित किया गया है[5]। आपाततः यह विरोधात्मक बात लगती है कि वामन होते हुये भी यह देवता आकाश व समस्त दिशाओं को कैसे आक्रान्त कर सकता है, किन्तु वास्तविकता यही है कि जब विष्णु नियत रूप में रहते हैं, तो लघु आकार के होते हैं, किन्तु वह स्वभावतः तीन पद-क्रम में समस्त ब्रह्माण्ड को अभिभूत कर लेते हैं[6]। वेदि पर जो यज्ञ मात्र एक कर्मकाण्ड कृत्य के रूप में दिखाई देता है, वही विश्व स्तर पर व्यापक सामान्य क्रिया है। जीव विज्ञान की दृष्टि से मानव शरीर के सन्दर्भ में विष्णु मेरुदण्ड (रीढ़) की हड्डी हैं। उनके तीन पद-क्रम मानव शरीर में संवेदन-प्रेषण के तीन 'रिले स्टेशन' की भाँति हैं[7]।

15. आदित्य-सूर्य :—आदित्य प्रधानतः सूर्य देव हैं। सूर्य का तादात्म्य अनेक देवों से किया गया है। अध्यात्म क्षेत्र में वह आँख की भाँति है[8]। सूर्य अपने वर्चस् से विश्व की रक्षा करते हैं[9]। वह अज एवं एकपाद हैं[10]। सूर्य को ब्रह्मा कहा

---

1. श० ब्रा० 1.2.5.5 'वामनो ह विष्णुरास।', 13.2.2.9—'वैष्णवो वामनः (पशुः)'
2. ऐ० ब्रा० 1.30—'विष्णुर्वै देवानां द्वारपः'
3. तै० सं० 3.4.5.1
4. यज्ञो वै विष्णुः 1.8.1.2 आदि, श० ब्रा० 11.4.15.4. आदि पँ० ब्रा० 9.7.10
5. विष्णु आशानां पते ।। तै० ब्रा० 3.11.4.1
6. त्रेधा-विष्णु-उरु गायो विचक्रमे। महीं दिवं पृथिवीमन्तरिक्षम् ।। तै० ब्रा० 3.1.2.6
7. डॉ० रेले—'वैदिक गॉड्स' पृ० 67
8. तद् इद्मध्यातमम्। ·······य आदित्यःचक्षुरेव तत् ।। जै० ब्रा० 1.2.4.1 चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्। सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।। तै० ब्रा० 2.8.7.3-4
9. सूर्यस्य वर्चसेत्याह। वर्च एवास्मिन्दधाति ।। तै० ब्रा०1.7.8.4
10. तां सूर्यदेवमजमेकपादम् ।। तै० ब्रा० 3.1.2.8

गया है। सूर्य ही प्राणियों को कर्म में प्रवृत्त करते हैं[1]। सूर्य ही समस्त जीवों एवं पदार्थों का जीवन व आत्मा है। जहाँ-जहाँ सूर्य का अभिधान कराने वाला 'आदित्य' शब्द ब्राह्मणों में प्रयुक्त हुआ है वहाँ-वहाँ 'असौ सः-' 'यह सूर्य है' का प्रयोग मिलता है, क्योंकि 'आदित्य' शब्द ऐसे देवता का वोध कराता है जिसके अनेक[2] रूपों-पक्षों में से सूर्य भी एक रूप है। मैक्डॉनल के अनुसार सूर्य के एक ओर ही प्रकाश है। इस प्रकाशयुक्त भाग को सूर्य पृथिवी की ओर करके पूर्व से पश्चिम की तरफ संक्रमण करते हैं। जब सूर्य रात में लौटते हैं तो उनका वह प्रकाशयुक्त भाग तारों की तरफ रहता है और उस प्रकाश से ही तारामण्डल प्रकाशित होता रहता है। उस समय सूर्य का अन्धकारयुक्त भाग पृथिवी की तरफ होने के कारण पृथिवी पर अन्धकार छा जाता है[3]। हिलेब्रां का कथन है कि चन्द्रमा सूर्य की ज्योति से ही ज्योतित है[4]। कौषीतकि ब्राह्मण का कहना है कि नभोमण्डल में जो तपता है, वही सूर्य है[5]। आदित्य को सूर्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है[6]। ब्राह्मणों में इन्द्र को सूर्य का दूसरा रूप कहा गया है[7]। गोपथ ब्राह्मण पूषन् को सूर्य वतलाता है[8]। शतपथब्राह्मण में सूर्य की अभिन्नता वषट्कार से (श० ब्रा० 11.2.2.5) की गयी है। इसी ग्रन्थ में तपनेवाले सूर्य को स्वाहाकार भी कहा गया है[9]। सूर्य को पिता कहा गया है[10]। इन कथनों से यह निर्विवाद है कि सूर्य ही जीवों का पोषण करता है, इसीलिये सूर्य को 'गोपा' के नाम से पुकारा गया है[11]। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि यह सूर्य जो प्रकाश में बैठा है, वही अन्तरिक्ष में बैठने वाला वसु है। वही होता है, वही घर में बैठने वाला

---

1. असौ वा आदित्यो ब्रह्मा अहरहः पुरस्तात्जायत। श० ब्रा० 14.1.3.3
2. निरुक्त (12.2.3) में आदित्य के निम्नांकित 12 रूप वर्णित है :—सवितृ, भग, सूर्य पूषा, विष्णु, विश्वानर, वरुण, केशी, वृषाकपि, यम, अजएकपाद, एवं समुद्र।
3. मैक्डॉनल—'वेदिक माइथॉलोजी (स्ट्रासवर्ग 1897) पृ० 10
4. हिलेब्रां ए०—'रिचुअल लितरेचर वेदिशे आफर उन्द जॉबेर ग्रण्ड्रिस III,2. स्ट्रासवर्ग 1897
5. कौ० ब्रा० 5,8 असौ वै सूसो योऽसौ तपति।' असौ वै सविता योऽसौ तपति—कौ० ब्रा०-7.6
6. श० ब्रा० 9.4.2.23–असौ वा आदित्यः सूर्यः।'
7. श० ब्रा० 2.3.4.12 'एष इन्द्रो य एष तपति।'
8. गो० ब्रा० 2.1.20 'असौ वा पूषा योऽसौ तपति।'
9. श० ब्रा० 14.1.3.26 'एष वै स्वाहाकारो य एष तपति।'
10. श० ब्रा० 14.1.4.5 'एष वै पिता य एष तपति।'
11. श० ब्रा० 14.1.4.9 'एष वै गोपाः य एष तपत्येष ह्येदं सर्वं गोपायति।'

अतिथि है, वही मानवों में बैठने वाला है, वही ऋत में आसीन होने वाला है तथा वही आकाश में आसीन है[1] ।

आदित्यों के अग्रिणी देवता वरुण है[2] । डॉ रेले के कथनानुसार सात आदित्यगण मानव शरीर में सिर, धड़, अंगो, आँखों, नथुनों कानों तथा जिह्वा के संचालन हेतु मष्तिष्क में स्थित सात संवेदन केन्द्र हैं[3] ।

16. बृहस्पति :—बृहस्पति देवताओं के पुरोहित हैं[4] । बृहस्पति तथा ब्रह्म एक हैं तथा वह ब्रह्मपति एवं ब्राह्मणस्पति हैं[5] । वह अपने भक्तों को विद्वान् (वाक्पति)[6] बना देता है । ब्रह्म को 'पर्ण' अथवा पलाश[7] कहा गया है । यह गुण ब्रह्म को समझने हेतु बताया गया है ।

बृहस्पति को देवों में प्रथमोत्पन्न माना गया है[8] । यहाँ यह पुनः उल्लेखनीय है कि वैदिक वाङ्मय में देवों की मानवीकरण प्रक्रिया में उनके शरीरधारियों की भाँति जन्म लेने के आख्यान भरे पड़े हैं । यहाँ बृहस्पति ध्वनि का प्रतिनिधायन करते दिखाई देते हैं, क्योंकि ध्वनि ही सर्वप्रथम स्फुट होकर प्रत्यक्ष हुई । डा० रेले की धारणा है कि बृहस्पति ने ही वाणी को मुखरित किया है[9] । ज़िमर का अभिमत है कि बृहस्पति नाम से ही आभ्यन्तर आत्मशक्ति (बृह,ब्रह्मन्) के पति हैं जो दिव्य तत्त्व से जुड़कर विलक्षण जादू कर देते हैं[10] ।

प्रकारान्तर से भी इस शब्द का अर्थ विचारणीय है । 'बृह वर्धने' धातु से

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण 4.20 'एष वै वसु अन्तरिक्षसद् एष वै होता वेदिषत् ....एष वै व्योमसद्.......... ।'
2. वरुण ज्येष्ठेभ्यः...... ॥ तै० ब्रा० 3.7.4.7
3. डा० रेले–'वैदिक गॉड्स'; पृ० 109
4. त्रया देवा एकादश । त्रयस्त्रिंशास्सुराधसः बृहस्पतिपुरोहिताः ॥ तै० ब्रा० 2.6.5.7
5. ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः ॥ तै० ब्रा० 3.7.4.2; बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः । तै० ब्रा० 2.5.7.4 बृहस्पतिना ब्रह्मणा पञ्चमे । तै० ब्रा० 1.8.1 बृहस्पते ब्रह्मणस्पते तै० ब्रा० 3.11.4.2
6. बृहस्पतिर्वाचाम् एवैनसुवते तै०ब्रा० 1.7.4.1
7. 'ब्रह्म वै पर्णः ॥' तै० ब्रा० 2.8.2.7
8. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः ॥ तै० ब्रा० 2.8.2.7
9. डा० रेले–'वैदिक गॉड्स' पृ० 110
10. ज़िमर 'हिन्दू मेडिसिन' पृ० 29

यह शब्द निष्पन्न हुआ है। 'बृह्' शब्द का षष्ठी एक वचन रूप 'बृहस्पति' है जिसका अर्थ है मन्त्र अथवा प्रार्थना का अधिपति। कतिपय सूक्तों में इन्द्र के साथ इस देवता का नामोल्लेख है। इसी कारण इन्द्र की कतिपय विशेषताओं यथा मघवन्, वज्री से इन्हें संयुक्त बतलाया गया है। गान करने वाले गणों से घिरे रहकर यह देवता वल नामक असुर को अपने गर्जन से विदीर्ण कर गायों को बाहर निकाल देते हैं। बृहस्पति अन्धकार का निवारण कर प्रकाश का सञ्चार करते हैं। बृहस्पति को अग्नि का प्रतीक माना गया है। अग्नि की ही भाँति यज्ञ में बृहस्पति को भी पुरोहित बतलाया गया है। बृहस्पति की अर्चना-वन्दना गण-पति के रूप में की गयी है। ऋग्वेद में बृहस्पति से सुमति, दानस्तुति के स्वीकृति एवं शत्रुओं के धनहरण हेतु प्रार्थना की गयी है[1]।

17. उषा :—'उषा' शब्द का अर्थ दीप्तिसम्पन्न है—'वस् दीप्तौ' धातु से इसकी निष्पत्ति हुई है। ऋग्वेद में उषा एक युवती के रूप में परिकल्पित है। उषा अपने प्रेमी सूर्य के पास सजधज कर जाती है। उषा के आगमन पर समस्त प्राणी क्रियाशील हो जाते हैं[2]। उषा प्राचीन होकर नित्य उत्पन्न होती है। उषा को गायों की माता कहा गया है क्योंकि उनके आगमन पर गायें चरने के लिये चली जाती हैं। सूर्य उषा का अनुगमन ठीक उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार एक वर अपनी वधू का करता है। उषा सूर्य-पत्नी है। प्रकृति के शाश्वत नियमों का पालन करने के कारण उषा को ऋतावरी (ऋत की अनुगामिनी) कहा गया है[3]। उषा को अमरत्व का केतु भी कहा गया है। उषा प्रकाशपुंज का आवर्तन इस प्रकार करती[4] है जैसे कोई चक्र को घुमाता है। उषा का सम्बन्ध अग्नि से बताया गया है। प्रातः सवन उषःकाल में ही होता है। इसे द्युलोक की पुत्री भी कहा गया है। वस्तुतः उषा सूर्य की ही जीवनदायिनी कला है।

18. वायु :—ब्राह्मणों में वायु की गति अंकित की गयी[5] है। देवों में वायु ही ऐसे हैं जो आदित्य तक पहुँच सकते हैं[6]। वायु वृष्टि कराते हैं[7]। आध्यात्मिक

---

1. ऋग्वेद 4.50.11
2. ऋग्वेद 7.7.7.1
3. वही 1.92.12, 1.124.2
4. वही 3.61.3
5. वायुर्वैदेवानामाशुस्सारसारितमः तै० ब्रा० 3.8.7.1
6. पं० ब्रा० 4.6.7
7. वायुर्वै वृष्ट्यै प्रदापयिता ॥ तै० ब्रा० 1.7.1.1

पक्ष में अर्थ करने पर वायु प्राणतत्त्व[1] है। वायु अर्थात् जो बह रहा है पवित्र[2] है। वायु को यज्ञ भी अभिहित किया गया है[3]। अन्य शब्दों में श्वास प्रश्वास की सनातन क्रिया ही यज्ञ है। विभिन्न दिशाओं में वायु को भिन्न भिन्न नाम प्रदान किये गये हैं। पूर्व दिशा में वायु को प्राण, दक्षिण दिशा में मातरिश्वा, पश्चिम दिशा में पवमान तथा उत्तर दिशा में सविता कहते हैं[4]।

19. मरुद्गण :—मरुद्गण देवों का एक वर्ग है—'सप्त हि मारुतो गणः' (श० ब्रा० 2.5.1.13)। वे गणों के अधिपति (गणानांपतयः) बताये गये हैं[5]। सात-सात देवताओं के ये तीन वर्ग हैं[6]। ये सात देवता रश्मियाँ (प्रकाश किरणें) हैं[7]। इससे मरुद्गणों एवं रुद्रों के चरित्रगत वैशिष्ट्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रुद्रों को मरुद्गण का पिता कहा गया है। मास (महीने) रश्मियों का प्रति-निधायन करते हैं और रश्मियाँ मरुद्गण हैं। मरुद्गण आदित्य को धारण किये रहते हैं। डॉ० रेले ने मरुद्गण को मानव शरीर के सन्दर्भ में मस्तिष्क की संकेतवाहिनी नाड़ियाँ बतलाया है[8]।

20. पर्जन्य :—पर्जन्य वर्षा सम्बन्धी देवता है। जल वृष्टि कर अन्न के उत्पादन हेतु पर्जन्य की पूजा की जाती है। यह स्तुति काव्यात्मक शैली में उपनिबद्ध है। पर्जन्य का उद्बोधन रेतस् (वीर्य) विकीर्ण कर वनस्पतियों एवं पौधों में गर्भ

---

1. स यो वायुः प्राण एव सः ॥ जै० ब्रा० 12.49
2. पवित्रं वै वायुः तै० ब्रा० 3.2.5.11
3. वायुर्वै यज्ञो योऽयं पवते ॥ श० ब्रा० 1.2.11.1
4. प्राण एव भूत्वा पुरस्ताद्वाति। तस्मात्पुरस्ताद्वान्तम्। सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्दन्ति। प्राणो हि प्रियः प्रजानाम्। प्राण इव प्रियः प्रजानां भवति। य एवं वेद। स वा एष प्राण एव। अथ यद्दक्षिणतो वाति। मातरिश्वैव भूत्वा दक्षिणतो वाति। तस्माद्दक्षिणतो वान्तं विद्यात्। सर्वा दिश आवाति। सर्वा दिशोऽनु विवाति। सर्वा दिशोऽनु संवातीति। स वा एष मातरि-श्वैव। अथ यत्पश्चाद्वाति। पवमान एव भूत्वा पश्चाद्वाति। पूतमस्मा आहरन्ति। पूतमुपहरन्ति। पूतमश्नाति। य एवं वेद। स वा एष पवमान एव। अथ यदुत्तरतो वाति तै० ब्रा० 2.3.9.3
5. मरुतो गणानां पतयः ॥ तै० ब्रा० 3.11.4.2
6. त्रिसप्तासो मरुतः तै० ब्रा० 2.5.2.3 भट्टभास्कर ऋतश्च सत्यश्च इत्यादिनोक्तर उत्तर-भाविनस्त्रयोगणाः तत्रैकस्मिन् गणत्रये तिस्त्रः सप्तसंख्या विद्यन्ते त्रिस्तास इत्युच्यन्ते।
7. जै० ब्रा० 11.37
8. डॉ० रेले—'वेदिक गाड्स, पृ० 56

धारण कराने हेतु किया गया है[1] । पर्जन्य वस्तुतः जल की वृष्टि कराने की प्राकृतिक शक्ति का नाम है । जीव विज्ञान की दृष्टि से पर्जन्य शरीर की नैसर्गिक क्रियाशक्ति (reflexaition) का अभिधान है[2] ।

21. पितर :—पितर शब्द को सदैव बहुवचन में प्रयुक्त किया गया है । सामान्यतया 'पितर' शब्द से जन्मदाता पिता का अर्थ लिया जाता है । कभी-कभी पितर शब्द का अर्थ 'रक्षकों' के रूप में भी किया जाता है[3] ।

पितर 'यम' अर्थात् न्याय अथवा विधि सम्बन्धी मामलों के नियंत्रण के क्षेत्राधीन बताये गये हैं[4] । पितरों को प्रायः 'मास' महीने या ऋतु अथवा ऋतुएँ भी कहा गया है । वे पौधों वनस्पतियों को प्रस्फुटित व अंकुरित करते हैं[5] । देवों एवं पितरों को काल की इकाई के रूप में परिकल्पित किया गया है । उन्हें ऋतुओं में वर्गीकृत किया गया है[6] । इस प्रकार जब पितरों को देवों की ही भाँति काल की इकाई के ही रूप में माना गया है और इन इकाईयों को व्यावहारिक दृष्यमाण रूप ऋतुएँ हैं, अतएव समस्त पौधों-वनस्पतियों को पितर विभिन्न ऋतुओं के रूप में प्रकट होकर उगाते हैं[7] । यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रजापति को संवत्सर कहा गया है तथा प्रजापति[8] समस्त पितरों में प्रथम हैं । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पितर अवान्तर सृष्टि के स्रोत हैं जबकि प्रजापति विश्व प्रपञ्च के मूलभूत कारण एवं प्रभवस्थल हैं । सूर्य की किरणों तथा पितरों में भी परस्पर

---

1. रेतो दधात्वोषधीषु गर्भम्—यो गर्भमोषधीनाम् गवां कृणोत्यर्वताम् । पर्जन्यः पुरुषीणाम् तै० ब्रा० 2.4.5 5-6
2. डॉ० रेले 'वैदिक गॉड्स' पृ० 58
3. 'देवा पितरः पितरो देवाः' ।। तै० ब्रा० 3.7.5.4 यहाँ सायण, एवं भट्टभास्कर ने प्रथम पितर शब्द का अर्थ 'पातारो पितरः'—पालक अथवा 'पातारः प्रजानाम्' प्रजाओं—सन्ततियों का रक्षक बताया है ।
4. पितरो यमराज्ये ।। तै० ब्रा० 2.6.3.4
5. मासा वै पितरो बर्हिषदः मासानेव प्रीणाति । यस्मिन् वा ऋतौ पुरुषः प्रमीयते । तै० ब्रा० 1.6.8.2; 1.6.9.5
6. अर्धमासा वै पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्योमन्थम् । अर्धमासा वै पितरोऽग्निष्वात्ताः ।। तै० ब्रा० 1.6.8.3
7. वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । ते देवांऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य ऽ एवापूर्यते ऽर्द्धमासः स देवा यो ऽपक्षीयते स पितरः ।। श० ब्रा० 2.1.3.1
8. ऋतवः पितरः प्रजापतिं पितरं पितृयज्ञे नाजायन्त ।। तै० ब्रा० 1.4.10.8

सम्बन्ध स्थापित किया गया है[1]। पितर मनस् (मन) की तरह भी बतलाये गये हैं। पितर सुप्तावस्था में रहते हैं जबकि मनुष्य जागृतावस्था में रहते हैं[2]। ब्राह्मणों में आये इन वर्णनों से पितरों की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः पितर मन की अचेतनावस्था है जिसमें चिर अतीत एवं प्राक्तन जन्मों के भी संस्कार सञ्चित-संजोये हुए रहते हैं। मिट्टी के बर्तनों का उपयोग करना पितरों की विशेषता प्रतीत होती है। ब्राह्मणग्रन्थों में यह चेतावनी दी गयी है कि दूध के पात्र को मिट्टी के ढक्कन से ढकना चाहिए जिससे कि पितरों के उपयोगार्थ दूध पवित्र बना रह सके[3]।

देवों को आहुति के रूप में देय वस्तुओं से युक्त पात्रों के मुँह को लोहे अथवा लकड़ी के ढक्कन से ढँके रखना चाहिए। देवों को लोहे अथवा लकड़ी के पात्र स्वीकार्य हैं जबकि पितरों को मृत्तिका के पात्र प्रिय होते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि देवों को आहुति के रूप में देय सामग्री को हविष् की संज्ञा दी गयी है तथा अग्नि में डाली जाने वाली आहुति के ठीक बाद 'स्वाहा' अथवा 'वषट्' की ध्वनि उच्चारित की जाती है। जो वस्तुएँ पितरों को उत्सर्ग की जाती हैं उन्हें 'कव्यम्' की संज्ञा प्रदान की गयी है तथा आहुति डालने के पूर्व 'स्वधा' का उच्चारण किया जाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अध्ययन से प्रतीत होता है कि 'स्वधा' मात्र नमस्कारात्मक सम्बोधन से कहीं कुछ और अधिक वस्तु है 'पितृभ्यः स्वधा विभ्यः स्वधा नमः 2.0.8। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'स्वधा' मात्र सम्बोधन नहीं है, बल्कि यह कोई तत्त्व, शक्ति अथवा कोई गुण है। ऐसी स्थिति में 'कव्यम्' की आहुति का भी तात्पर्य, आभ्यन्तर शक्ति अथवा 'अन्तर्निविष्ट 'ऊर्जा' ही है[4]।

---

1. तै० ब्रा० 3.6.1.1
2. मन इव हि पितरः। पं० ब्रा० 6.9.1.9, 20 मनुष्या वै जागरितम्। पितरः सुप्तम्॥ श० ब्रा० 12.4.4.1, मन इव हि प्रजापतिः।........पूर्ण इव हि प्रजापतिः। तै० ब्रा० 2.2.1.2
3. नमृन्मयेनापिदध्यात्। यन्मृन्मयेनापिदध्यात्। पितृदेवत्यं स्यात्। अयस्पात्रेण वा दारुपात्रेण वा ऽपिदधाति। तद्धि सदेवम्। तै० ब्रा० 3.2.3.11-12
4 स्वधाकारो हि पितृणाम्॥ तै० ब्रा० 1.6.9.5, 2.6.3.2 'The self sustenance of the sun, the manifestation of dawn or storms etc., are sometimes referred to as an innate power termed Svadha' हिस्ट्री आव् फिलासफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, I, पृ० 47

जैमिनि ब्राह्मण में 'स्वधा' को ऐसी स्वर्णमयी नौका बतलाया गया है जिस पर बैठकर पितर पितृलोक को प्रयाण करते हैं[1]।

21. आप :—ब्राह्मण साहित्य में आपः अर्थात् जल को शान्ति का स्रोत[2] बतलाया गया है। जल पवित्र करने का सामर्थ्य रखता है। जल में राक्षसों को नष्ट करने की क्षमता होती है[3]। वस्तुतः ये राक्षस मानव-मन के बुरे विचार ही हैं। जल यज्ञानुष्ठान में समस्त दोषों को परिमार्जित कर देता है[4]। किसी भी कर्मकाण्ड या धर्मानुष्ठान का शुभारम्भ अथवा समापन जल द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। यष्टा किसी भी यज्ञ कर्मकाण्ड के सम्पादन हेतु तभी दीक्षित कहलाता है जब वह पवित्र जल से स्नान कर लेता है। इसी प्रकार यज्ञानुष्ठान की समाप्ति कर दीक्षित यजमान द्वारा पुनः जलस्नान कर लेने पर ही कर्मकाण्ड विधिवत् सम्पन्न माना जाता है[5]।

ब्राह्मण ग्रन्थों की यह धारणा है कि जल में देवताओं का वास रहता[6] है। सभी देवतागण जलमय होते हैं। इस प्रकार न केवल समस्त देवगण बल्कि समस्त विश्व जल के माध्यम से ही शक्तिमान् बना रहता है[7]। जल समस्त विश्व को व्याप्त किये हुए रहता[8] है। यही कारण है कि 'आपः' का तादात्म्य यज्ञ से किया

---

1. ए० के० कुमारस्वामी–'अ न्यू अप्रोच टु वेदज़, पृ० 57
2. अद्भिः शान्तिः ।। तै० ब्रा० 1.7.6.3 ह्यापः ।। तै० ब्रा० 1·7.6.3
3. आपोवै पवित्रम् ।। जै० ब्रा० 1.1.2.1 आपो वै रक्षोघ्नीः ।। तै० ब्रा० 3.2.4.2; 3.2.9.1-4 वज्रो वा आपः ।। तै० ब्रा० 3.2.4.2, श० ब्रा० 11.1.1.7 आपो वै दर्भाः ।। तै० ब्रा० 3.3.2.1
4. यद्वै यज्ञस्यारिष्टं यदशान्तं आपो वै तस्य सर्वस्य शान्तिः ।। श० ब्रा० 11.4.1.55
5. शुक्रा दीक्षायै तपसो विमोचनीः। आपो विमोक्त्रीः मयि तेज इन्द्रियम् ।। तै० ब्रा० 3·7.1.4.1-2
6. आपो वै सर्वा देवताः ।। तै० ब्रा० 3.2.4.3; 3.7.3.4 आदि; श० ब्रा० 10.4.2.14 आपो वै देवानां प्रियं धाम ।। तै० ब्रा० 3.2.4.2
7. येन ब्रह्म येन क्षत्रम्। येनेन्द्राग्नी प्रजापतिस्सोमो वरुणो येन राजा। विश्वेदेवा ऋषयो येन प्राणाः। अद्भ्यो लोका दधिरे तेज इन्द्रियम् ।। तै० ब्रा० 3.7.14.2
8. दिक्षु वा आपः ।। तै० ब्रा० 3.8.2.1 आपो भूत्वा सर्वं आप्नोत् ।। 1.3.1.4. अप्सु वै वरुणः ।। तै० ब्रा० 1.6.5.6

गया[1] है। जल का देवतत्त्व से वही सम्बन्ध है जो मन का मानव-शरीर से है[2]। जल को जीवनदायिनी शक्ति माना गया है[3]। जल ही अन्न की उत्पत्ति में सहायक है। अन्न स्वयं में जल ही है[4]।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति (स्थूल रूप ग्रहण) के पूर्व 'आपः' महत् जल था। जलों का यह महत् स्वरूप उनके ऐश्वर्य का द्योतक[5] है। एस० पी० पण्डित ने कहा है—'The waters represent the Universal creative energies out of which the worlds get fashioned[6]

जल तत्त्व को दो दृष्टियों से समझा जा सकता है। (1) शाश्वत एवं अनादि विकिरण क्रिया तथा (2) जल के स्थूल द्रवात्मक भौतिक रूप की दृष्टि से। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आदि घटक जल से ही उद्भूत हुआ है तथा जल से ही यह धारित है। विश्व को जीवन प्रदान करने एवं उसे सत्ता में बनाये रखने में जल अपरिहार्य तत्त्व है। 'बाइबिल' में जल को हो आदि रचना के रूप में कल्पित किया गया है।

22. अदिति :—ब्राह्मण ग्रन्थों में अदिति का नाममात्र का ही उल्लेख मिलता है। अधिकांश स्थलों में अदिति को भूमि के रूप में ही स्मरण किया गया है[7]। अदिति

---

1. यज्ञो वा आपः ।। मानव शरीर में जल का महत्त्व अप्रतिम है। इसमें 70 प्रतिशत अंश जलीय अंश होता है जिसमें एक तिहाई जल तो रक्त एवं अन्य द्रवों के रूप में तथा शेष दो तिहाई जलीयांश रक्त कोशिकाओं (सेल) की दीवारों के अन्दर भरा हुआ है। मानव शरीर की विकास प्रक्रिया में यह बड़ी विलक्षण बात है कि मानव रक्त की रासायनिक संरचना समुद्र जल की रासायनिक संरचना से काफी मिलती-जुलती है। मानव रक्त में भी वे सभी तत्त्व विभिन्न अनुपातों में तैरते रहते हैं जो समुद्र जल में विद्यमान हैं।
2. मनो वै मनुष्यधुरः। आपो देवधुरः ।। जै० ब्रा० 1.270
3. आपो हि रेतः। पं० ब्रा० 8.79
4. अन्नं वा आपः। अद्भ्यो वा अन्नं जायते ।। तै०ब्रा० 3.8.2.1
5. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तै० ब्रा० 1.1.3.5 आपो वा इदमग्रे महत् सलिलमासीत्। तदपां ऐश्वर्यंमासीत्। जै० ब्रा० 1.2.3.7
6. एस० पी० पण्डित—'अदिति एण्ड अदर डेटीज़', पृ० 52
7. इयं वै पृथिवी अदितिः ।। श० ब्रा० 13.1.15-16 इयंवा अदितिः ।। तै० ब्रा० 1.6.10.5 जै० ब्रा० इयं वै देव्यदितिः विश्वरुपा ।। तै० ब्रा० 1.7.3.3; 1.7.6.7

विश्व की जननी है। अदिति को विशिष्ट रूप से देवों की जननी माना गया है[1]। किसी भी बृहत् यज्ञानुष्ठान के पूर्व अदिति की पूजा में एक कर्मकाण्ड विशेष सम्पादित कराया जाता है। आदित्य ग्रह की प्रशस्ति से सम्बन्धित एक मन्त्र में अदिति, अतिथि तथा अग्नि को एक धरातल पर रखकर अनुशंसित किया गया है। दैवी शक्तियों के निम्नांकित तीन युग्मों का वर्णन उल्लेखनीय है :—

अदिति एवं यज्ञिय, अतिथि एवं मनुष्य तथा अग्नि एवं देवगण[2]।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि याज्ञिकों द्वारा अदिति की प्रतिष्ठा सपर्या ही सर्वोपरि है। यह समान्य धारणा रही है कि अदिति दिति से अलग-थलग उसकी परिपन्थी है तथा ये दोनों दो पृथक् शक्तियाँ है। 'अदिति' शब्द 'अद्' धातु से भक्षण अर्थ में निष्पन्न है। भक्षण के व्यापक अर्थ में अपने घेरे में समेटना अर्थ भी सम्मिलित है। 'दिति' शब्द 'दि' धातु से तोड़ने के अर्थ में निष्पन्न हुआ है[3]। अदिति को जब दिति का परिपन्थी माना जाता है तो अविच्छिन्न पूर्ण शक्ति का द्योतक होता है।

23. पृथिवी :—पृथिवी अथवा भूमि हमारी माता है, वह मही 'बड़ी' है[4]। यह समस्त विश्व का भरण करती है[5]। वह अदिति है। भूमि का अग्नि-वैश्वानर से तादात्म्य स्थापित किया गया[6] है, क्योंकि दोनों ही वस्तु को पकाकर फल में परिणमित करने की क्षमता रखते हैं।

---

1. मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ ॥ तै० ब्रा० 2.7.7.5. अदितिरिव सुपुत्रा ॥ तै० ब्रा० 3.7.5.10. विश्व आदित्या अदिते सजोषाः। अस्मभ्यं शर्म बहुलं वियन्त ॥ तै० ब्रा० 2.8.6.5. एवा न देव्यदितिः अनर्वा। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा ॥ तै० ब्रा० 3.1.1.5
2. विश्वेषां अदितिः यज्ञियानाम्। विश्वेषां अतिथिः मानुषाणाम्। अग्निर्देवानां अव आवृणानः। सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ॥ तै० ब्रा० 2.7.12.5
3. श्री अरविन्द–'आन् द वेद' पृ० 151, द्रष्टव्य पण्डित–अदिति एण्ड अदर डेटीज' पृ० 4. डा० वी० एम० आप्टे 'इजदिति इन ऋग्वेद अ मियर रिफलेक्स आव् आदिति, एस०बी० वी० ए०, 1948, पृ 14.
4. पृथिवीं मातरम् महीम्।
5. विश्वं विभर्ति पृथिवी ॥ पं० ब्रा० 2.4.68 द्यौः पिता पृथिवी माता ॥ तै० ब्रा० 3.7.5.45; 2.7.1.6.3 2.8.6.5 आदि। द्यौः एवं पृथिवी ब्राह्मणों में सदैव एक साथ अभिहित हैं। ये दोनों मिलकर ही वास्तव में 'पितरौ' हैं।
6. इयं वा अग्निः वैश्वानरः ॥ तै० ब्रा० 3.8.6.2

पृथिवी को सभी देवताओं की पत्नी कहा गया है[1]।

24. इडा, भारती, सरस्वती :—ये तीनों स्त्री देवता सप्तम प्रयाज एवं अनुयाज आहुतियों की अधिष्ठात्री देवता हैं। इन तीनों का एक वर्ग है। भारती आदित्य से, सरस्वती रुद्र से तथा इडा वसु अथवा अग्नि से सम्बद्ध रहती हैं[2]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह स्पष्ट अभिधान है[3] कि ये तीनों किसी भी कृत्य की अनिवार्य तत्त्व के रूप में हुआ करती हैं[4]। वस्तुतः ये तीनों देवता किसी कृत्य के कायिक, वाचिक, एवं मानसिक स्तरों का प्रतिनिधित्त्व करती हैं। इससे अग्नि, रुद्र एवं आदित्य के चरित्रों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

25. सरस्वती :—उपर्युक्त तीनों देवताओं में से सरस्वती की बड़ी कीर्ति गाथा गायी गयी है। रुद्रों के अनुयायी अश्विन् सरस्वती को उसके कार्यों में सहायता पहुँचाते हैं। सरस्वती चिकित्सा उपचार के क्षेत्र में भी प्रसिद्ध है। सरस्वती उन देवी शक्तियों में से एक है जिन्होंने इन्द्र को पुनरुज्जीवित किया था[5]।

सरस्वती शरीर-सौष्ठव प्रदान करने वाली देवी के रूप में भी चर्चित आराधित है[6]। वह पुष्टि व पुष्टिपत्नी भी है जो कि पोषण की देवता[7] है। अश्विन् की सहायता से सरस्वती गर्भस्थ भ्रूण की रक्षा करती रहती है[8]। सरस्वती के

---

1. सेयं (पृथिवी) देवनां पत्नी ॥ श० ब्रा० 13.15.16. देवाः सर्पाः । तेषामियं राज्ञी ॥ तै० ब्रा० 2.2.6.2 इयं वै सर्पतो राज्ञी । तै० ब्रा० 1.4.6.6 इयं वै देवरथः ॥ पं० ब्रा० 6.9.3; 7.7.1.4
2. देवीः तिस्त्रः तिस्त्रो देवीः । इडा सरस्वती भारती । द्यां भारत्यादित्यैः अस्पृक्षत् सरस्वतीम् इमे रुद्रैर्यज्ञमावीत् । इहैवेडया वसुमत्या सधमादम् । तै० ब्रा० 3.6.13.7
3. तै० ब्रा० 2.6.7.4
4. तिस्त्रो देवीः । त्रयस्त्रिधातवोऽपसः । इडा सरस्वती भारती । महीन्द्रपत्नीः हविष्मतीः ॥ तै० ब्रा० 2.6.6.45
5. अश्विना यज्ञं सविता सरस्वती । इन्द्रस्य रूपं वरुणो मिषज्यन् । तदस्य रूपममृतं शचीभिः । तिस्त्रो दधुः देवताः सरराणाः तै० ब्रा० 2.6.4.1 अश्विनेडा न भारती । वाचा सरस्वती । मह्य इन्द्राय दधुरिन्द्रियम् । तै० ब्रा० 2.6.11.7
6. सरस्वतीमनता पेशलं वसु नासत्याभ्यां वयति दर्शतंवपुः ॥ तै० ब्रा० 2.6.4.2
7. सरस्वती पुष्टिः पुष्टिपत्नी ॥ तै० ब्रा० 2.5.7.4
8. सरस्वती योन्यां गर्भमन्तः । अश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति ॥ तै० ब्रा० 2.6.4.6

वीर्य की बड़ी प्रशस्ति की गयी है। वह साक्षात्‌वाक्‌ (वाणी) है[1]। ए० बी० पुराणी के मतानुसार सरस्वती उच्चस्तरीय मस्तिष्क की वह शक्ति है जो मानव में इन्द्रिय के रूप में सन्निहित है[2]।

26. श्रद्धा :—ब्राह्मणों की मान्यता है कि श्रद्धा के कारण ही देव देव बनता है। श्रद्धा अर्थात्‌ आस्था देवत्व के मूल में होती है। श्रद्धा विश्व की नींव है। श्रद्धा देवी 'ऋत' की प्रथम प्रसूति कही गयी है। श्रद्धा सम्पूर्ण संसार की भर्त्री है। वह विश्व की नियन्त्रिका एवं रक्षिका है। काम (इच्छा) श्रद्धा की सन्तति है, श्रद्धा अमृत उत्पन्न करती है[3]।

27. तप :—ब्राह्मणों के अध्ययन से विदित होता है कि तप द्वारा ही देवों ने देवत्व प्राप्त किया था। तप वस्तुतः विश्व-व्यापिनी सर्जनात्मिका शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टि को अपने में आवृत किये हुए रहती है[4]। तप वह वन्दनीय शक्ति है जो प्रथम उत्पन्न हुई थी। साक्षात्‌ स्वयंभू को परम तप कहा गया है। तप विश्व का पुत्र, पिता तथा माता है[5]।

28. विश्वेदेव (देवसमूह) :—विश्वेदेव अथवा समस्त देवगण को विश्व के रक्षकों के रूप में अनुस्मृत किया गया है[6]। विश्वेदेव को किरणों के रूप में अभिहित

1. सारस्वतं वीर्यम्‌। 2.6.1.5 वाग्वै सरस्वती ॥ तै० ब्रा० 1.8.5.5 3.8.11.2; पं० ब्रा० 6.77.16.5.16, श० ब्रा० 2.5.4.6 ऐ० ब्रा० 1.3.3.7 वाचा सरस्वती ॥ तै० ब्रा० 2.6.11.7
2. ए० बी० पुराणी—'Saraswati must be a power of the Higher Mind, Faculty, a potential Power of the human being; 'इस्टडीज इन वेदिक इन्टरप्रिटेशन' पृ० 112
3. श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते। श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी। सा नो जुषाणोपयज्ञमागात्‌। कामवत्साऽमृतं दुहाना। श्रद्धा देवी प्रथमा ऋतस्य। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा। तां श्रद्धां हविषा यजामहे। सा नो लोकममृतं दधातु। इशाना देवी भुवनस्याधिपत्नी तै० ब्रा० 3.12.3.2
4. एफ०इजर्टन—बिगिनिंग्ज आव्‌ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० 75
5. तपसा देवा देवामग्र आयन्‌। तपसर्षयः स्वरन्विन्दन्‌। तपसा सपत्नान्प्रणु दामारातीः। येनेदं विश्वंपरिभूतं यदस्ति। प्रथमजं देवं हविषा विधेम। स्वयम्भु ब्रह्म परमं तपो यत्‌। स एव पुत्रस्स पिता स माता। तपो ह यक्षं प्रथमं सम्बभूव ॥ तै० ब्रा० 3.12.3.1
6. विश्वेदेवा भुवनस्य गोपाः ॥ तै० ब्रा० 3.10.6.1

किया गया है । इन्द्र तथा प्रजापति उनके प्रकाश हैं[1] । विश्वेदेवों की बौद्धिक शक्ति श्लाघनीय है[2] ।

इन देवों के सम्बन्ध में 'गन्धर्व' शब्द का उपयोग भी ब्राह्मणों में मिलता है[3] । कभी-कभी विश्वेदेवों को सर्प भी कहकर पुकारा गया है[4] ।

उपर्युक्तदेवों के अतिरिक्त सत्य, धाता, प्रयाज एवं अनुयाज (प्रत्येक के वर्ग में ग्यारह दैवी शक्तियाँ) एवं अन्य देवों की भी चर्चा ब्राह्मणों में की गयी है ।

29. देवासुर प्रकरण :—ब्राह्मणों में देवासुर वृत्तान्त वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इन ग्रन्थों में प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर देवों एवं असुरों के संघर्षों एवं उनकी झड़पों का उल्लेख मिलता है । वास्तव में देवासुर संग्राम एवं संघर्षों के ये वर्णन भावी पुराण-साहित्य के लिये आकर एवं उपजीव्य स्रोत के रूप में रहे हैं । बाद में, इन वर्णनों को यथोचित विषय-विस्तार के साथ पुराणों में उपन्यस्त किया गया ।

ब्राह्मणों में 'देव' शब्द प्रकाश (ज्ञान) के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । 'असुर' शब्द 'रा'[5] धातु से निष्पन्न होकर 'असु' (जीवन) से बना जिसका अर्थ है 'शक्तिसम्पन्न'[6] । ब्राह्मणों की धारणा है कि असुर प्रजापति के जघन भाग से उत्पन्न हुए थे जिससे यही ध्वनित होता है कि असुर वासनात्मक तुच्छ क्रिया-

---

1. एते वै विश्वेदेवाः । रश्मयोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स इन्द्रो वा ।। श० ब्रा० 2·2·3.7
2. विश्वेषां देवानां क्रतुना ।। तै० ब्रा० 2·5.7.1
3· त्रयोगन्धर्वाः तेषामेषा भक्तिः अग्ने पृथिवी वायो अन्तरीक्षम् असौ ।
4. देवा वै सर्पाः । तेषामियं राज्ञी तै० ब्रा० 2·2·6.2; इयं वै सर्पतो राज्ञी ।। तै० ब्रा० 1·4.6.6
5. तेन असुरान् असृजत । तदसुराणामसुरत्वम् ।। तै० ब्रा० 2·3.8.2 स जघनादसुरानसृजत । तेभ्यो मृन्मये पात्रे ऽन्नमदुहत् । याऽस्य सा तनूरासीत् । तामपाहत । सा तमिस्त्राऽभवत् । सो ऽ कामयत प्रजायेयेति । स तपो ऽतप्यत । सोऽन्तर्वानभवत् । स प्रजननादेव प्रजा असृजत । तस्मादिमा भूयिष्ठाः । प्रजननाद्धयेना असृजत । ताभ्यो दारुमये पात्रे पयोऽदुहत् । याऽस्य सा तनूरासीत् । तामपाहत । सा जोत्स्नाऽभवत् । सोऽकामयत प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । सो ऽन्तर्वानभवत् । स उपपक्षाभ्यामेवर्तूनसृजत् । तेभ्यो रजते पात्रे घृतमदुहत् । याऽस्य सा तनुरासीत् । तामपाहत । सो ऽहोरात्रयोस्सन्धिरभवत् । सोऽकमायत प्रजाये-येति । स तयोऽतप्यत । सोऽन्तर्वानिभवत् । स मुखाद्देवान सृजत । तेभ्यो हरिते पात्रे सोम-मदुहत् । याऽस्य सा तनूरासीत् । तामपाहत । तदहर भवत् । तै० ब्रा० 2.2.9.5-8
6. अहर्वै देवा अश्रियन्त रात्री असुरा। ऐ० ब्रा० 1.6.5 । असुषु प्राणेषु इन्द्रियेषु एव रमन्त इति असुराः ।

कलापों में लिप्त रहते हैं। दैनन्दिन के जागतिक व्यवहार में असुर रात्रि के अन्धकार से सम्बद्ध बताये गये हैं। ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर देवों की बौद्धिक क्षमता तथा असुरों की भौतिक शक्तिमत्ता का विशिष्ट उल्लेख मिलता है।

देवों एवं असुरों दोनों को ही समान पिता प्रजापति की सन्तानों के रूप अभिहित किया गया है[1]। ये ऐसे दिव्य, पुरातन बन्धुगण हैं जो सदैव आपस में स्पर्धारत व संघर्षरत रहते हैं। वे परस्पर विजय की कामना से एक दूसरे के विरुद्ध संघर्षों में उलझते रहते हैं। अन्ततोगत्वा इन संघर्षों में देवगण सफल हो जाते हैं तथा असुरों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

शारीरिक शक्ति में देवों की अपेक्षा असुर अधिक शक्तिशाली[2] होते हैं। अपनी कायिक शक्ति संवर्धन में वे सदैव व्यस्त रहते हैं जिसके फलस्वरूप उनका बौद्धिक पक्ष गौण हो जाता है। इसका स्पष्ट परिणाम यह है कि असुरों में वह बौद्धिक क्षमता व तीक्ष्णता नहीं होती जो देवों में निसर्गतः विद्यमान हुआ करती है। असुरों की वाणी को उत्पन्न करने वाले अंग इतने कठोर एवं अपरिमार्जित होते हैं कि वे स्फुटतया बोल भी नहीं सकते। पंच ब्राह्मण में कहा गया है कि वे जीव जो देवों से सम्बद्ध होते हैं स्वस्थ व मधुर स्वभाव वाले होते[3] हैं जबकि असुरों से सम्बद्ध या आसुरी वृत्ति के लोग मदान्ध तथा तामसी प्रकृति के होते हैं[4]। इससे यह तथ्य निर्विवाद है कि देवों एवं असुरों की चरित्रगत प्रमुख विशेषताएँ उस वातावरण एवं जीव को गंभीर रूप से प्रभावित करती रहती हैं जिनके सान्निध्य में वे आती हैं। पृथिवी का अधिकांश भाग असुरों के आधिपत्य व कब्जे में होना बतलाया गया है जबकि मात्र उतना अंश जितना कि बैठा हुआ मनुष्य देख सकता है देवों के अधीन होना कहा गया है[5]। भूमण्डल के समस्त भौतिक

---

1. देवासुराः संयत्ता आसन् ॥ तै० ब्रा० 1.1.6.1; 1.3.1.1 आदि। उभये वा एते प्रजापते अध्यसृज्यन्त ॥ तै० ब्रा० 1.4.1.1 उभये प्राजापत्याः ॥ श० ब्रा० 1.2.4.8; 1.2.5.1 आदि।
2. ते असुराः भूयांसः बलीयांसः आसन्। देवाः कनीयांसः। पं० ब्रा० 18.1.2; जै० ब्रा० 11.98
3. उपजिज्ञास्यां स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेत्। असुर्या हैषावाक् श० ब्रा० 3.1.5.24; पं० ब्रा० 8.6; 8.10
4. स्वादिष्ठा वै देवेषु पशव आसन्। मदिष्ठा असुरेषु ॥ पं० ब्रा० 3.46
5. असुराणां वा इयमग्र आसीत्। यावदासीनः परा पश्यति। तावद्देवानाम्। तै० ब्रा० 3.2.9.6 जै० ब्रा० 1.20.9.10

पदार्थ असुरों के आधिपत्य में उनके भोग्य के रूप में बतलाये गये हैं। देवों के अधिकार क्षेत्र में केवल 'वाक्' (वाणी) बतलाया गया है[1]। इसीलिये प्रिय वाणी देवत्व की परिचायिका होती है तथा कठोर व छलयुक्त वाणी राक्षसी प्रवृत्ति की द्योतिका बतायी गयी है। एक अन्य सन्दर्भ में उल्टे यह कहा गया है कि यज्ञानुष्ठान देवों के अंश में चला जाता है तथा असुर 'वाक्' के अधिपति हैं[2]। स्पष्ट है कि असुरों की अन्धी भौतिक शक्ति देवों के बौद्धिक उत्कर्ष[3] के समक्ष कभी टिक नहीं सकती जिसके फलस्वरूप यह बुद्धि-बाहुल्य देवों को असुरों के साथ होने वाले संघर्ष में सदा विजयी बना देता है।

देवों के पुरोहित व अग्रणी-बृहस्पति हैं, असुरों के अधिपति उशनस् काव्य हैं। बृहस्पति मेधा अर्थात् बुद्धि का नियमन करते हैं। 'उशनस् काव्य' शब्द का अर्थ है 'काल्पनिक वासना या इच्छा।'

धातु 'वस्' का अर्थ है इच्छा[4] तथा 'काव्य' शब्द का अर्थ है 'काल्पनिक'। अतएव 'उशनस् काव्य' का अर्थ काल्पनिक इच्छा हुआ।

देव एवं असुर दोनों ही प्रजापति की सन्तानें होते हुए भी विरोधी स्वभाव के थे। ऋग्वेद के अनुसार आधे असुर थे आधे देव[5]। दोनों के जन्मस्थल भिन्न थे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देव प्रजापति के मुख से तथा असुर उनके अवाङ् प्राणों से उत्पन्न हुए थे[6]। इस वर्णन से असुरों के जन्ममूल में उनके स्तर की सापेक्षिक निम्नता इंगित करता है जिसके कारण असुरों की निम्न गति थी। उत्पन्न होने पर देव एवं असुर दोनों ही सत्य एवं अमृत दोनों का समान रूप से आश्रय लेते थे, किन्तु विकासक्रम में आगे चलकर देवों ने मात्र सत्य का आश्रय लिया और असुरों ने अमृत को अपना स्वभाव बना लिया[7]। ऋतानृत के इस पारस्परिक

---

1. तेषुअसुरेषु इदं सर्वमासीत्। अथैकएकाक्षरं देवेष्वासीत् वागेव। जै० ब्रा० 1107
2. यज्ञमेव तद्देवा उपायन वाचं असुरा ।। श० ब्रा० 3.2.12.3
3. असुरा वा एषु लोकेषु अवासन्। तान् देवा........। पं० ब्रा० 8.9.2; 9.2.11, ऐ० ब्रा० 2.2.11
4. पं० ब्रा० (7.5.1.9) में 'औशन' शब्द की व्युत्पत्ति इसी प्रकार की गयी है–वायुर्वा उशन तस्यैतत् औशनम्। कैलेण्ड ने 'उशन' का अर्थ 'इच्छा ही किया है।
5. 'नेमे देवा नेमे असुरा :'–ऋग्वेद, 1.147.5
6. श० ब्रा० 11.1.6.7; 8 निरुक्त 3.2.1 में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है–सोदवानसृजत तत् सुराणां सुरत्वं असोरसुरानसृजत्........।
7. श० ब्रा० 9.5.1.13

बँटवारे के कारण ही देवों तथा असुरों के व्यक्तित्वों में मूलभूत भिन्नता आ गयी। उनका आपसी विरोध सहज स्वभाव बन गया।

असुर :—असुर देवों के प्रतिद्वन्द्वी थे। ये स्वभाव से एक स्थान पर टिकते नहीं। देवों ने इन्हें स्थानच्युत कर दिया है। निरुक्तकार द्वारा की गयी 'असुर', शब्द की परिभाषा से यह भाव पुष्ट होता है[1]। देवों की अपेक्षा असुरों में दूरदर्शिता नहीं थी। उनकी आँखों के सामने अन्धकार रहता था। प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में असुरों का सम्बन्ध अन्धकार से प्रदर्शित है[2]। असुर आक्रान्ता थे जबकि देव अपनी रक्षा के लिए उनसे युद्ध करते थे[3]। असुर स्वार्थी स्वभाव के थे। वे मायावी थे। अपने शरीर को स्वेच्छापूर्वक स्थूल अथवा सूक्ष्म बना लेते थे। उनकी मायावी गुह्यशक्ति का उल्लेख मिलता है[4]। असुरों का राजा असितधान्व था। माया असुरों का वेद था[5]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने देवों एवं असुरों में दायभाग का बँटवारा किया जिसमें असुरों को अन्धकार एवं माया दिया था[6]।

माया की विरासत प्राप्त करने के फलस्वरूप असुर पृथिवीलोक में लोहे के, अन्तरिक्ष में रजत के तथा द्युलोक में स्वर्ण के नगर बनाते थे। देवों को अपने पिता प्रजापति से मन, यज्ञ तथा स्वर्ग मिले थे जबकि असुरों को वाणी तथा पृथिवी लोक मिले[7]। यहाँ वाणी का तात्पर्य छलमयी परुष वाणी से है जैसा कि पहले भी निवेदन किया जा चुका है। अपनी इस छलमयी वाणी तथा मायावी प्रकृति के बल पर असुरों ने देवरूप मानवों में प्रवेश पा लिया था। देवों की देखादेखी ये असुर यज्ञानुष्ठान भी करने लगे थे। असुरों के होता एवं पुरोहितों का भी संकेत मिलता है। शतपथब्राह्मण में असुरों का होता परावसु था और किरात आकुलि उनके पुरोहित थे[8]।

मेधावी होने के कारण देव बुद्धिबल से प्रेरित होते हैं तथा असुर भौतिक-

---

1. असुरा असुरताः। स्थानेष्वस्ताः स्तानेभ्य इति वा निरुक्त, 3.2.1
2. हॉपकिन्स, 'रेलिजन्स आव् इण्डिया' पृ० 187
3. श० ब्रा० 2.4.2.15
4. बर्गेन, 'ला रेलिजन वैदिके' भाग 3 पृ० 81 पूना, 1969
5. श० ब्रा० 13.4.3.11—'तानुपदिशति माया वेदं सोयमिति'।
6. 'तेभ्यः तमश्च मायाञ्च प्रददौ।' श० ब्रा० 2.4.2 5
7. श० ब्रा० 3.4.4.3
8. श० ब्रा० 1.1.4.14 तथा 1.5.1.23

वादी भावना से प्रभावित होते हैं। असुरों का एकमात्र पुरुषार्थ कामोपलब्धि है तथा देवों का प्रमुख पुरुषार्थ धर्मार्जन है। देवों के अधिपति बृहस्पति तथा असुरों के अग्रणी उशनस् दोनों[1] ही विद्यार्जन में प्रवीण बताये गये हैं। भारतीय दर्शन के कतिपय विद्वान्[2] बृहस्पति को चार्वाक दर्शन के प्रतिष्ठाता-प्रवर्त्तक के रूप में मानते हैं, किन्तु इस विचारधारा का कोई ठोस आधार नहीं है। ये दोनों ही अधिपति अपने-अपने वर्ग को विजयी व अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु निरन्तर प्रयासरत बतलाये गये हैं। दोनों ही अधिपतियों के मार्ग, जीवनशैली एवं स्वभाव नितान्त भिन्न हैं। विभिन्न संघर्षों एवं साहसिक क्रियाकलापों में उशनस् असुरों को नेतृत्व प्रदान करते हैं किन्तु उक्त प्रयोजनों हेतु बृहस्पति देवों का अधिनायकत्व नहीं करते हैं। वास्तव में रुद्र, वरुण तथा इन्द्र के रूप में अग्नि इस प्रकार के अभियानों में देवों का अधिनायकत्व करते हैं[3]। एक अन्य प्रकरण में कहा गया है कि अपनी सर्वव्यापक शक्ति के आधार पर इन्द्राग्नी देवों को नेतृत्व प्रदान करते हैं तथा असुरों को पराभूत कर देते हैं[4]।

देवों तथा असुरों का पारस्परिक युद्ध कोई शाश्वत प्रकृति का युद्ध नहीं कहा गया है। इनके संघर्ष में परस्पर स्पर्धा, होड़ की भावना उन्हें विभिन्न सामरिक अभियानों में प्रवत्त करती है। वे कभी मात्र युद्ध करने की नीयत से संघर्ष नहीं करते। देवों तथा असुरों के मध्य स्पर्धा एवं होड़ का आधार यज्ञ-प्रक्रिया रही है[5]। जो कृत्य देवगण करते हैं उन्हें ही असुर भी सम्पादित

---

1. बृहस्पतिः देवानां पुरोहित आसीत्। उशना काव्यो असुराणाम्। ...... ब्राह्मणौ इमौ रूपम्। जै० ब्रा० 1,125,126 पं० ब्रा० (7.5 20)
2. उदाहरणार्थ डॉ० दक्षिण रञ्जन शास्त्री का ग्रन्थ 'अ शार्ट हिस्ट्री आव् इण्डियन मैटिरियलिज्म' आदि है।
3. देवासुराः संयत्ता आसन्। ते देवा अग्निमब्रुवन्। त्वया वीरेण असुरानभि भवामेति।...... स त्रेधात्मानं व्यकुरुत। अग्निं तृतीयम्। रुद्रं तृतीयम्। वरुणं तृतीयम्। सोऽब्रवीत्। क इदं तुरीयमिति। अहमितीन्द्रोऽब्रवीत्। संतु सृजावहा इति तौ समसृजेताम्। स इन्द्रस्तुरीय भभवत् तदिन्द्रतुरीयस्येन्द्र तुरीयत्वम्।........ततो वै देवा व्यजयजन्त।। तै० ब्रा० 1.7.1. 2-3 अग्निना वै होत्रा। देवा असुरानभ्यभवन्।। तै० ब्रा० 3.3.7.1
4. असुरा वै देवान् पर्यवतन्त तत एवाग्नी रूरौ ष्विञ्वौ स्तोभाव पश्यताम् ताभ्यामेवैनान् प्रत्यौषत्।। पं० ब्रा० 7.5.11
5. देवा वै यद्यज्ञेऽकुर्वत। तदसुरा अकुर्वत। तै० ब्रा० 1.5.6.1, ऐ० ब्रा० 9.31 उत्तरावतीं वै देवा आहुतिमजुहवुः। अवाचीमसुराः। ततो देवा अभवन्। परा ऽसुराः, तै० ब्रा० 2.1.4.1

करते[1] हैं। किन्तु असुरों का कृत्य-सम्पादन देवों की कार्यपद्धति के नितान्त विपरीतहोता है, क्योंकि वे देवगण के ठीक उल्टा कार्य करते हैं। देवगण कृत्य-सम्पादन में नवीन तकनीक व शैली ढूंढ़ निकालते हैं जिसे अपनाने में असुर असमर्थ हो जाते हैं। इसका प्रतिफल यह होता है कि अन्त में असुर परास्त हो जाते[2] हैं। शतपथ ब्राह्मण में इसका विशद वर्णन उपलब्ध है।

ब्राह्मणों के अनुसार देवों एवं असुरों का संघर्ष सांसारिक पदार्थों को लेकर भी हुआ करता है। देव धीमन्त होते हैं, अतएव शान्त बैठ जाया करते हैं, किन्तु असुर संसार पर अपना प्रभुत्व जमाने हेतु भारी आघात पहुँचाते रहते हैं। इस सम्बन्ध में एक रोचक घटना वर्णित की गयी है। शतपथ ब्राह्मण के वर्णन के अनुसार एक बार असुरों ने आपस में पृथिवी का बँटवारा करने का निर्णय लिया। किस प्रकार देवों ने वामन (त्रिविक्रम विष्णु) को आगे प्रस्तुत कर सम्पूर्ण पृथिवी को आक्रान्त कर लिया था, रोचक ढंग से वर्णित है। एक अन्य प्रकरण में यह कहा गया है कि बँटवारे के विन्दु पर देवों की भूमि सम्बन्धी प्रार्थना पर असुरों को यह स्वतन्त्रता थी कि वे जितनी चाहें भूमि ले लें, किन्तु असुर प्रभुतामद से इतने उन्मत्त थे कि वे अपना विचार तक प्रस्तुत नहीं कर सके। जिसके कारण उन्हें नीचा देखना पड़ा। युद्धक्षेत्र में युद्ध करते-करते बेहोश होकर गिरे हुए भटों को प्रत्यग्र चेतना प्रदान करने में असुर अत्यन्त दक्ष बताये गये हैं। देवों को जैसे ही यह जानकारी प्राप्त होती है कि उनके सहयोगी देवगण युद्धक्षेत्र में गिर कर संज्ञाशून्य हो गये हैं तैसे ही वे तप करना आरम्भ कर देते हैं। तपश्चर्या के परिणामस्वरूप उनके अरिष्टों का शमन हो जाता है। तब स्थिति बिलकुल परिवर्तित हो जाती है[3] तथा जो भी देवगणानुयायी रणस्थल में चेतनाशून्य होकर गिरे थे सभी संज्ञावान् होकर उठ खड़े होते हैं।

---

1. तै० ब्रा० 3.9.11.2 देवाश्चवा असुराश्च अस्पर्धन्त ॥ पं० ब्रा० 12.5.23, 12.13.27, देवा सुरायज्ञे अस्पर्धन्त ॥ जै० ब्रा० 11.53

2. असुराणां वा इयमग्र आसीत्। यावदासीनः परा पश्यति तावद्देवानान्ते देवा अब्रुवन् अस्त्वेव नोऽस्यामपीति। क्यन्नो दास्यथेति। यावत्स्वयं परिगृहृणीथेति। ते वसवस्त्वेति दक्षिणतः पर्यगृहणन्। रुद्रास्त्वेति पश्चात्। अदित्यास्त्वेयुत्तरतः। तें ऽग्निं प्राञ्चोऽजयन्। वसुभिर्दक्षिणा रुद्रैः प्रत्यञ्चः। तै० ब्रा० 3.2.9.6-7

3. यं देवानां अघ्नत्। न स समयवत्। यदुसराणां सं सो भवत। ते देवाः तप्येऽयन्त। य एतदरिष्टम् अपश्यन्। ततो यं देवानां अघ्नत्। पं० ब्रा० 12.5.23; ते ह स्म यदुदेवा असुरान् जयति। ततो ह स्मै वै तान् पुनः उपोत्तिष्ठन्ति॥ श० ब्रा० 1.2.4.8

तमसावृत, अभेद्य तथा पत्थर की चट्टानों से ढके हुए दरवाजे वाली दुर्गम गुफा के अन्दर देवों की गायों तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को अपने कब्जे में कर असुरगण छिपाये रखते हैं। इस गुफा को देवगण भेद नहीं सके। साम की सहायता के बृहस्पति उन गायों को असुरों के चंगुल से मुक्त कराते हैं[1]। देवताओं से बदला लेने तथा उन्हें पराजित करने के लिये असुरों ने परोक्ष मार्ग अपनाया। उन्होंने मनुष्यों तथा पशुओं दोनों की ही खाद्य-सामग्री को विषाक्त करना आरंभ कर दिया। देवों को जैसे ही इस कुकृत्यात्मक रहस्य की जानकारी मिलती है तैसे ही देवताओं ने इसका प्रतिकार ढूँढ़ निकाला और भोजन सामग्री को विष-मुक्त कर दिया जिससे कि जीवधारी सुखपूर्वक जीवनयापन कर सकें। यह वृत्तान्त शतपथ ब्राह्मण में सविस्तर वर्णित है।

देवों एवं असुरों के अर्थ के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डा० आर० जी० भण्डारकर असुर को 'अस्सुर' से सम्बद्ध वतलाते हैं। उनका कथन है कि असुर 'असीरियन' रहे होंगे[2]। किन्तु ब्राह्मणग्रन्थ इस दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करते। यह बारम्बार कहा जा चुका है कि देव तथा असुर दोनों एक समान पिता प्रजापति की सन्तानें हैं। असुरों को सपत्न तथा देवों को भ्रातृव्य की संज्ञा दी गयी है[3]। प्रोफेसर बेल्वल्कर एवं प्रोफेसर रानाडे का अभिमत है कि असुर संभवतः प्राचीन कर्मकाण्ड प्रधान परम्परा तथा शास्त्र-ज्ञान से सम्पन्न थे, जबकि देवगण स्पष्टतया इस सामान्य परम्परा-स्रोत से थोड़ा हटकर थे तथा जो अपने लिये एक नितान्त नवीन क्षेत्र अथवा साम्राज्य निर्मित करना चाहते थे। असुर वास्तव में सच्चे रूप में मानव थे जिसके फलस्वरूप देवासुर संग्राम मात्र काल्प-निक कथा नहीं थी। इसकी पुष्टि अन्य तथ्यों के साथ छान्दोग्योपनिषद् के उस विशिष्ट वाक्य द्वारा होती है जो इन्द्र-विरोचन कथा (छान्दोग्योपनिषद् 8.8.5) के प्रसंग में आया है[4]।

ब्राह्मण साहित्य के सुभाषित कथनों से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि

---

1. असुराणां वै वलः तमसा प्रावृतोऽश्मापिधानश्चासीत्। तस्मिन् गव्यं वस्तु अन्तरासीत्। ते देवा नाशक्नुवन् भेत्तुम्। ते बृहस्पतिं अब्रुवन्। इमान् उत्सृजेति ····· । पं० ब्रा० 19.7.1
2. आर० जी० भण्डारकर–'द आर्यन्स इन द लैण्ड आव् द अस्युरज' कलेक्टेड वर्क्स 1, पृ० 94-101
3. देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्याऽ अस्मिंल्लोके ऽस्पर्द्धन्त ते देवा असुरान्तसपत्नान् भ्रातव्यान् अस्माल्लोकादनुदन्त······· श० ब्रा० 13.8.2.1
4. बेल्वल्कर एण्ड रानाडे–एच० आई० पी० 2, पृ० 55

देवासुर मात्र पौराणिक कल्पना नहीं है। यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि देव एवं असुर देश, काल एवं अन्य सीमाओं से बँधे मानव के किसी विशिष्ट वर्ग या 'श्रेणी' को नहीं द्योतित करते। वास्तव में ब्राह्मणों में यह निषेध किया गया है कि देवासुर संघर्ष सचमुच का संघर्ष था[1]। ब्राह्मणों में आये देवासुर से सम्बद्ध प्रकरणों को भिन्न आधार-भूमि पर रखकर स्वतन्त्ररूप से विचार अपेक्षित है। ब्राह्मण साहित्य में प्रतिपादित इस धारणा का अनुसरण करते हुए स्वामी दयानन्द ने देव को मनुष्य तथा असुर को प्राण माना है[2]।

प्रोफेसर ए०सी० दास का मत है कि देवगण प्रकृति की औदार्यपूर्ण शक्तियाँ हैं तथा असुर विरोधी शक्तियाँ हैं[3]। ब्राह्मणों में वर्णित देवों और असुरों के स्वरूप अध्ययन करने से पता चलता है कि मानव जीवन की लम्बी यात्रा में जीवन एक युद्ध-क्षेत्र है जिसमें देव और असुर दोनों ही संघर्षरत रहते हैं। देवगण सत्य, प्रकाश (ज्ञान) एवं अमरत्व की शक्ति हैं तथा असुर इनके विपरीत अन्धकार (अज्ञान) की शक्ति है। देवों की दिव्य शक्तियों से सम्पन्न व्यक्ति जीवन के समस्त कृत्य सच्चाई, तथा ईश्वर में पूर्ण आस्था के साथ करते हैं जबकि आसुरी शक्तियों से सम्पन्न व्यक्ति अपने भौतिक सामर्थ्य पर ही पूर्ण आस्था व विश्वास रखते हैं।

देव परिपक्व, विवेकी मस्तिष्क का द्योतक है जिसमें बौद्धिक एवं भौतिक क्षमता के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित रहता है। यही कारण है कि देव 'ऋत' को संवर्धित करने में सदैव तत्पर रहते हैं तथा कभी 'ऋत' के विरुद्ध नहीं जाते। इसके विपरीत असुर चूँकि भौतिक शक्ति पर ही आस्था रखते हैं, अतएवं उनमें विवेक एवं समता-बुद्धि का सर्वथा अभाव रहता है। असुरों को प्रकृति जिद्दो

---

1. तस्मादाहुः नैतदस्ति यदैवासुरम्॥ श० ब्रा० 11-1-6-9 इस बिन्दु पर प्रोफेसर टी० चौधरी ने भी 'हिस्ट्री आव् फिलॉसफी, ईस्टर्न वेस्टर्न' पृ० 43 पर विचार व्यक्त किया है।
2. मनः देवाः प्राणा असुराः। मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां विग्रहो भवति। प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्तते। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० 308 प्रोफेसर विश्वबन्धु शास्त्री का कथन है कि असुर वे हैं जो शक्ति से अनुप्राणित हैं, किन्तु जिसे नियमित व समन्वय करने की क्षमता उनमें नहीं है। विश्वबन्धु शास्त्री—'अ वेदिक स्टडी इन सोशल कल्चर' हिरियन्ना कमेमोरेशन वॉल्यूम पृ० 230 यहाँ हक्सले का कथन स्मर्तव्य है :—'Virochana the demoniac being........is the apotheosis of power loving, extroverted...... incarnated in the present century virochana would have been a communist, fascist or nationalist' 'पेरेनियल फिलॉसफी', पृ० 238
3. ए०सी० दास—'ऋग्वेदिक इण्डिया'। पृ०–146

एवं अवष्टम्भक हुआ करती है, अतएवं उनके समस्त कार्यकलाप इन्हीं दुर्गुणों से प्रभावित रहते हैं। इसी संदर्भ में असुर वृत्र के बारे में भी विचार आवश्यक है। वैदिक साहित्य में 'वृत्र' आसुरी प्रवृत्ति का उदाहरण व प्रतीक है। निस्सन्देह वृत्र किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। वृत्र अगणित हैं। 'वृत्र का शाब्दिक अर्थ' 'ढँकना' अथवा 'अवष्टम्भित करना' या 'रोकना' है। यही वृत्र की विशिष्टिता है। पृथिवी के समस्त रचनात्मक कार्यकलापों की प्रगति में वृत्र रूपी आसुरी प्रवृत्ति सनातन काल से विरोधी शक्ति के रूप में कार्यरत रही है। इस विरोधी शक्ति का दमन इन्द्र की शक्ति द्वारा कराया गया है। अतएवं 'वृत्र' को मानव में छिपी एक आभ्यन्तर प्रवृत्ति के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। 'वृत्र' 'पाप' का पर्याय है। जब पाप की वृद्धि हो जाती है तो वह प्राकृतिक सहज प्रवृत्ति को आक्रान्त कर धक्का पहुँचाती है[1]।

किलात एवं आकुली :—किलात एवं आकुली असुरों की श्रेणी में गिनाये गये हैं। शतपथब्राह्मण में एक आख्यान आया है जहाँ किलात एवं आकुली असुरों से सबद्ध एक मिथक है। मनु के पास एक वृषभ था जिसमें असुरों और अरियों को मारने वाली वाणी प्रविष्ट थी। उस वृषभ के हुंकार करने पर असुर-राक्षस मर जाते थे। अपने गणों के विनाश को देखकर किलाताकुली पुरोहित चिन्तित हुए। तदनन्तर उन्होंने उस बैल से यज्ञ कराने के लिये मनु की अनुमति प्राप्त की। फलस्वरूप यज्ञ में बैल का आलम्भन हो जाने पर असुरविघातिनी शक्ति मनु की पत्नो (मनावी) में प्रविष्ट हो गयी। अब मनावी के बोलने से असुरों का विनाश होने लगा। किलाताकुली नामक उक्त दोनों असुर ऋत्विजों ने उपर्युक्त प्रक्रिया से मनावी का भी यज्ञ में आलम्भन कर दिया। इस प्रकार वह असुरनाशिनी शक्ति मनावी से निकलकर यज्ञपात्रों में प्रविष्ट कर गयी, किन्तु इस बार असुर सफल नहीं हो सके तथा जब जब यज्ञ-पात्रों (सिलबट्टों) आदि से ध्वनि उठती है तब तब असुरों का विनाश हो जाता है[2]।

---

1. वृत्रो ह वा इदं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी। स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। तस्माद् वृत्रो नाम ।। श० ब्रा० 1.1.3.4 इन्द्रो वृत्रमहन् ।। तै० ब्रा० 3.2.5.1 अथ यदिन्द्राय वृत्रहने। पाप्मा वै वृत्रः यो भूतेः वारयित्वा तिष्ठति कल्याणात् कर्मणः साधो तये दिन्द्रेणैव वृत्रध्ना पाप्मानं हन्ति। तस्मादिन्द्राय वृत्रघ्ने। श० ब्रा० ।। 1511 इन्द्रो दधीचोअस्थिभिः वृत्राणि अप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव ।। तै० ब्रा० 1.5.81 अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत् ।। ऐ० ब्रा० 1.4
2. श० ब्रा० 1.1.4.14-17

नमुचि :—नमुचि को एक असुर के रूप में वर्णित किया गया है। ऋग्वेद में भी नमुचि का यही रूप चित्रित है[1]। शतपथ ब्राह्मण में नमुचि को 'पाप्मा' की संज्ञा दी गयी है। इन्द्र द्वारा इसका वध वर्णित है[2]।

शुष्ण :—ऋग्वेद में शुष्ण नामक राक्षस का वर्णन उपलब्ध है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जब देवों ने असुरों का बध कर दिया तो शुष्ण ने पीछे की तरफ गिरकर मनुष्य की आँख में प्रवेश किया[3]।

स्वर्भानु :—सूर्य को ग्रसित करने वाले असुर को स्वर्भानु का नाम दिया गया है[4]। इसी प्रकार वर्चिन, धुनि, चुमुरि, विश्वरूप तथा शम्बर आदि अनेक असुरगण है जो देवों द्वारा पराजित हुए हैं[5]।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि किलाताकुली, नमुचि, स्वर्भानु शुष्ण तथा बल आदि ऐसे नाम हैं जो सभी किसी न किसी अवष्टम्भक तत्त्व का ही द्योतन करते हैं। अनेक वैदिक धातुएँ स्वयं में अलग-अलग अथवा अन्य उपसर्गों से संयुक्त होकर 'त्याग' 'छोड़ना' अथवा 'छुटकारा' अर्थ का द्योतन करती है। उदाहरणार्थ मुच्, सृज्, स्त्रथ्, स्पृ तथा हृ आदि धातुएँ उपसर्गों से संयुक्त होकर छोड़ने, त्यागने अथवा छुटकारा का अर्थ प्रदान करती हैं। इन शब्दों का तात्पर्यार्थ बहुत व्यापक है तथा यह तात्पर्यार्थ संस्कृत भाषा व भारतीय विचार धारा के सर्वथा अनुकूल है। ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों में 'सृष्टि' शब्द का वही तात्पर्यार्थ है जो कि 'मोक्ष' शब्द का है। आखिर, सृष्टि प्रक्रिया में बीज की मुक्ति ही तो होती है जो छूटकर विराट् आकृतियाँ प्राप्त करता है। मोक्ष की प्रक्रिया में भी तो यही होता है। स्थूल आकृति से छुटकारा मिलकर जीव को इतर कलेवर की प्राप्ति होती है। अतएव इसी विचारधारा के क्रम में नमुचि की कथा को ग्रहण करना व समझना चाहिए, क्योंकि यह कथा 'मुक्ति' अथवा 'मोक्ष' के सार्वभौम संघर्ष का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। संक्षेप में इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि मनस् एवं इतर इन्द्रियों में पारस्परिक समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करना ही

---

1. ऋग्वेद 10.131,4
2. श० ब्रा० 12.7.3.4; 5.4.1.9
3. श० ब्रा० 3.1.3.10
4. वही 5.3.2.2 स्वर्भानुर्हवाऽआसुरः सूर्यतमसा विव्याध स तमसा विद्धो न व्यचरीत।
5. ऋ० सं० 1.51.6

'देवत्व' की अपरिहार्य आवश्यकता है। राक्षसी वाणी के वर्णनप्रसंग में यही भाव स्पष्ट किया गया है[1]।

मानव :—इस पृष्ठभूमि में इस तथ्य को भी समझ लेना समीचीन है कि देव एवं असुर के अतिरिक्त मानव की एक तीसरी सत्ता भी ब्राह्मणों में वर्णित हैं। देव तथा असुर किनारे के दो छोरों को द्योतित करते हैं जब कि मनुष्य को इन दोनों के मध्य में रखा गया है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि 'मानव' वैवस्वत मनु की सन्तति है[2]। प्रजापति के मन से मानव उत्पन्न हुआ किन्तु तत्त्वतः वह 'मृद्' मृत्तिका से निर्मित है[3]। मानव को मनुष्य, नर, प्राणभृत् तथा यत्र-तत्र पुरुष की संज्ञा प्रदान की गयी है[4]। इसी ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार मनुष्य को तीन जन्म मिलते हैं (1) माता-पिता से, (2) यज्ञानुष्ठान द्वारा तथा (3) मरणोपरान्त अग्नि द्वारा[5]। देहावसान के पश्चात् तृतीय जन्म पुनर्जन्म का तथ्य भी उजागर करता है।

'मनुष्य यज्ञ' को पञ्चमहायज्ञों में गिनाया गया है, किन्तु प्रकृति की दृष्टि से मनुष्य को अनृत माना है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। स्वभाववश मनुष्य ऋत के सनातन नियमों का उल्लंघन करता रहता है। मनुष्य त्रुटियों का पिटारा होता है। किसी किसी अर्थ में तिर्यग् योनि के जीव तथा वनस्पतियाँ भी चरित्र की दृष्टि से मनुष्य से श्रेष्ठ होते हैं। देवों का अनुकरण करने वाले मनुष्य स्तुत्य बताये गये हैं[6]। देवों की आँखे मानवमन को साक्षात् देख लेती हैं, अतएव देव मनुष्य के मन की बात जान लेते हैं। देवों की निष्ठा तथा उनका परिश्रम मनुष्य के लिए अनुकरणीय बताये गये हैं[7]। शतपथ ब्राह्मण की धारणा है कि दैवी गुणों का मानवीकरण संभव है तथा मनुष्य दैवी गुणों को प्राप्त कर

---

1. मनसा वा इषिता वाग्वदति यां ह्यन्यमना वाचं वदत्यसुर्या वै सा वागदेवजुष्टा अथ यदुच्चैः कीर्तयेत्। ईश्वरो हास्य वाचो रक्षोभाषो जनितोः। योऽयं राक्षसीं वाचं वदति सः। यां वै दृप्तो वदति। यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्। नाऽऽत्मना दृप्यति नास्य प्रजायां दृप्त आ जायते य एवं वेद। ऐ० ब्रा० 6.7
2. श० ब्रा० 13.4.3.3
3. उपर्युक्त 7.4.2.17; 7.5.2.6
4. उपर्युक्त 7.3.1.10; 7.4.2.2; 9.3.1.3; 6.2.1.18
5. उपर्युक्त 11.2.1.1
6. श० ब्रा० 1.3.1.1
7. उपर्युक्त 9.5.1.2

सकता है[1]। यही कारण है कि 'अमृत' जिस पर देवताओं का पूर्ण आधिपत्य था, उनसे अलग हो गया जिसे तप द्वारा उन्हें बारम्बार प्राप्त करना पड़ता है। मानसिक शक्ति, बाहुशक्ति तथा बौद्धिक शक्ति मानव की विशिष्ट शक्तियाँ हैं[2]।

परिस्थिति, देश एवं काल के अनुसार तपोनिष्ठ कर्म के माध्यम से मनुष्य देवत्व की ऊँचाई तक उठ सकता है अथवा कर्म की आसुरी प्रवृत्ति के कारण सद्यःपतन भी प्राप्त कर सकता है[3]। इस प्रकार देव आन्तरिक चेतना के विवेकपूर्ण उद्गारों-आदेशों के परिपालन हेतु निर्मित व्यवस्था-शक्ति का नाम है जब कि असुर उक्त आम्यन्तर चेतना के उद्गारों आदेशों पर संवेगात्मक प्रभाव प्रक्रिया का नाम है। देवों एवं असुरों के मध्य उपर्युक्त संर्घष सत् एवं असत् के बीच सनातन संर्घष का प्रतिनिधित्व करता है। दोनों ही शक्तियां समान रूप से शक्तिमती हैं[4] तथा व्यवहार में एक दूसरे के ठीक विपरीत कार्य करती रहती है। यह नियति का स्वभाव प्रतीक होता है कि एक ही वस्तु एवं स्थान पर अच्छा और बुरा दोनों ही युगपत् रूप से विद्यमान रहते हैं। वास्तव में देखा जाय तो यही ज्ञात होगा कि एक वस्तु अथवा स्थान पर सत् के साथ-साथ असत् की विद्यमानता व्याप्ति सम्बन्ध की भाँति अनिवार्यतः रहती है। इसका कारण यह है कि विना असत् की स्थिति के सत् का न तो अभ्युदय सम्भव है और न सत् स्थायी ही हो सकता[5] है। कमल की अवदातता कीचड़ की कर्दमता की पृष्ठभूमि में ही भास्वर दिखाई देकर जलाशय में अपनी सौन्दर्य-श्री विखराती है। विरोधी गुणों

---

1. श० ब्रा० 9.5.1.61
2. उपर्युक्त 6.5.1.11
3. स जघनादसुरानसृजत। तेभ्यो मृन्मये पात्रेऽन्नमदुहत्। याऽस्य सा तनूरासीत्। तामपाहत। सा तमिस्राऽभवत्। सोऽकामयत प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्भवानभवत्। स प्रजननादेव प्रजा असृजत। तस्मादिमा भूयिष्ठाः। प्रजननाद्ध्येना असृजत। ताम्यो दारुमये पात्रे पयोऽदुहत् याऽस्य सा तनूरासीत्। तामपाहत। सा जोत्स्नाऽभवत्। सोऽकामयत प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्वानभवत्। स उपपक्षाभ्यामेवर्तूनसृजत। तेभ्यो रजते पात्रे घृतमदुहत्। याऽस्य सा तनूरासीत्। तामपाहत। सोऽहोरात्रयोस्सन्धिरभवत्। सोऽकामयत प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्भवानभवत्। स मुखाद्देवानसृजत् तेभ्यो हरिते पात्रे सोममदुहत्। याऽस्य सातनूरासीत्। तामपाहत। तदहरभवत्। तै० ब्रा० 2.2.9.5-8
4. ते समावद्वीर्या एवासन्न। ऐ० ब्रा० 9.7
5. विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य-जंग-साइकॉलोजी आव् अन्कान्शस, पृ० 117.

एवं प्रवृत्तियों की युगपत् स्थिति प्रकृति का एक विचित्र नियम है। अपावन पावन को, अन्धकार प्रकाश को, असत् सत् को तथा असुरत्व देवत्व को न केवल प्रत्यक्ष स्फुट करता है अपितु अपने विरोधी गुण के कारण ही प्रतिपक्षी को स्थिति भी प्रदान करता है।

जीवन यापन हेतु 'इच्छा' एक अनिवार्य गुण है, अतएव इच्छा का स्थान अप्रतिम है। इच्छा ही जीवन है। बिना इच्छाशक्ति के जीवन का चक्र नहीं घूम सकता। इच्छा प्रगति की मूलभूत आवश्कता है।

इच्छा दुर्दम होती है, इसीलिए इच्छा शक्ति कभी कभी उन्मत्त हो जाया करती है। अतएव इच्छा शक्ति को नियंत्रण में रखना परमावश्यक है। इच्छा को अपेक्षित प्रश्रय देना जीवन यापन एवं जीवन सुख हेतु परमावश्यक है। देवा-सुर संघर्ष मनुष्य की अनन्त इच्छा तथा सुनियंत्रित इच्छा के पारस्परिक महत्त्व को उजागर एवं उद्घाटित करता है।

राक्षस :—'राक्षस' शब्द भी असुर शब्द की ही भाँति एक जटिल तत्त्व है। राक्षसों के गुण सामान्यतया पितरों के गुण से मिलते जुलते हैं[1]। राक्षसों एवं पितरों में अन्तर यह है कि राक्षस असुरों की ही भाँति विघ्नकारक एवं दुःखदायी होते हैं जबकि पितर न तो विघ्न पहुँचाते हैं और न ही दुःख देते हैं। अतएव राक्षस एवं असुर एक ही श्रेणी में रखे गये हैं। राक्षस मानवों पर अत्याचार करता है तथा विपरीत प्रभाव डालता है। राक्षस नाम यज्ञ-सम्पादन में विघ्न पहुंचाने तथा यज्ञ न होने देने के कारण ही सार्थक हुआ[2] है। असुर शब्द का 'रक्षस्' शब्द के साथ समस्त पद के रूप में भी प्रयोग मिलता है। राक्षसों ने देवताओं को यज्ञ करने से रोका, अतः वे राक्षस कहलाये। राक्षस यज्ञों में विघ्न डालते थे तथा असुर अपने मायावी छल से यज्ञ की नकल किया करते थे, अतएव दोनों ही की प्रकृति, प्रयोजन तथा कर्म में साम्य था। यही कारण है कि शनैः शनैः असुर-रक्षस् दोनों ही शब्द समस्त पद बन गये। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि राक्षस दुष्ट हृदय वाले हुआ करते थे (1.3.4.13)। राक्षस स्त्रियों के पीछे पड़ पड़ जाया करते थे[3]।

---

1. देवा पितरः मनुष्याः ते अन्यतः आसन्। असुरा रक्षांसि पिशाचा अन्यतः जै० ब्रा० 1154
2. देवान ह वै यज्ञन यज्ञमानान् तान्, असुर-राक्षसानि ररक्षुः। स रक्षध्वै इति। तद् यदरक्षन तस्माद्रक्षासि। श० ब्रा० 1.1.1.16
3. रक्षांसि योषितमनुसचन्ते, श० ब्रा० 3.2.1.40; 1.1.2.4

राक्षसों की स्थिति मनुष्य एवं देवों के मध्य बतलायी गयी है। यज्ञानुष्ठान में यह भली-भाँति सुनिश्चित किया जाता है कि राक्षस यज्ञशाला में घुसने न पायें। कड़छी एवं सूप को अग्नि के ऊपर रखा जाता है जिससे कि राक्षस यदि विघ्न डालने के लिए आयें तो वे भस्म हो जांय[1]। शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को राक्षसों का विनाशक बतलाया गया है—अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता।' राक्षसों को अपवारित करने हेतु अपनाये गये साधनों को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राक्षस कीटाणुओं (बैक्टीरिया) का प्रतिनिधित्व करते हैं। राक्षस को दूर भगाने के लिए जल (आपः) का प्रयोग विहित था[2]। भूसी (तुषः) राक्षसों को के अंश की मानी गयी है[3], क्योंकि उसमें राक्षसों का बाहुल्य रहता है। राक्षसों को दूर भगाने के लिए सामगान किया जाता है[4]। बी० एल० गोर्डन का विचार है कि भारत, यूनान एवं मिस्र में संगीत का उपयोग अनेक बीमारियों के उपचार हेतु किया जाता था[5]। ब्राह्मण में आये इस प्रकार के अभिकथनों से आधुनिक विद्वानों द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि राक्षस बैक्टीरिया कीटाणु हैं[6]। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने बैटीरिया-कीटाणु को मानव का शत्रु बतलाया है। आधुनिक काल में चाकू-छुरी-सुई, पात्रों अथवा जल का उबालना आदि क्रियाएँ बैक्टीरिया-कीटाणुओं के प्रभाव को नष्ट करने के लिए ही की जाती हैं। तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बैक्टीरिया भी जीवन चक्र को आगे बढ़ाते रहने के लिए आवश्यक है। इस विद्वान् द्वारा आधुनिक बैक्टीरिया का उद्भव वैदिक राक्षसवाद से प्रसूत बतलाया गया है। ब्रह्मज्ञान को भी राक्षसों को अपवारित करने वाला बतलाया गया है। ब्रह्मज्ञान के बलपर ही देवों ने 'अररु' नामक असुर रक्षस् को पृथिवी से भगा दिया था[7]। मनु के वृषभ की आवाज सुनकर भी राक्षस् भाग गये थे[8]। तात्पर्य यह है कि अग्नि तथा वाणी दोनों असुर राक्षसों को नष्ट

---

1. प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातय इत्याह। रक्षसामपहत्यै ॥ तै० ब्रा० 3.2.4.3, 3.3.1.1
2. आपो वै रक्षोघ्नीः तै० ब्रा० 3.4.1.2
3. रक्षसां भागोऽसीत्याह। तुषैरेव रक्षांसि निरवदयते ॥ तै० ब्रा० 3.2.5.10
4. तान्, देवाऔर्ध्वसद्मना (साम्ना) एतेभ्यो लोकेभ्यो प्राणुदन्त ॥ पं० ब्रा० 92
5. बी० एल० गोर्डन-रोमान्स आव् मेडिसिन, पृ० 148
6. '.........bacteriology was an outgrowth of demonology.' Modern science of bacteriology evolved from the ancient supernatural demonology' ....बी० एल० गोर्डन पृष्ठ 12, 116 तथा 205
7. श० ब्रा० 1.2.4.17; ऐ० ब्रा० 7.28
8. श० ब्रा० 1.1.4.14

करने मेंसमर्थ हैं। अग्नि का तात्पर्य यज्ञ कर्म तथा वाणी का तात्पर्य मन्त्रोच्चार से था।

उपर्युक्त अवधारणा के अतिरिक्त परम्परावादी वेदज्ञों का अभिमत तो यही है कि असुर आर्य मानव विरोधी व्यक्तित्व रखते थे। असुर राक्षस, दानव आदि शक्तियाँ मायावी प्रकृति की हुआ करती हैं। ये प्रपञ्चात्मक हैं, छल करती हैं तथा निसर्गतः तमः प्रधान होने के कारण अवष्टम्भक तत्त्व के अनन्त रूपों में हमारे जीवन में पदे-पदे विद्यमान रहती हैं। देवों तथा देवतुल्य मनुष्यों से इन शक्तियों का सनातन विरोध व संघर्ष चलता आ रहा है। इन आसुरी शक्तियों पर विजय पाकर ही मानव देवत्व के महनीय आसन पर आसीन हो सकता है।

वैदिक देवतावाद सम्बन्धी मत :—

पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक देवताओं के विषय में कतिपय दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं जिनका यहाँ अति संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना उपयोगी प्रतीत होता है।

प्रारम्भिक ऋग्वेद काल में बहुत से देवताओं की सत्ता थी। आधुनिक समीक्षकों ने इसे 'बहुदेववाद' (Polytheism) की संज्ञा दी है। शनैः शनैःबौद्धिक चेतना के विकास के परिणामस्वरूप इन अनेक बहुविधि देवों में एक ही अधिदेवता का प्राधान्येन वास देखा जाने लगा, शेष देवता उस प्रधान देवता की रूपविच्छित्ति प्रतीत हुए। यह अवधारणा 'एक देववाद' (Monotheism) के मूल में सिद्ध हुई। कालक्रम से इस 'एकदेववाद' के बाद 'सर्वेश्वरवाद' (Pantheism) का अविर्भाव हुआ। मैक्डॉनल का कथन है, 'ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल की समाप्ति के समय तक एक प्रकार का अनेक देवतावादी एकेश्वरवाद विकसित हो चला था। इसीलिये इस समय हमें किसी एक देवता की ही औपक्रमिक रूप से सर्वदेववादी धारणा मिलती है। अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा गया है कि वेद में बहुदेववादात्मक एक देववाद (Polytheistic Monotheism) है। कहने का तात्पर्य यह है कि आरम्भ में ऋग्वेद में विविध देवों की मान्यता रही है, किन्तु अन्ततः एक ही देव को स्वीकार करने की धारणा घर कर गयी, भले ही वह पुरुष हो, प्रजापति हो अथवा वाक् (वाणी)। मैक्समूलर ने हेनोथीज्म (Henotheism) अथवा केनोथीज्म का मत प्रतिपादित किया-अर्थात् वैदिक द्रष्टा ऋषि जिस देव की गुणगाथा में लीन हो जाता था तो उसी में उस देगता की गुण सीमा को पार कर जाता था। इस प्रकार पृथक्-पृथक् देवता को एक एक कर सर्वश्रेष्ठ

बताया जाने लगा। इस मत की भी कटु आलोचना हुई है। समीक्षक ह्विटनी एवं हॉपकिन्स आदि ने कहा है कि हेनोथीज्म आपाततः मान्य प्रतीत होता है जब-कि वास्तविकता में ऐसा नहीं है। ये समीक्षक हेनोथीज्म का अस्तित्व नहीं मानते।

देवों एवं दैवी शक्तियों के बारे में साधारणतया यह कहा जाता है कि वैदिक देवगण मात्र मिथक, पौराणिक कथा (myth) हैं। ईश्वर, देवों तथा देवियों की कथाएँ प्रागैतिहासिक सुदूर पुराकालिक वैदिक धर्म के अंग के रूप में जोड़-तोड़कर बनायी गयी बतायी गयी हैं। इसी क्रम में यह भी अवधारणा रही है कि वैदिक देवता भौतिक एवं प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण एवं दैवीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ डा० देशमुख का कथन है[1]। 'The divinities are deifications of natural Phenomena,........ The powers and functions attributed to them are merely poetical representations of physical phenomena for which they stand in agreement.'

इस प्रकार की धारणा के समर्थन में ब्राह्मणों में आये अनेक स्थल द्रष्टव्य हैं। यद्यपि यह दृष्टिकोण वैदिक देवतावाद विषय से सम्बद्ध अनेक जटिलताओं एवं समस्याओं के समाधान में पर्याप्त सहायक रहा है, किन्तु इस विषय पर और अधिक गंभीरतापूर्ण विचार करने की आवश्यकता है ताकि सही स्थिति की जानकारी मिल सके।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कतिपय ऐसे वाक्य आये हैं जिनसे नक्षत्रशास्त्रीय व्याख्या करने का औचित्य दिखाई देता है यद्यपि यह सर्वांगीण अभिमत नहीं रहा है। नक्षत्रशास्त्रीय विशिष्टता कतिपय असंगतियों को जन्म दे सकती है। इसी प्रकार का दृष्टिकोण जीवविज्ञान के आधार पर व्याख्या करने वाले विद्वानों का है।

देवता विषयक डॉ० सी० जी० जंग का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तान्त्रिक पद्धति तथा मंत्र एवं देवताओं के तात्पर्यार्थ पर आधृत प्रतीत होता है। डॉ० जंग ने कहा है, 'God is to be considered as the representative of a certain sum of energy (libido)......If one honours God the sun or fire then one honours one's own vital force the libido......Sun and fire, that is to say the fructifying streangth and heat are attributes of the libido.[2]'

---

1. पी० एस० देशमुख–'रेलिजन इन वैदिक लिट्रेचर, पृ० 217
2. डा० सी० जी० जंग–साइकॉलोजी आव् अन्कान्शस पृष्ठ 38, 52 एवं 54

डॉ० केरेनी, और जंग ने अपने ग्रन्थ 'साइन्स आव् माइथॉलॉजी', में इस विषय के बारे में कुछ बहुमूल्य ज्ञानवर्द्धक सुझाव दिये हैं। उनका प्रबल आग्रह है कि उनकी व्याख्या समस्त विरोधों को दूर करते हुए मिथकों आख्यानों (mythology) को सही ढंग से समझने की दृष्टि देती है।

उनके इस आग्रह में पर्याप्त बल प्रतीत होता है। मिथक (mythology) देवताओं की जीवनी कदापि नहीं हैं, भले ही पढ़ने पर प्रेक्षक को ऐसा लगता हो। वह परिकल्पना ठीक नहीं होगी कि 'मिथक' एवं 'रहस्य' किसी विशिष्ट् उद्देश्य से आवृष्कृत हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मन की अनैच्छिक, किन्तु अचेतनात्मक पूर्वानुबन्धपूर्ण प्रत्यक्षानुभूति है। मिथक के क्षेत्र में देवों एवं दिव्य अधिनायकों की सुस्पष्ट व्याख्या करने में जो सूर्य, चन्द्र, सम्बन्धी अथवा नक्षत्र वैज्ञानिक दृष्टि अपनायी गयी है विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, प्रत्युत ये सभी व्याख्याएँ हमें त्रुटि के के मार्ग पर खड़ा कर देती है[1]।

श्री अरविन्द योग मनोविज्ञान मार्ग अनुगामी परम योगी थे। उनकी धारणा है[2] कि वैदिक देवगण विश्वात्मिका दैवी शक्ति के नाम ऊर्जा तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधायन करते हैं तथा इन देवों में से प्रत्येक उस विश्वात्मिका परमा शक्ति का कोई न कोई अनिवार्य तत्त्व व गुण अभिव्यक्त करता है। ये सभी देवतागण अपने में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अभिव्यक्त करते हैं तथा ब्रह्माण्ड में वे अभिव्यक्त हैं। इस प्रकार के अर्थ के अवबोध हेतु अति समुन्नत, संस्कार-सम्पन्न श्रवणेन्द्रिय आवश्यक है। इस प्रकार की व्याख्या व्यक्तिवादी एवं एकांगी प्रतीत होती है, किन्तु इसमें देवतावाद का गूढ़ार्थ अवश्यनिहित प्रतीत होता है। इसी दृष्टि-कोण से मिलता-जुलता दृष्टिकोण उन विद्वानों का है जो यह कहते हैं कि देवता वाद को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-सत्ता की पृष्ठभूमि में आकलित करना चाहिए।

भारतीय परिपाटी स्थानीय को सार्वभौम रूप में देखने की अभ्यस्त रही है। यह परिपाटी ब्रह्माण्ड-सत्ता को केन्द्र में रखकर ही प्रचलित हुई है। डॉ० ज़िमर का कथन है[3] है कि 'मिथक' वह दर्पण है जो हमारा मुखौटा हमें दिख-

---

1. केरेनी एण्ड जंग–पृ० 35, 225 तथा 240
2. श्री अरविन्द—'आन् द वेद' पृ० 433, श्री एस० पी० पण्डित का ग्रन्थ 'अदिति' पृष्ठ 174 भी द्रष्टव्य है।
3. जिमर–'हिन्दू मेडिसिन', पृ० XXXII

लाता है तथा यह बतलाता है कि हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए। यह बात वैदिक साहित्य पर भी पूर्णतया लागू होती है। अतएव विविध पहलुओं को दृष्टि में रखकर एक समष्ट्यात्मक दृष्टि तैयार कर हमें वैदिक साहित्य का अनुशीलन करना चाहिए। इस प्रक्रिया में हमें यह प्रयास करना होगा कि हम वाह्य में आभ्यन्तर तथा आभ्यन्तर में वाह्य देख सकें। तभी जाकर हम वैदिक साहित्य की भावभूमि पर उतर कर उसकी विषय वस्तु को पूर्णता में समझ सकते हैं।
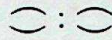
चतुर्थ अध्याय

ब्राह्मण ग्रन्थों में ज्ञान-कोष

ज्ञान के स्रोतः— परम्परया वेद को समस्त ज्ञान का अक्षय्य आदि स्रोत माना गया है। आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणाओं के क्षेत्र में भी ज्ञान तथा इतर समस्त तात्त्विक चिन्तन एवं विचारधाराओं के उद्भव को भी वैदिक साहित्य में ही ढूंढा जाता रहा है। वेदों की इस अभूतपूर्व मान्यता का पूर्ण औचित्य भी है। श्री टी० चौधरी ने कहा है, 'There is no wonder that eastern thought should regard the Veda as the fountain head of all religion and philosophy[1],—'अर्थात् इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि पूर्वी विचारधारा वेद को समस्त धर्मों एवं दर्शनों का उद्भव-स्रोत मानती है। धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में ब्राह्मण साहित्य का सर्वाधिक योगदान रहा है। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों ने इन्हें प्रभूत सामग्री एवं कथ्य प्रदान किया है। ब्राह्मण साहित्य कर्मकाण्डपरक एवं दार्शनिक अवधारणाओं से परिपूर्ण है। ब्राह्मणों में अध्यात्मवाद की समुन्नत विधाओं, सामाजिक एवं धार्मिक दार्शनिक परम्पराओं तथा अनन्त कलाओं एवं विज्ञान के जिन्होंने आधुनिक सभ्यता को जन्म देने में अभूतपूर्व योगदान किया है, बीज उपलब्ध हैं। यहाँ सम्पूर्ण ब्राह्मण-साहित्य पर विहंगावलोकन करते हुए यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मानव ज्ञान के विभिन्न रूपों पर इसका क्या योगदान रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध फुटकर वक्तव्यों के आधार पर समन्वित रूप से विचार करना न्यायोचित होगा।

अध्यात्मवादः—प्रायेण ब्राह्मणों के अध्येताओं का यह विचार रहा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में दार्शनिक विचारों का नितान्त अभाव रहा है। ब्राह्मणों का प्रमुख उद्देश्य यज्ञ का सम्यक् विवेचन करना है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनमें दर्शन का आत्यन्तिक अभाव है तथा मात्र कर्मकाण्ड पर ही विचार किया गया है। इसके विपरीत, वास्तविकता तो यह है कि जहाँ-जहाँ आवश्यक था यथाशक्य दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उपनिषदों का अध्ययन करते

---

1. टी० चौधरी—'हिस्ट्री आव् फ़िलॉसफी ईस्टर्न वेस्टर्न वाल्यूम I, पृ० 52

समय इस दृष्टिकोण को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। यह सत्य है कि विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के उद्घोषक कथन बिल्कुल स्फुट रूप से ब्राह्मणों में उपलब्ध नहीं दिखाई देते[1], किन्तु भारतीय परम्परा यह तथ्य दुन्दुभी की चोट पर उद्-घोषित करती है कि प्रमुख उपनिषद्, ब्राह्मण साहित्य के ही अंग हैं। उदाहरणार्थ बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथब्राह्मण का तथा छान्दोग्य उपनिषद् मंत्र ब्राह्मण का अंग है। इसी प्रकार अन्य प्रमुख उपनिषद् अपने-अपने आरण्यकों के उत्तरवर्ती अंग हैं। ब्राह्मणग्रन्थ दर्शन के विपरीतगामी नहीं हैं, बल्कि वे दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही खड़े दिखाई देते हैं। धर्म के क्षेत्र में ज्ञान दैनिक कृत्य, दैनिक आचरण और जीवन में मूर्त रूप में रूपान्तरित होता है। दर्शन के क्षेत्र में भी ब्राह्मणों का महत्त्व उल्लेखनीय है। कतिपय विचारक ब्रह्मकर्म आदि गूढ़ विषयों पर दार्श-निक विवेचन को कर्मकाण्ड की विचारधारा से विच्छिन्न कर देते हैं। उनकी धारणा है कि दार्शनिक विचार एवं कर्मकाण्ड परस्पर भिन्न-भिन्न तथा एक दूसरे से असम्बद्ध थे। कर्मकाण्ड पुरोहितों की बपौती माना जाता था, जबकि दर्शन ऋषियों के अधिकार-क्षेत्र में था। किन्तु ऐसी धारणा भ्रामक है। दर्शन एवं कर्मकाण्ड में ऐसा सम्बन्ध विच्छेद मानना सर्वथा अनुचित है। वास्तविकता तो यह है कि वैदिक कर्मकाण्ड में दर्शन का वह मूलभूत तत्त्व-युग्म निहित है जो यह कहता है कि विश्व के कण-कण में एक ही दैवी नियन्ता शक्ति परिव्याप्त है तथा वह शक्ति सर्वदा, समान रूप से कार्यरत रहती है।

उपनिषद् का अर्थ ब्राह्मण के वाक्य से सुस्पष्ट हो जाता है जहाँ 'उपनिषदे' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'उपनिषदे' शब्द का प्रयोग प्रथम पुरुष एक वचन तथा वर्तमान काल का अर्थ द्योतित करता है। इसका अर्थ 'तुम्हारे समीप बैठना'[2] है। 'उपनिषद्' का अर्थ ही पास बेठना हे। यह यथार्थ है तथा यही भाव समस्त वस्तुओं में निहित है।

ब्राह्मणों में 'आतम' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का अर्थ 'अपना' अथवा अपने का भाव ही व्यक्त करता है। 'आतमा' वह वस्तु है जो जीव

---

1. 'The Vedanta deserves its name from the Upanisads but its germs are also derivable from the samhita and are clearly in the Brahmana literature in numerous passages', एस० वी० वेंकटेश्वर 'इण्डियन कल्चर थ्रू द एजेज, वाल्यूम–I; पृ० 57

2. अस्थूरित्वा गार्हपत्य उपनिषदे सुप्रजास्त्वाय ॥ तै० ब्रा० 3.7.5.11

को जीवन्त बनाता है[1]। ब्राह्मणों में ऐसे उद्धरण आये हैं जिनमें यह कहा गया है कि शरीर 'आत्मा' से भिन्न है—'आत्मा च त्वा तनूश्च शोणीताम्'[2] अर्थात् तुम्हें शरीर तथा आत्मा सम्मिश्रित करे। यह आत्मतत्त्व समस्त जीवधारियों के अणु-अणु में परिव्याप्त है तथा इस प्रकार वह निखिल ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है। ब्राह्मणों में कहा गया है कि प्रजापति क्षेत्रज्ञ के रूप में समस्त प्राणियों में प्रविष्ट होकर अन्न को पचा डालते हैं[3]। वह (प्रजापति) नाम और रूप भी प्राप्त करता है[4]।

ब्राह्मण साहित्य में देवताओं के तादात्म्यीकरण की प्रक्रिया एवं शैली को देखकर इस बात में लेशमात्र सन्देह नहीं रह जाता कि वैदिक मानव का सम्पूर्ण जीवन तपश्चर्या से ओत-प्रोत था। भिन्न-भिन्न देवताओं का एक दूसरे से तादात्म्यीकरण किया गया है। देवताओं एवं विभिन्न वस्तुओं-पदार्थों में परस्पर तादात्म्य स्थापित किया गया है। इसी प्रकार विभिन्न पदार्थों में परस्पर तादात्म्य स्थापित किया गया है।[5] तादात्म्यीकरण की यह पद्धति एक दृढ़ मौलिक सिद्धान्त पर टिकी हुई थी। वह सर्वमान्य सिद्धान्त यह है कि 'एक में अनेक' तथा 'अनेक में एक' समाया हुआ है। जड़-जंगम में तथा जंगम-जड़ में समाया है। इस प्रकार तत्त्व की दृष्टि से चेतन-अचेतन, पदार्थ-जीव, एक-अनेक, भूत-भविष्यत् के रूप में वस्तुगत, संख्यागत तथा कालगत कोई भी भेद नहीं हैं। सृष्टि अपने सूक्ष्म तथा विराट् रूप में एक ही 'समान तत्त्व' की सत्ता एवं स्थिति को व्यक्त करती है। यही कटु यथार्थ ब्राह्मणों ने अपनी तादात्म्यीकरण की विश्लेषणात्मक शैली से स्पष्ट किया है।

कतिपय विद्वान् इस तादात्म्यीकरण को निरर्थक बताते हुए कहते हैं कि यह केवल जादुई हैं[6]। किन्तु जब हम यह सम्यक् समझ लेते हैं कि वैदिक

1. तै० ब्रा० 2·3.1.11 सर्ववावेदं आत्मन्वत् जै० ब्रा० 1.71 आत्मा करोतु आत्मेन ।। तै० ब्रा० 2.2.5·1
2. तै० ब्रा० 3.7.9.3
3. अथो यथा क्षेत्रज्ञोभूत्वा अनुप्रविश्य अन्नमत्ति, तै० ब्रा० 3.10.10.5
4. ता: रूपेणानुप्राविशत्। तस्मादाहु: रूपं वै प्रजापतिरिति। ता नाम्नानुप्राविशत्। तस्मादाहु:। नाम वैप्रजापतिरिति ।। तै० ब्रा० 2.2.7.1
5. उदाहरणार्थ एष रुद्र: यदग्नि:। तै० ब्रा० 1.1.5.8; अन्न वै पूषा तै० ब्रा० 1.7.3.5 तै० ब्रा० 3.3.9.2
6. इजर्टन—'बिगिनिंग्ज आव् इण्डियन फिलासफी, पृ० 21-22

शब्दावलि प्रतीकात्मक है तथा इसका भौतिक अर्थ नहीं अभीष्ट है तो इस प्रकार की आलोचना स्वतः निरस्त हो जाती है। और फिर एक वस्तु का दूसरे से तादात्म्य वोध कराने मात्र को जादुई कहना कहाँ की बुद्धिमानी है।

ब्राह्मण-साहित्य में यज्ञ-फल के सन्दर्भ में निष्काम वृत्ति प्रतिपादित की गयी है। यह धारणा उपनिषदों में जाकर परिपक्व हो गयी जिसका सिद्धान्त के रूप में सविस्तर प्रतिपादन श्रीमद्भगवद्गीता में किया गया है। षडविंश ब्राह्मण में आरुणि द्वारा कहलाया गया है, 'मैं यज्ञ के सफल हो जाने पर क्यों प्रसन्न होऊं तथा असफल हो जाने पर क्यों दुःखी बनूँ ?[1] ब्राह्मणों में विद्या (ब्रह्मज्ञान) की भूरिशः महिमा बखानी गयी है[2]। ब्राह्मण प्रणेता ऋषियों की यह अटूट धारणा रही है कि मात्र ज्ञान से फल की उपलब्धि निश्चित है। शतपथ ब्राह्मण में ज्ञान का महत्त्व वतलाते हुए इस आशय का भाव व्यक्त किया गया है कि विद्या (ब्रह्मज्ञान) के अभ्युदय से काम (इच्छा शक्ति) पर विजय पायी जा सकती है। तापस विद्वान् उन स्थितियों तक पहुँच जाते हैं जहां इच्छा-शक्ति विरत हो जाती, है, जहां दक्षिणा नहीं पहुँच पाती तथा जहां ज्ञान शून्य तप भी नहीं पहुँच पाता। ऐसे तपस्वियों की प्रवृत्ति भोग-पराङ्मुख हो जाती है[3]। यहाँ भोगों से निवृत्ति एवं ज्ञान में प्रवृत्ति का मार्ग संस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में यह निवेदन किया जा चुका है कि ब्राह्मणों में यज्ञ को एक विराट् एवं सार्वभौम स्वरूप प्रदान किया गया है। यज्ञ वस्तुतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप बन गया है। यज्ञ के विलक्षण प्रयोग-विज्ञान में देवगण तथा मनुष्य एकीकृत हो जाते हैं। यज्ञ-सरणि से चढ़कर अनृत मानव दिव्यता के उच्चपद को प्राप्त कर लेता है। यज्ञ एवं प्रजापति, यजमान एवं प्रजापति, यज्ञ एवं यजमान तथा विभिन्न देवों एवं प्रजापति में परस्पर तादात्म्यीकरण से 'एकत्व में अनेकत्व' एवं 'अनेकत्व में एकत्व' बोध का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। यह एकेश्वरवादिता एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में ब्राह्मणों में प्रतिष्ठा-पित है।

ब्राह्मणों में यज्ञ कर्म का प्रयोजन देवसन्निधि किं वा साक्षात् देवोपलब्धि रहा है। यज्ञानुष्ठान से पार्थिव एवं भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति तो

1. ष० ब्रा० 1.6.21 यही भाव शतपथ ब्राह्मण (4.5.7.9) में भी व्यक्त किया गया है।
2. श० ब्रा० 11.5.3.4 तथा 11.5.3.8; गो० ब्रा० 1.3.13
3. श० ब्रा० 10.5.4.16

सुनिश्चित होती ही है, साथ ही पारलौकिक ऐकान्तिक ऐश्वर्य भी प्राप्त होते हैं[1]। अमरत्व प्राप्ति देवत्व प्राप्ति ही है जिसे यज्ञ-फल के रूप में वर्णित किया गया है। पवित्र कर्मानुष्ठान एवं तपश्चर्या के माध्यम से पारलौकिक दिव्यता एवं अमरता प्राप्ति का सिद्धान्त ब्राह्मण ग्रन्थों में जन्म पा चुका था जो कालान्तर में आरण्यकों तथा उपनिषदों में पल्लवित-पुष्पित हुआ।

ब्राह्मणों में यज्ञ को बड़ी ऊँचाई पर उठा दिया गया है। यज्ञ की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है तथा ज्ञान का माहात्म्य स्थापित किया गया है। यज्ञों में कर्मकाण्ड के ऊपर ज्ञान की गरिमा स्थापित की गयी है। ब्राह्मणों में बारम्बार यह कहा गया है कि वास्तविक कर्मकाण्ड की अपेक्षा कर्म के ज्ञान से अधिक लाभ प्राप्त है[2]। ब्राह्मणों में जिस ज्ञान का उपदेश किया गया है वह एक समष्टि दृष्टि है। कर्मकाण्ड कृत्य तथा अन्य तत्सम्बद्ध विविध कृत्य गंभीरतापूर्वक विचारणीय हैं। समस्त कर्मकाण्ड एवं अनुष्ठान विधियाँ वस्तुओं-तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का स्मरण कराने के निमित्त ही विहित हैं। कभी-कभी यज्ञ को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है[3]। तैत्तिरीय ब्राह्मण का महत्त्वपूर्ण कथन है कि समस्त दृश्यभाण जगत् का न केवल 'ब्रह्म'[4] आधार है, किन्तु यह दार्शनिक विचार कि समस्त जगत् 'ब्रह्म' में समाविष्ट है तथा वह ब्रह्म अद्वितीय है, हमें अन्तर्मुखी बनाने के लिये विवश करता है।

---

1. विशेष अध्ययन हेतु द्रष्टव्य है, वाई० बसु० का ग्रन्थ, 'इण्डिया आव् द एज आव् द ब्राह्मणज।'
2. यस्यैव विदुषोऽग्निहोत्रंजुह्वति। यउ चैनदेवं वेद तै० ब्रा० 2.1.8.3 अभि स्वर्गं लोकं जयति योऽग्निंनाचिकेतं चिनुते। यउ चैनमेवं वेद ॥ तै० ब्रा० 3.11.9.7
3. संवत्सरो वा अग्निर्नाचिकेतः ॥ तै० ब्रा० 3.11.10.2-3 आत्मा ह त्वे वैषोऽग्निश्चितिः ॥ श० ब्रा० 10.4.2.12
4. ब्रह्म देवान जनयत्। ब्रह्म विश्वमिदं जगत्। ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम् ब्रह्म ब्राह्मण आत्मना अन्तरस्मिन्निमे लोकाः। अन्तर्विश्वमिदं जगत्। ब्रह्मैव भूतानां ज्येष्ठम्। तेन को ऽर्हति स्पर्धितुम्। ब्रह्मन्देवास्त्रयस्त्रिंशत्। ब्रह्मन्निन्द्रप्रजापती। ब्रह्मन्ह विश्वा भूतानि। नावीवान्तस्समाहिता। तै० ब्रा० 2.8.8.9-10 ब्रह्म वा इदमग्रआसीत्। तद्देवानसृजत्। श० ब्रा० 11.1.11.1 स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठा ह्येषा यद्ब्रह्म तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितो ऽतप्यत ॥ श० ब्रा० 6.1.1.8 स्पष्टतः यहाँ ब्रह्म को त्रयी विद्या के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

ब्राह्मणों में तत्त्वों को प्रस्तुत करने व समझने के लिए युक्तिसंगत सीधी शैली का प्रयोग दिखाई देता है। ये तर्क वस्तु की तह तक पहुँच जाते हैं जिससे गूढ़ ज्ञान की जानकारी मिलती है। ये कथन प्रायेण व्युत्पत्ति सम्बन्धी व्याख्या के प्रसंग में उपलब्ध मिलते हैं[1]।

ब्राह्मणों में प्रत्यक्ष को मूलभूत प्रमाण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। ज्ञान प्राप्ति के विभिन्न माध्यमों में प्रत्यक्ष आँख से देखना सर्वाधिक समर्थ माध्यम माना गया है। अयथार्थ को अभिधया स्पष्ट किया जा सकता है, अयथार्थ को भी सोचा जा सकता है, किन्तु आँख धोखा नहीं खाती, वह यथार्थ देख ही लेती है[2]।

अध्यात्म पर सामान्य विचार करने के बाद उन तत्त्वों पर विचार उपयोगी होगा जो ज्ञान के विभिन्न स्रोतों एवं विधाओं पर प्रकाश डालते हैं।

स्वाध्याय :—श्रुतियों का अध्ययन मनन-चिन्तन एवं अध्यापन स्वाध्याय कहलाता है। ब्राह्मण-साहित्य में स्वाध्याय को ही ब्रह्म-यज्ञ कहा गया है[3]। स्वाध्याय प्रशंसा में अध्ययन एवं प्रवचन प्रशंसा से युक्त होते हैं। स्वाध्याय से छात्र का बुद्धि विकास होता है तथा यश की उपलब्धि होती है। शास्त्रों के अध्यापन द्वारा लोकपक्ति (विद्यादान) की परिपाटी अध्यापक को धर्मादि सुख प्राप्त कराती है[4]।

प्रवचन :— वेदविद्यादि शास्त्रों का पारायण कराते हुए गुरु द्वारा छात्रों एवं शिष्यों को मौखिक ज्ञान देना प्रवचन कहा गया है। प्रवचनकर्त्ता उपदेष्टा गुरु आचार्य की संज्ञा से अभिहित था। प्रवचन द्वारा प्राप्त शास्त्रोपदेश को शिष्य हृदयंगम एवं स्मरण करता था तथा नित्यप्रति उसका चिन्तन-मनन करता था। उपदेश श्रवण एवं मनन की परिपाटी प्रवचन की सर्वस्व थी।

ब्रह्मचारित्व : —शिष्य को ब्रह्मचारी का नाम दिया गया है, क्योंकि प्रथमाश्रम

---

1. यदप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्। तै० ब्रा० 1.1.3.7
2. अनृतं वै वाचा वदति। अनृतं मनसाध्यायति। चक्षुर्वै सत्यम्। अद्रागित्याह अदर्शमिति। तत्सत्यम्। तै० ब्रा० 1.1.4-2 चक्षुर्वै सत्यम्॥ तै० ब्रा० 3.3.5.2
3. श० ब्रा० 11.5.6.4
4. अथातः स्वाध्यायप्रशंसा। प्रियेस्वाध्याय भवतो प्रवचने युक्तमना, भवत्त्यपराधीनोऽहरहरर्थान्त्साधयते सुखं स्वपिति परमचिकित्सकऽआत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चै कारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः प्रज्ञा वर्द्धमाना चतुरोधर्मान्ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यम्प्रतिरूपचर्यां यशो लोकपक्तिल्लोक·······श० ब्रा० 11.5.7.1

ब्रह्मचर्याश्रम में ही रहते हुए शिष्य अपने गुरु से विद्या का ज्ञान प्राप्त करता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचर्य के बारे में अनेकशः विस्तृत वर्णन किया गया है[1]। जीवन की एक सौ वर्षों की निर्धारित आदर्श सीमावधि में अविकलेन्द्रिय होकर जीना वैदिक ऋषियों का एक आदर्श रहा है। इस समग्र अवधि के प्रथम एक चौथायी काल को ब्रह्मचर्य-काल कहा गया है। इस अवधि में युवा शिष्य वीर्यरक्षा करते हुए शास्त्रों एवं पारम्परिक विद्याओं को गुरु के आश्रम में रहते हुए गुरु से अर्जित करता था। ये ब्रह्मचारी शिष्य भिक्षा मांगकर, गुरु के गृहकार्यादि सम्पन्न करते हुए[2] गुरु की यज्ञशाला में रखी यज्ञाग्नियों की रक्षा किया करते थे। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचारी शिष्य को अन्तेवासी कहा गया है[3]। स्पष्ट है कि शिष्य के गुरु की सन्निधि में रहने के ही कारण अन्तेवासी नामकरण किया गया।

वैदिक काल में 'अन्तेवासी' तथा ब्रह्मचारी में थोड़ी भिन्नता अवश्य थी। जे० एगलिंग ने शतपथब्राह्मण के अपने अनुवाद में 'अन्तेवासी' का अर्थ धर्मशास्त्र का विद्यार्थी (Theological Student) किया है[4]। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल में गुरु-गृह में नियमित रूप से निवास करके विद्याध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी शिष्य अन्तेवासी (सन्निकटस्थ) कहलाते थे। जैसे-जैसे समाज एवं विद्याओं का विकास व विस्तार हुआ वैसे-वैसे ब्रह्मचारियों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि होती गयी। एक ऐसी भी स्थिति आ गयी होगी जब समस्त ब्रह्मचारियों के आवास की नियमित व्यवस्था गुरु-गृह में करनी असंभव हो गयी। अधिकांश शिष्यों की आवास-व्यवस्था गुरु-गृह से किंचित् दूर के स्थान पर की जाने लगी होगी। ऐसे शिष्य ब्रह्मचारी छात्र कहलाए जाने लगे। जिस प्रकार यज्ञानुष्ठान अथवा अन्य किसी धार्मिक कृत्य के सम्पादन के पूर्व दीक्षा का विधान था, संम्भवतः कुछ उसी प्रकार ब्रह्मचारी हाथ में समिधा लेकर गुरु की शिष्यता ग्रहण करता था[5]। ब्रह्मचारी शिष्य तथा गुरु का पारस्परिक सम्बन्ध पिता-पुत्र

---

1. श० ब्रा० 11.3.3.1; 11.3.3.4; 11.3.3.6-7; 3.6.2.15
2. वही 11.3.3.6
3. अथ यद्यध्वर्योः। अन्तेवासी वा ब्रह्मचारी वैतद्यजुरधीयातसोऽन्वास्थाय वाचयति 'ब्याजिन' ऽइति श० ब्रा० 5.1.5.17
4. जे० एगलिंग–'द शतपथब्राह्मण' (5 वाल्यूम), दिल्ली, 1963
5. भृगुर्ह वै वारुणिः। वरुणं पितरं विद्ययातिमेने तद्धवरुणो विद्वाञ्चकाराति वै मा विद्यया मन्यतऽइति। श० ब्रा० 11.6.1.1

का सम्बन्ध था[1]। गुरु माता का वात्सल्य भी प्रदान करता था। शतपथब्राह्मण का कथन है कि आचार्य शिष्य को अपने गर्भ में रखता है[2]। शिष्य भी गुरु की सर्वतोभावेन नैष्ठिक सेवा करता था। प्रसन्न होकर गुरु शिष्य को गुह्य रहस्यों को भी उद्घाटित कर देता था।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य—ब्रह्मचारी का मुख्य कर्त्तव्य स्वाध्याय तथा प्रवचन था। ब्रह्मचारी पूर्ण मनोयोग से विद्यार्जन में निरत रहता था। ब्रह्मचारी स्वयं ही अपनी आत्मा का चिकित्सक हुआ करता था[3]। भिक्षा हेतु सञ्चरण करना ब्रह्मचारी का अन्य महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य माना जाता था[4]। ब्रह्मचारी की जीवनचर्या का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि था जिसके लिए इन्द्रियों तथा इन्द्रियों द्वारा भोग्य विविध पदार्थों पर नियन्त्रण पाना परमावश्यक था। मनुष्य का कर्तृत्वबोध इस मार्ग का शत्रु है, अतएव व्यर्थ के अहंकार से मुक्ति पाने हेतु भिक्षाटन व प्रव्रज्या अति महत्त्वपूर्ण जीवनचर्या मानी गयी है। विविध याज्ञिक क्रियाओं के लिए समिधा एवं अन्य सामग्री एकत्र करना भी ब्रह्मचारी का विशिष्ट नैतिक कर्त्तव्य माना जाता था। इस प्रसंग में यह भी कहा गया है कि ब्रह्म ने मात्र ब्रह्मचारी को मृत्यु के चंगुल से मुक्त रखा था, किन्तु जिस रात ब्रह्मचारी समिधा नहीं लाता है, उसका आयुष्य खण्डित हो जाता है[5]। इस वाक्य में सुस्पष्ट रूप से कहा गया है कि समस्त प्रजाओं अर्थात् जीवधारी व्यक्तियों को मृत्यु का भय बना रहता है जबकि मात्र ब्रह्मचारी अपवादस्वरूप था। इस अप-

1. पितेव पुत्राय ब्रह्मचारिणे–श० ब्रा० 1.6.2.4
2. आचार्यो गर्भी भवति, श०ब्रा० 11.5.4.12
3. प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतोयुक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान्साधयते सुखं स्वपिति परमचिकित्सकऽआत्मनो भवति–श० ब्रा० 11.5.7.1
4. न ह वै स्नात्वा भिक्षेत अप ह वै स्नात्वा भिक्षाञ्जयत्यप ज्ञातीनामशनायामप पितृणां स एवं विद्वांन्यस्या एव भूयिष्ठं श्लाघेत तां भिक्षेतेत्याहुस्तल्लोक्यमिति स यद्यन्याम्भिक्षितव्यान्न विन्देदपि स्वामेचार्यजायां भिक्षेतांथो स्वाम्मातरं नैनं सप्तम्यभिक्षितातीयात्तमेवं विद्वांसमेवं चरन्तः सर्वे वेदाऽ आविशन्ति यथा ह वाऽअग्निः समिद्धो रोचत एव ह वै स स्नात्वा रोचते य एवं विद्वान्ब्रह्मचर्यं चरति। श० ब्रा० 11.3.3 7
5. ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत। तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्सोऽब्रवीदस्तु मह्यमप्येतस्मिन्भाग इति यामेव रात्रिःसमिधन्नाहराता इति तस्माद्यां रात्रिं ब्रह्मचारी समिधन्नाहरत्त्यायुष एव तामवदाय वसति तस्माद्ब्रह्मचारी समिधामाहरेन्नेदायुषोऽवदाय वसानीति श० ब्रा० 11.3.3.1

वाद का कारण ब्रह्मचारी द्वारा समिधाहरण की पवित्र क्रिया ही थी। अतएव समिधाहरण ब्रह्मचारित्व का प्रमुख अंग था।

ब्रह्मयज्ञ :—ब्रह्मचारी का मुख्य कर्त्तव्य स्वाध्याय था[1]। स्वाध्याय एवं आहुतियों से जो प्रतिदिन देवों का तर्पण-वन्दन करते हैं वे ब्रह्मचारी वास्तविक रूप से ब्रह्म-यज्ञ सम्पादित करते हैं। श्रुतियों का दैनन्दिन एवं प्रमादरहित अध्ययन-अध्या-पन स्वाध्याय कहलाता था। यही स्वाध्याय 'ब्रह्मयज्ञ' था। शतपथब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ का अत्यन्त प्राञ्जल शब्दावलि में वर्णन किया गया है। वाक् (वाणी) ही ब्रह्मयज्ञ की जुहू थी। मन उपभृत था, चक्षु ध्रुवा, बुद्धि स्रुवा, सत्य ही अव-भृथ (यज्ञान्त जलाभिषेक) था आदि[2]। जो ब्रह्मचारी विद्वान् नित्यप्रति स्वा-ध्यायनिरत था वही लोकजयी हो सकता था। वास्तव में स्वाध्याय ही वन्दनीय व आचरणीय तत्त्व था। स्वाध्याय का वाक् (ऋचः यजुष् एवं साम) ही मूल था। अन्य शब्दों में ऋक् यजुष् एवं सामरूप वाक्तप ही स्वाध्यायात्मक ब्रह्मयज्ञ का प्राण है। वाक् का ब्रह्म के साथ साम्य परवर्ती अक्षरब्रह्म के सिद्धान्त का उत्स कहा जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय के विषय वर्णित हैं। ये हैं ऋक्, यजुः, साम, अथर्वाङ्गिरस अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण गाथा एवं नाराशंसी[3]। शतपथब्राह्मण में इतिहास, पुराण, सर्पविद्या, देवजन-विद्या आदि को भी वेदान्तर्गत माना गया है[4]। ये सभी विषय नित्य अध्ययन के निमित्त वर्णित हैं।

सृष्टि जिज्ञासा :— सृष्टि के सम्बन्ध में जिज्ञासा मानव एवं मानवज्ञान के

---

1. पय आहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदृचः स य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते पय आहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वा-त्मना सर्वाभिःपुण्याभिः सम्पद्भिर्घृतकुल्या मधुकुल्याः पितृन्स्वधा अभिवहन्ति। श० ब्रा० 11.5.6.4
2. अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञस्तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उप-भृच्चक्षुर्धुर्वा मेधा स्रुवः सत्यमवभृथः स्वर्गो लोक उदयनं यावन्तः ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णान्ददंल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति त्रिंस्तावन्तं जयति भूयांसं चाक्षय्यं य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। श० ब्रा० 11.5.6.2
3. '………यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणङ्गाथा नाराशंस्यः स य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणङ्गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्याय-मधीते………।' श० ब्रा० 11.5.6.8
4. श० ब्रा० 13.4.3.6

इतिहास में उतनी ही पुरानी है जितनी कि स्वयं मानव की रचना। तैत्तिरीय ब्राह्मण के ऋषि ने भी वही मूल प्रश्न उठाया है, 'वह कौन वन है तथा कौन वृक्ष जिससे प्रजापति (विश्वकर्मा) ने इस आकाश और पृथिवी की रचना की[1]।' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यही ब्राह्मणग्रन्थ कहता है कि वह वन और वृक्ष ब्रह्म ही है, जिससे विश्वकर्मा ने आकाश और पृथ्वी को बनाया। यह ब्रह्म विश्व का मात्र कारण ही नहीं, अपितु धारक भी है[2]। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने इस कौतूहलभाव को और स्पष्ट करते हुए पूछा है, 'कौन सृष्टि का ज्ञाता है तथा कौन बतला सकता है कि सृष्टि कहाँ से जन्मी[3]।' इस मूल प्रश्न का उत्तर भी ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा ऋग्वेदसंहिता (10.129.7) में दिया गया है जहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि विराट् आकाश में व्याप्त परमेश्वर ही सृष्टि के कारण एवं स्वरूप का ज्ञाता हो सकता है, परन्तु इस अवधारणा का कोई भी प्रमाण नहीं है। वस्तुतः सृष्टि के रहस्य को देवगण एवं मानव दोनों ही समझ नहीं सकते, क्योंकि ये दोनों भी सृष्टि की विकास प्रक्रिया में सर्जन आरम्भ होने के बाद ही निर्मित हुए। ऋग्वेद में कहा गया है कि सृष्टि प्रक्रिया में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ थे जिसने पृथिवी को आधार देकर सुदृढ़ किया[4]।

सर्जन का सिद्धान्त :– वेदों एवं सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य में बारम्बार यह धारणा व्यक्त की गयी है कि परमेश्वर एक है जिसे अनेक होने की उत्कण्ठा हुई। परमेश्वर की इस उत्कण्ठा का आधार यह रहा है कि सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड एक का ही विराट् एवं विकसित रूप है। यह विराट् एवं नानाविध रूप उस एक अजन्मा, अनादि परमेश्वर में ही सन्निविष्ट रहता है। इस प्रकार एक परम तत्त्व का अनन्त रूपों में प्रत्यक्षीकरण तथा अनन्त तत्त्वों-पदार्थों का उस एकल परम तत्त्व में समाविष्ट रहना सृष्टिप्रक्रिया का मूल सिद्धान्त रहा है। वैदिक वाङ्मय में सृष्टि प्रक्रिया विषयक दो प्रकार की धारणाएँ अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित दिखलायी देते हैं। प्रथम स्थपति द्वारा ठोंकपीटकर तैयार किया गया विश्व का स्थापत्य सृजन तथा दूसरा प्राकृतिक विकसनशील प्रक्रिया के अन्तर्गत नैसर्गिक उत्पत्ति का सृजन सिद्धान्त है। तैत्तिरीय एवं शतपथब्राह्मण में प्रजापति

---

1. किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीत्। यतोद्यावा पृथ्वी निष्टतक्षुः। तै० ब्रा० 2.8.9 6 द्रष्टव्य ऋग्वेद 10.81.4
2. ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्। यतो द्यावा पृथ्वी निष्टतक्षुः। तै० ब्रा० 2.8.9.6
3. तै० ब्रा० 2.8.9.5
4. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। ऋ० सं० 10 121.1

को देवाधिदेव तथा सम्पूर्ण सृष्टि का उत्पत्तिकारक बतलाया गया है[1]। ऋग्वेद में विराट् पुरुष को ही विश्व की उत्पत्ति का एकमात्र कारक बतलाया गया है। यही प्रजापति देवों, असुरों दोनों के ही जनक बतलाये गये हैं। इस प्रकार प्रजापति सृष्टि के आदि स्रष्टा हैं। इसी क्रम में अनेक देवों को विविध प्रकार के पदार्थों-तत्त्वों के सृष्टिकर्ताओं के रूप में वर्णित किया गया है। जिनकी सृष्टि में विशेषज्ञता अपेक्षित थी, वहाँ विशेषज्ञ दैवी शक्तियों की परिकल्पना की गयी है। इनमें तक्षक एवं ऋभुओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपनिषदों में सृष्टि प्रक्रिया में परम तत्त्व ब्रह्म की माया को आदि जननी के रूप में उपन्यस्त किया गया है। इस औपनिषदिक धारणा के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड माया का विराट् एवं विकसित रूप है। इसी धारणा के अनुगमन में विश्व को देवी से निर्गत बतलाया गया है। तदन्तर यह विश्व देवी का रूप बन गया। विश्वरूप में स्वयं को परिवर्तित कर देवी ने सृजनक्रिया सम्पन्न की[2]। इस प्रकार सर्वव्यापी परमेश्वर ब्रह्म ने अपनी माया से स्वयं को जीव बनाकर अनन्तरूपों में प्रकट किया। प्रकारान्तर से कह सकते हैं कि ब्रह्म ही अपनी मायावी शक्ति से अनन्त जीवों की कल्पना करता है तथा उन अनन्त जीवात्माओं में स्वयं प्रविष्ट होकर उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

सांख्य दर्शन के मतानुसार समस्त ब्रह्माण्ड पुरुष और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न हुआ है। पुरुष और प्रकृति में पूर्णतया आत्मसंविलयन के कारण यह सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक विश्व विरचित हुआ है।

शतपथब्राह्मण का कथन है कि सृष्टि के आरम्भ में मात्र असत् की सत्ता थी[3]। इसी असत् के अनन्तर सत् की उत्पत्ति हुई। हम पूर्व में अन्यत्र भी यह कह आये हैं कि सर्वप्रथम असत् की ही सत्ता थी तथा इसी असत् से सत् एवं तदनन्तर समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। इस कथन पर विद्वानों में वैमत्य रहा है। उनका अभिमत है कि असत् तो निषेधात्मक शून्य की स्थिति है जिससे किसी भी सत्ता का जन्म संभव नहीं है, इसीलिये भारतीय परम्परा में सत् से ही समस्त सृष्टि की कल्पना की गयी है, असत् से तो कोई सत्ता उत्पन्न ही नहीं

1. ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। प्रजापतिः। श० ब्रा० 11.1.6.2
2. '.........सत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तै० उ० 2.6
3. असद्वा इदमग्र आसीत्। श० ब्रा० 6.1.1.1

हो सकती, क्योंकि असत् वस्तु एवं सत्ता का निषेध करता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो शतपथब्राह्मण के इस वाक्य में कोई विसंगति नहीं प्रतीत होती। असत् से सत् की उत्पत्ति होने का अर्थ यहाँ अभीष्ट ही नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थकार के कथन का तात्पर्य मात्र इतना है कि सृष्टि के आरम्भ में कुछ भी विद्यमान नहीं था। यही कारण है कि जो भी रचना सर्वप्रथम हुई वह सत्-स्वरूपा ही हुई। अतएव असत् से सत् के उत्पन्न होने का यहाँ कथन ही अभीष्ट नहीं है।

ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार उस प्रजापति रूप अस्तित्व विहीन अनादि सत्ता ने अस्तित्व में प्रकट होने की कामना की,[1] क्योंकि उस समय ब्रह्माण्ड की कोई भी वस्तु नहीं थी। इसके बाद निराकार उस सत्ता ने एक अण्डे का रूप धारण किया जो संवत्सर अर्थात् एक वर्ष के बाद दो भागों में बँटकर पृथिवी और आकाश वन गया। जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि प्रजा के रूप में अनन्त-रूप धारण करने की इच्छा के वाद प्राजापत्य सृष्टि उस समय बनी जब आदि में विद्यमान सलिल पर तैरते हुए ब्रह्माण्ड हिरण्यगर्भ का प्रस्फुटीकरण हुआ। इस हिरण्यगर्भ से वह परमेश्वर प्रकट हुआ तथा विश्वसृष्टि की प्रवल इच्छा से अभिप्रेरित होकर उसने सम्पूर्ण सृष्टि कर डाली।

गोपथ तथा सामविधान ब्राह्मणों के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र ब्रह्म ही स्थित था[2]। ध्यातव्य है कि यही ब्रह्म पूर्वोक्त प्रजापति के रूप में उपन्यस्त है। एक बार सृष्टि करने की इच्छा से अभिप्रेरित होकर ब्रह्म ने तूष्णी मन से ध्यान किया। ब्रह्म का यह तूष्णी मन ही प्रजापति का रूप था अर्थात् यही तूष्णी मन प्रजापति के रूप में अवतीर्ण हुआ[3]। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में भी यही अभिमत व्यक्त किया गया है। इसके अनुसार ब्रह्म ने ही प्रजापति का सृजन किया[4]। ब्रह्म से प्रजापति के सृजित होने के कथन का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म के मन के मूल में ही प्रजापति रूप मूल तत्त्व विद्यमान था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसी भाव को यह कहकर व्यक्त किया गया है कि असत् मन से प्रजापति का सृजन हुआ[5] अर्थात् उस तूष्णी मनस् तत्व से प्रजापति उत्पन्न हुआ जो

1. इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। तै० ब्रा० 2.2.9
2. ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् गो० ब्रा० 1.1
3. स तूष्णीं मनसा ध्यायत्। तस्य यन्मनासीत् स प्रजापतिरभवत् सा० वि० ब्रा० 1.1
4. प्रजापतिं ब्रह्माऽसृजत। जै० उ० ब्रा० 7.1.1
5. असतोऽधिमनोऽसृज्यत मनः प्रजापतिमसृजत। तै० ब्रा० 2.2.9.10

असत् स्थिति में भी विद्यमान था। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं मानना चाहिए कि असत् (निषेधात्मक शून्य की स्थिति) से प्रजापति उद्‌भूत हुए। असत् सृष्टि की उस पूर्वावस्था मात्र को द्योतित करता है जिसमें कुछ भी सत्ता विद्यमान ही नहीं थी। उस स्थिति में भी ब्रह्म का तूष्णी मनस् विद्यमान था यद्यपि उसका कोई विकारयुक्त प्रस्फुटित अथवा व्यक्त रूप नहीं था।

'तूष्णी' का अर्थ ही अविकृत, अप्रस्फुटित अथवा अव्यक्त स्थिति है। इस विकासक्रम से स्पष्ट है कि अति प्रारम्भिक असत् स्थिति में ब्रह्म अव्यक्त रूप में स्थित था तथा उसी अव्यक्त तूष्णी मनस् को ही प्रजापति की संज्ञा दी गयी। ब्रह्म का तूष्णी मन ही प्रजापति रूप इस समस्त सृष्टि का जनक है। अतः प्रजापति ब्रह्म की सत्ता का नामान्तर मात्र है, क्योंकि प्रजाओं के अधिपति सर्जक का भावबोध कराना ही प्राधान्येन अभीष्ट था, अतएव ब्रह्म का प्रजापति नाम सृष्टि कर्ता के रूप में अधिक प्रचलित हुआ। प्रायेण सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसी भाव की पुष्टि की है[1]। क्योंकि सभी ब्राह्मणों में बारम्बार यही कहा गया है कि प्रजापति ने अपने को अनेक रूपों में सृजित करने की इच्छा व्यक्त की अथवा सृजन की कामना की, अतः यह इच्छा रूप मनःकल्प ही ब्रह्म के मनस् तत्त्व को सृष्टिकर्ता के रूप में इंगित करता है।

सृष्टि प्रक्रिया :—ब्राह्मणों में सृष्टि प्रक्रिया के बारे में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इस ब्रह्माण्ड के पूर्व कुछ भी नहीं था, न द्यौः था' न अन्तरिक्ष था, न पृथिवी थी, न सृष्टि की अन्य कोई रचना थी। सृष्टि-रचना का मानसिक विचार सर्वप्रथम 'असत्' से ही उपजा था। ब्रह्मरूप प्रजापति की इस इच्छा के उगते ही कि 'प्रस्फुटित हो जाऊँ' उनका तप आरम्भ हो गया। इस तप के फलस्वरूप धूम का उदय हुआ।

धूम के उपरान्त अग्नि उत्पन्न हुई। तब अग्नि की तपन आरम्भ हुई। तपती अग्नि से ज्योति (प्रकाश पुञ्ज) उठा। इस ज्योतिपुञ्ज से अर्चियाँ (लपटें) निकलने लगीं, अर्चियों से मरीचियाँ (धधकती चिनगारियाँ) निकलीं। इन चिनगारियों से उदारों की उत्पत्ति हुई। उनसे अभ्रों (कपिश बादलों) की

1. श० ब्रा० 6.1.3.1 प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् ऐ० ब्रा० 10.1 प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस। जै० ब्रा० 1.68,1.314; 2.375 तथा 3.321

संरचना हुई। इन अभ्रपुञ्जों से वस्ति (पृथुलकाय जलीय गुब्बारे) फूटने लगे जो समुद्र में परिवर्तित हो गया[1]। ब्राह्मणों के अनुसार प्रत्यक्षभूत ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाले प्रजापति व्यक्त सृष्टि की पूर्वावस्था में विद्यमान थे। प्रजापति उस स्थिति में एकाकी ही थे। उनके अतिरिक्त कोई अन्य रचना नहीं थी। उस समय तक काल के नियामक-मापक दिन एवं रात्रि भी नहीं थे। निविड़ अन्धकार में प्रजापति आसीन थे। उन्होंने प्रकाश की इच्छा की, फलतः प्रकाश स्फुट हो गया[2]। एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम सलिल के साथ श्रम किया, तब 'आपः' की रचना हुई। इस प्रकार 'आपः' का प्रथम भौतिक रूप में अभिव्यक्तीकरण समुद्र के रूप में हुआ। आपः में ही प्रकृति के सभी पञ्चतत्त्व सूक्ष्म रूप से अवस्थित थे। ब्राह्मण साहित्य में 'यदाप्नोत् तस्मादापः' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि चूंकि समस्त पञ्चभूत अविकृत, अप्रस्फुटित रूप से 'आपः में समाविष्ट थे, अतः इसे 'आपः' कहा गया है। उस आदि सलिल में ही हिरण्ययाण्ड तैर रहा था। उस स्थिति में आपोमय ही सत्ता थी[3]।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि इस सलिल की उत्पत्ति प्रजापति से हुई[4]। ब्रह्म-मनस् रूप प्रजापति को जब सृजनेच्छा ने प्रेरित किया तो उसने श्रम और तप किया। तव त्रयीविद्या का जन्म हुआ। प्रजापति ने पुनः तप किया तो 'आपः' की उत्पत्ति हुई। यह सलिल सामान्य जल नहीं था, प्रत्युत समस्त पाञ्चभौतिक तत्त्वों को गर्भ में छिपाये हुए विश्व की उद्भव-शक्ति का स्वरूप था। इसका एक रूप समुद्र भी है जिसे तैत्तिरीय ब्राह्मण में गम्भीर 'अम्भ' का नाम दिया गया है[5]। जल-समुद्र बनते ही प्रजापति ने पुष्कर-पत्र (कमल

---

1. इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। न द्यौरासीत्। न पृथिवी। नान्तरिक्षम् तदसदेव सन्मनोऽकुरुत सस्यामिति। तदतप्यत्। तस्मात् तेपानात्। धूमोऽजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्मात् तेपानात् अग्निरजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्यमात्तेपानात् ज्योतिरजायत। तद्भूयोऽतप्यत तस्मात्तेपानादर्चिरजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्मात्तेपानान्मरीचयोऽजायन्त। तद्भूयोऽतप्यत। तस्मात्तेपानादुदारा अजायन्त। तद्भूयोऽतप्यत। तदभ्रमिव समहन्यत। तद्वस्तिमभिनत्। स समुद्रोऽभवत्। तै० ब्रा० 2.2.9.1-3
2. प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। नाहरासीत् न रात्रिरासीत्। सोऽस्मिन् अन्धे तमसि प्रासर्पत्। स ऐच्छत्। स एतमभ्यपद्यत्। ततो वैतस्मै व्यौहत्। व्युष्टिर्वा एष आह्रियते। यद्वैतत् ज्योतिरभवत्। तत् ज्योतिषो ज्योतिष्ट्वम्। पं० ब्रा० 1.6.1.1
3. श० ब्रा० 11.1.6.1, आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास, जै० ब्रा० 3.360
4. सोऽपोसृजत।
5. अम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्। तै० ब्रा० 2.8.9.4

दल) को जल की सतह पर तैरते हुए अनुभव किया कि पृथिवी को धारण करने हेतु कोई आधार है। प्रजापति ने समुद्र के जल में वाराह बनकर डुबकी लगायी तो उन्हें तल में पृथिवी मिली। उन्होंने पृथिवी को उन्मज्जित कर पुष्करपत्र पर रख दिया। तदनन्तर, उन्होंने वायु को प्रवाहित किया तथा पृथिवी को पत्थरों आदि द्वारा ठोस आकार प्रदान किया[1]। एक अन्य विवरण में यह प्रक्रिया कुछ भिन्न प्रकार से वर्णित है। सर्वप्रथम जल सलिल रूप में था[2]। प्रजापति ने विश्व को प्रस्फुटित करने हेतु तब ध्वनि गर्जन किया। तब भूमि, अन्तरिक्ष एवं द्यौः उद्भूत हुए। पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद उन्होंने विश्व रचना करने की इच्छा की तथा तप किया। इस तप के फलस्वरूप सृष्टि की विविध वस्तुएँ प्रस्फुटित[3] हुई। तैत्तिरीय ब्राह्मण में संक्षेप में ब्रह्माण्ड की सृष्टि का उल्लेख किया गया है। असत् से मन की संरचना हुई। मनस् से प्रजापति उद्भूत हुए जिन्होंने जीवों की (प्रजाओं की) सृष्टि रच दी[4]।

शतपथब्राह्मण के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि आदि में ऐसी धारणा थी कि रचना हो जाने के बाद लोकों में स्थिरता नहीं आ सकी थी। रथ के चक्र अथवा कुम्हार के चक्के की भाँति ये लोक न तो दृढ़ थे और न ही स्थिर, जिसके फलस्वरूप उनके विघटित हो जाने व गिर जाने का निरन्तर भय बना हुआ था। प्रजापति ने इस स्थिति पर चिन्तन किया तथा पृथिवी को

---

1. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापतिरश्राम्यत्। कथमिदं स्यादिति। सोऽपश्यत्पुष्करपर्णमतिष्ठत्। सोऽमन्यत। अस्ति वै तत्। यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति। स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्च्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यदप्रथयत्। तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम्। अभूद्वा इदमिति। तद्भूम्यै भूमित्वम्। तां दिशोऽनुवातस्समवहत् तां शर्कराभिरदृंहत्॥ तै० ब्रा० 1.1.3.6-7
2. दोलोकों के अन्तराल में सलिल विद्यमान था—सलिलं वा इदमन्तरासीत्॥ तै० ब्रा० 1.5.2.5
3. तद्वा इदमापः सलिलमासीत्। सोऽरोदीत्प्रजापतिः। स कस्मा अज्ञि। यद्यस्या अप्रतिष्ठाया इति। यदप्स्ववापद्यत। सा पृथिव्यभवत्। यद्व्यमृष्ट। तदन्तरिक्षमभवत् यदूर्ध्वमुदमृष्ट। सा द्यौरभवत्। यदरोदीत् तदनयो रोदस्त्वम्। य एवं वेद नास्य गृहे रुदन्ति। एतद्वा एषां लोकानां जन्म। य एवमेषां लोकानां जन्म वेद। नैषु लोकेष्वार्तिमार्च्छति। स इमां प्रतिष्ठामविन्दत। स इमां प्रतिष्ठांवित्वाऽकामयत प्रजायेयेति। तै० ब्रा० 2.2.9.2-5
4. असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तै० ब्रा० 2.2.9.10

पर्वतों और नदियों द्वारा, अन्तरिक्ष को गति एवं गतिशील क्रियाओं और प्रकाश कणों द्वारा तथा द्यौः को बादलों एवं नक्षत्रों द्वारा भरकर सुदृढ़ कर दिया[1]।

हिरण्याण्ड—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'आपः' सलिल की सत्ता के बाद हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हुआ[2] : प्रजापति को ही हिरण्यगर्भ कहा गया है[3]। इसी हिरण्यगर्भ रूप प्रजापति में समस्त ब्रह्माण्ड समाविष्ट था। शतपथब्राह्मण में पुरुषमेध का वर्णन मिलता है[4]। पञ्चरात्र को ब्राह्मण साहित्य में पञ्चाक्षर अथवा पञ्चदेव कहा गया है[5]। अ, इ, उ, ऋ, ऌ—ये पञ्चाक्षर हैं। प्रथम तीन अ, इ तथा उ क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा इन्द्र के प्रतीक हैं। ऋ तथा ऌ क्रमशः अग्नि एवं सोम के प्रतीक हैं। ये पञ्चाक्षर उक्त पञ्चदेव भी हैं। ये ही पञ्चप्राण भी कहे गये हैं। आदि सत्ता 'आपः' में ही आण्ड समाविष्ट है। इस आण्ड में रेतस् अथवा शुक्र के रूप में प्राण स्थित रहता है। रेतस् संयुक्त प्राण हिरण्याण्ड का गर्भ होता है[6]। अग्नि एवं आपः के पारस्परिक सम्पृक्त होने (मिथुनी करण) से अग्नि का जो रेतस् उत्पन्न हुआ, वही हिरण्याण्ड बन गया। अतएव अग्नि का रेतस् ही हिरण्य कहा गया है[7]। इसलिए अग्नि ही प्राण है जो आपः (सलिल) के गर्भ में जाकर हिरण्याण्ड का रूप धारण करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही भाव व्यक्त किया गया है कि वह ब्रह्म हिरण्यमय रेतस् (वीर्य) को अपनी योनि (महत् तत्त्व) में धारण करता[8] है।

पृथिवी सृष्टि—हिरण्याण्ड एक संवत्सर पर्यन्त सलिल-समुद्र में तैरता

---

1. तद्यथा ह वा। इदं रथचक्रं वा कौलालचक्रं वा प्रतिष्ठितङ् क्रन्देदेवं हैवेमे लोका अध्रुवा अप्रतिष्ठिता आसुः। स ह प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे। कथन्विमे लोकाध्रुवाः प्रतिष्ठिताः स्युरिति स एभिश्चैव पर्वतैर्नदीभिश्चेमामदृं हद्वयोभिश्च मरीचिभिश्चान्तरिक्षञ्जीमूतैश्च नक्षत्रैश्च दिवम्। श० ब्रा० 11.8.3.1-2
2. ता० ब्रा० 9·9.12. हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे··· भूतानां जातः पतिरेक आसीत्······।
3. प्रजापतिर्वा हिरण्यगर्भः प्रजापतिरनुरूपत्वाय। तै० सं० 5.5.1.2
4. पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति। स एतं पुरुषमेधं पंचरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्। श० ब्रा० 13.5.5.1
5. तानि वा एतानि पंचाक्षराणि। श० ब्रा० 11·1.6.5
6. ता अकामयन्त। कथं नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यंस्तास्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्य-मानासु हिरण्मयमाण्डं सम्बभूवांजातः श० ब्रा० 11.1.6.1
7. रेतोहिरण्यम्, तै० ब्रा० 3.8.2.4
8. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। श्रीमद्भगवद्गीता, 14.3

रहा। तदुपरान्त वह दो भागों में विभक्त हो गया। इन्हीं दो भागों में से जो कपाल भाग था उससे पृथिवीलोक का सृजन हुआ[1]।

पृथिवी के ठीक बाद द्यावा (दिव) लोक का निर्माण हुआ। प्रायः सभी ब्राह्मणग्रन्थों में द्यावा पृथिवी में सर्वप्रथम पृथिवी लोक की रचना हुई बतायी गयी है। शतपथब्राह्मण में पृथिवी को भुवनों में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाली बतलाया गया है[2]। तैत्तिरीय संहिता में भी यही कहा गया है कि सलिल तथा हिरण्याण्ड के माध्यम से सर्वप्रथम पृथिवी उत्पन्न हुई[3]। जैमिनीय ब्राह्मण की धारणा है कि प्रजापति ने श्रम एवं तपश्चर्या द्वारा इस पृथिवी एवं अन्तरिक्ष लोक को सृजित किया[4]। यहाँ तप का अर्थ ज्ञान को कर्म में परिणत करना है। प्रजापति ने अनन्त रूप में प्रकट होने की इच्छा करने के बाद 'भूः' शब्द का उच्चारण किया। 'भूः' शब्द का उच्चारण करते ही पृथिवी का सृजन हो गया[5]। गोपथ ब्राह्मण में भी पृथिवी-सृष्टि के बारे में यही कहा गया है। यहाँ भी प्रजापति द्वारा स्वरोच्चारण मात्र से पृथिवी, अग्नि, ओषधि एवं वनस्पतियों के सृजन का उल्लेख मिलता है[6]।

पृथिवी के आकार एवं स्वरूप के बारे में भी पर्याप्त इंगित उपलब्ध मिलते हैं। शतपथब्राह्मण का कथन है कि पृथिवी का आकार गोवर्ण के बराबर माप में अथवा प्रादेश मात्र में है[7]। मैत्रायणी (1·6.3.) तथा काठक (8.2.) संहिताओं में दिये गये उल्लेखों से पृथिवी की आकृति वाराह के थूथुन (मुख) जैसी बतलायी गयी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने वाराह का रूप धारण कर सलिलार्णव में डुबकी लगायी और पने थूथुन से उत्खनित मिट्टी को पुष्कर पर्ण पर फैलाया तथा इस प्रकार पृथिवी को फैलाया[8]। कुछ भी हो, पृथिवी का

---

1. यत्कपालमासीत् सा पृथिव्यभवत्। श० ब्रा० 6.1.1.11
2. इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा श० ब्रा० 14.1.2.10
3. तै० सं० 4.6.4.2
4. स इमं लोकम् अजनयत्। अन्तरिक्षलोकममुं लोकमिति। जै० ब्रा० 1.357
5. स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्। तै० ब्रा० 2.2.4.2, भूति वै प्रजापतिः इमामजनयत श० ब्रा० 2.1.4.11, प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत स भूरित्येव व्याहरत् स इमामसृजत। जै० ब्रा० 1.101
6. तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीमग्निमोषधिवनस्पतीन्। गो० ब्रा० पू० 1.17
7. इयतीहवा इयमग्र पृथिव्यास प्रादेशमात्री। श० ब्रा० 14.1.2.11
8. स वाराहोरूपं कृत्वोपन्यमज्जत् स पृथिवीमध आर्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत् तत्पुष्कर-पर्णेऽप्रथयत्। यदप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् तै० ब्रा० 1.1.3.6-7

विकास-विस्तार क्रमिक ढंग से ही हुआ। पृथ् धातु विस्तार अर्थ बताती ही है। इसी विस्तरण की बात जैमिनीय ब्राह्मण में भी पृथिवी की उत्पत्ति के प्रसंग में कही गयी है[1]।

शतपथब्राह्मण में वर्णित है कि प्रजापति ने इच्छा की कि इस सलिल से पृथिवी का सृजन करूँ और तब उसने हिरण्याण्ड को दो भागों में विभक्त कर सलिल समुद्र में फेंक दिया। इनसे जल में जो रस-क्षरण हुआ वह कूर्म हो गया तथा सलिल पर स्थित हुआ। वही पृथिवी बन गया। सम्पूर्ण पृथिवी चतुर्दिक् सलिलार्णव पर ही अवस्थित है[2]। क्योंकि प्रजापति ने इसे फैलाया (अप्रथयत्), अतएव यह पृथिवी कहलायी[3]।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण का मत है कि हिरण्यगर्भ (प्रजापति) ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। तदनन्तर वही सम्पूर्ण विश्व का रचयिता बना। उसने ही पृथिवी एवं द्युलोक को धारण किया[4]। तैत्तिरीय संहिता एवं काठक संहिताओं के अध्ययन से यह विदित होता है कि प्रजापति ने उस सलिल समुद्र में अग्नि का चयन किया जिससे पृथिवी की सृष्टि हुई[5]।

शतपथब्राह्मण का कथन है कि अग्निरेतस् से पृथिवी का सृजन हुआ। यह सर्वथा समीचीन भी है। पृथिवी तथा सलिल दोनों में ही अग्नि का वास रहता है। अग्नि ही पृथिवी को आकार प्रदान करता है। अग्नि रेतस् जो सलिल में गिरा था वही फेन बना। सलिल एवं अग्नि के मिथुनीभाव में हुए संघर्षण से फेन का निर्माण हुआ। यही फेन कालान्तर में मृत्तिका (पृथिवी) में परिणत हुआ[6]। इस विवेचन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि आदि सलिल ही पृथिवी

---

1. तमुपाद्धात। इममेवं लोकम्। अस्मिम् सलिलेऽधितम्। अप्रथयत्। यदप्रथयत् तस्मात् पृथिवी। जै० ब्रा० 3.318
2. सोऽकामयत आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयमिति तां संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्स कूर्मोऽभवदथ ....। श० ब्रा० 6.1.1.12
3. अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति तद्भूमिरभवत्तां प्रथयत्सा पृथिव्यभवत्। श० ब्रा० 6.1.1.15
4. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्याज्येनाऽभ्युपाकृतस्य जुहुयादाग्नीध्रपरेत्य भूतानां जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्य मुतेमाम्। तै० ब्रा० 9.9.1.2
5. स एतां प्रजापतिरपां मध्येऽग्निन्मा चिनुत सेयमभवत्। का० सं० 22.9
6. स मृदमसृजतैतं द्वै फेनस्तप्यते यदाप्स्वविष्टमानः प्लवते। स यदोपहन्यते मृदेव भवति। श० ब्रा० 6.1.3.3

तत्त्व की सृष्टि का कारक सिद्ध होता है, क्योंकि आद्यवस्था में उसमें समस्त पञ्चभूत समवेत रहते हैं ।

विश्वसम्बन्धी अवधारणा :–ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्द 'लोक' एवं 'भुवन' संसार का अर्थ द्योतित करते हैं । इन दोनों में भी 'लोक' शब्द अधिकांश रूप से प्रयुक्त हुआ है । यह भी देखा गया है कि 'लोक' शब्द अपने प्रचलित अर्थ के साथ ही एक कालविशेष तथा समूह का भी अर्थ देता है[1] । पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्यौ: तीन लोकों के रूपों में पदे-पदे प्रयुक्त हुए हैं[2] । इनमें से अन्तरिक्ष एवं द्यौ: के लिये नपुंसकलिंग में 'यह' एवं 'वह' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है । पृथिवी को स्त्रीलिंग में 'इयम्' कहकर वर्णित किया गया है ।

स्वर्ग अथवा द्यौ: के लिए 'असौ' अर्थात् 'वह जो दूरस्थ है'[3] का प्रयोग मिलता है । इस सन्दर्भ में यह विलक्षण बात है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो लोकों के वर्णन में भूतकाल एवं भविष्यत् कालवाचक शब्दों का उपयोग किया गया है । यहलोक भूत है अर्थात् गत है अथवा व्यक्त हो चुका है जबकि वह लोक भविष्यत् है अर्थात् उसे अभी व्यक्त होना शेष है[4] । उक्त तीनों लोकों के अतिरिक्त एक स्थलपर इन तीनों लोकों से पृथक् तथा इनके ऊपर एक स्वर्ग लोक का उल्लेख किया गया है । इस स्वर्ग लोक को द्यौ: के भी आगे स्थित[5] माना गया है । तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि इस स्वर्ग (सुवर्ग) लोक में अच्छे व्यक्ति ही जा सकते हैं, बुरे नहीं[6] । 'सुवर्ग' शब्द से ही स्पष्ट है कि यह वह लोक है जो सृष्टि विकास-क्रम

---

1. अर्धोदिते सूर्यं आहवनीयमादधाति । एतस्मिन् वै लोके प्रजापतिः प्रजा असृजत् । प्रजा एव तद्यजमानस्सृजते । अथो भूतं चैव भविष्यच्चावरुन्धे । तै० ब्रा० 1.1·4.3
   एष वा अनुग्रहो लोकमाप्नोति । पं० ब्रा० 1.8.3.3 (लोक शब्द समूह वाची) द्रष्टव्य लोक्यन्त इति लोकाः यज्ञाः वेदाश्च गृह्यन्ते । भट्टभास्कर ।
2. त्रय इमे लोकाः तै० ब्रा० 2.2·3.7; 2.7.9.5; 3.8.10.3 एवं 2·2.4.3 आदि ।
3. इयं वै रजता । असौ हरिणी ॥ तै० ब्रा० 1.8.9.1 इयं वा अदितिः ॥ तै० ब्रा० 1.2.3.4 असौ वै जुहूः । अन्तरिक्षमुपभृत् । पृथिवी ध्रुवा । इमे वै लोकास्स्रुचः तै०ब्रा० 3.3.1·1-2, 3·3.6-11
4. अयं वै लोको भूतम् । असौ भविष्यत् ॥ तै० ब्रा० 3.8.18.5-6
5. एष सुवर्गो लोकः । तद्दैव्यं क्षत्रम् । साश्रीः । तद्ब्रध्नस्य विष्टपम् । तत्स्वाराज्यमुच्यते तै० ब्रा० 3.8.10.3
6. अतिक्रामामि दुरितं यदेनः । जहामि रिप्रं परमे सदस्थे । यत्र यन्ति सुकृतो नापिदुष्कृतः । तमारोहामि सुकृतां नु लोकम् । तै० ब्रा० 3.7.12.5

में अत्यन्त उन्नतस्थान प्राप्त जीवों के लिए ही है। यहाँ श्रेष्ठ दैवी शक्तियों के समूह विराजमान हैं। इसी लोक को भगवान् कृष्ण ने गीता में अपना परम धाम बतलाया है[1]। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में नौ सुवर्गों की चर्चा की गयी है[2]। एक अन्य सन्दर्भ में इसी ब्राह्मण में इक्कीस लोकों का वर्णन मिलता है जिसमें बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, उक्त तीनों लोक तथा आदित्य अभिहित हैं। कभी-कभी इन इक्कीस लोकों को भी स्वर्गलोक[3] कहा गया है।

उपर्युक्त इक्कीस स्वर्ग लोकों के अतिरिक्त ब्राह्मणों में कुछ और लोकों की चर्चा की गयी है। ये सुवर्ग लोग आदित्य के दोनों तरफ स्थित हैं। जो लोक आदित्य के नीचे (अवरेण) हैं उन्हें 'उखः' कहा गया है। ये लोक नश्वर तथा सान्त प्रकृति के हैं। जो लोक आदित्य के उस ओर स्थित हैं अथवा आदित्य से भी परे हैं वे वरीय (वरीयांसः) लोक कहे गये हैं। ये लोक अनन्त, अनश्वर एवं नित्य हैं[4]। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि देश को काल के रूप में अंकित किया गया है तथा इन दोनों का सापेक्षिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ब्राह्मणों का कथन है कि 'बृहत्' ही इन समस्त लोकों का मूलभूत आधार है[5]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक इष्टि के प्रकरण में स्वर्गलोक के सात दरवाज़ों का उल्लेख किया गया है। यह ध्यान देने की वात है कि इष्टियाँ स्वतः स्वर्गलोक की कपाट (दरवाज़े) हैं।

ये सात स्वर्ग के द्वार थे। दिशा प्रथम दरवाजे की, काम (प्रणय)

---

1. 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' श्रीमद्भगवद्गीता, 15.6
2. नव वै सुवर्गा लोकाः ।। तै० ब्रा० 1.2.2.1
3. एक विंशतिर्वै देवलोकाः । द्वादश मासाः पञ्चर्तवः । त्रय इमे लोकाः । असावादित्य एकविंशः । एष सुवर्गो लोकः ।। तै० ब्रा० 3.8.10.3; 3.3.1.7-2. एक विंशो वै सुवर्गो लोकः ।। श० ब्रा० 10.4.2.11
4. अथो या अमुष्मिल्लोकेदेवताः । तासां सायुज्यं सलोकतामाप्नोति । अथो या अमूरितरा अष्टादश । य एवामी उखश्च वरीयांसश्च लोकाः । तानेव ताभिरभिजयति ।। तै० ब्रा० 3.11.10-2 परो वरीयांसो वा इमे लोकाः । अवगरीयांसः ।। ऐ० ब्रा० 1.25 उखो ह वै नामैते लोकाः । येऽवरेणादित्यम् । अथ हैते वरीयांसो लोकाः । ये परेणादित्यम् । अन्तवन्तं ह वा एवै क्षय्यं लोकं जयति । योऽवरेणादित्यम् । अथ हैषोऽनन्तमपारमक्षय्यं लोकं जयति । यः परेणादित्यम् ।। तै० ब्रा० 3.11.7.4; सप्त वै देवलोकाः । ऐ० ब्रा० 1.79
5. बृहद्वा इमान् लोकान् दाधार ।। तै० ब्रा० 1.4.5.4

द्वितीय दरवाजे की, ब्रह्मा तृतीय दरवाजे की, यज्ञ चतुर्थ दरवाजे की, आपः (जल) पाँचवें दरवाजे की, अग्नि वलिमान् छठे दरवाजे की तथा अनुवित्ति सातवें दरवाजे की रक्षा करते हैं[1]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही एक अन्य प्रकरण में अपाघा इष्टि के सम्बन्ध में स्वर्ग के पाँच दरवाज़ों का उल्लेख किया गया है। यहाँ भी इष्टियों को ही दरवाज़ों की संज्ञा दी गई है। ये पाँच हैं, तप, श्रद्धा, सत्य, मनस् एवं चरण[2]। शब्द 'आपघ' की व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि यही स्वर्ग के मार्ग में आनेवाली रुकावटों व बाधाओं को नष्ट करता है। अतएव हमें इससे स्पष्टतया यह अर्थ लगाना चाहिए कि इस संदर्भ में 'द्वार' शब्द स्वर्ग (आत्यन्तिक सुख एवं शान्ति की स्थिति) की प्राप्ति में मानसिक अवस्था के सात सोपान हैं, न कि किसी भौतिक स्वर्ग नामक जगत् के भौतिक द्वार।

ब्राह्मणों में स्वर्ग लोक की स्थिति के बारे में सन्देह भी उठाया गया है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि तीन सुप्रसिद्ध लोकों के अतिरिक्त चौथे स्वर्ग लोक की स्थिति पर प्रश्न करना गलत है[3]। इसी क्रम में पंचब्राह्मण ने एक समस्या उठायी है। उसका कथन है कि बुद्धिमानों का मत है कि छः माह तक व्यक्ति स्वर्ग के मार्ग पर चलता है तथा छः माह तक वह लौटता है। इस प्रकार पंच-ब्राह्मण प्रश्न करता है कि स्वर्गलोक कहाँ है जिसकी प्राप्ति के लिए सत्र का अनुष्ठान किया जाता है[4]। जैमिनीय ब्राह्मण इस बिन्दु को अन्य ढंग से प्रतिष्ठापित करता है—ज्ञात से अज्ञात की ओर कौन जाता है? 'अपर' लोक वास्तव में अन्तरिक्ष के भी आगे है। यह अपर लोक ठीक उसी प्रकार दृश्यमाण है जैसा कि गहरे खोदे हुए कुँए के नीचे अन्धकार दिखाई देता है। कौन जानता है कि स्वर्ग

---

1. ता वा एताः सप्त स्वर्गस्य लोकस्य द्वारः। दिवश्श्येनयोऽनुवित्तयो नाम। आशा प्रथमां रक्षति। कामो द्वितीयाम्। ब्रह्मतृतीयाम्। यज्ञश्चतुर्थीम्। आपः पञ्चमीम् अग्निर्बलिमान् षष्ठीम्। अनुवित्तिस्सप्तमीम्। अनु ह वै स्वर्गं लोकं विन्दति। कामचारोऽस्य स्वर्गे लोके भवति। य एताभिरिष्टिभिर्यजते।। तै० ब्रा० 3.12.3.1
2. ता वा एताः पञ्चस्वर्गस्य लोकस्य द्वारः। अपाघा अनुवित्तयो नाम। तपः प्रथमां रक्षति श्रद्धा द्वतीयाम्। सत्यं तृतीयाम्। मनश्चतुर्थीम्। चरणं पञ्चमीम्। अनु ह वै स्वर्गं लोकं विन्दति। कामचारोऽस्य स्वर्गे लोके भवति। य एताभिरिष्टिभिर्यजते। तै० ब्रा० 3.12.5-7 यहाँ वर्णित तप आदि इष्टियों के देवतागण हैं।
3. अनद्धा वैतद् यद् इमाम् अति चतुर्थं अस्ति वा न वा।। श०ब्रा० 12.4.2.1
4. यत्तु इत्याहुः षड्भिरितोमासैः अध्वानं यान्ति। षड्भिः पुनरायान्ति। क्व तर्हि स्वर्गो लोकोयस्य कामाय सत्रमासत इति। पं० ब्रा० 4.6.1.7

लोक है या नहीं ? किन्तु वह 'अपर' लोक अवश्यमेव यही लोक है[1]। वह 'अपर' लोक तभी पल्लवित होगा जब इस संसार में हम आहुतियों का उत्सर्ग करेंगे। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सुकृत लोक पुण्य कर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है[2]।

जीवधारियों की उत्पत्ति :—

वेदों की यह सामान्य धारणा रही है कि प्रजापति ही समस्त जीवधारियों के उत्पत्तिकर्ता हैं। विभिन्न प्रकार की जीवात्माएँ प्रजापति के शरीर के विभिन्न अङ्गों से उत्पन्न हुई बताई गयी हैं। प्रजापति ने तप किया एवं अन्तर्निविष्ट हुए। तदनन्तर, उन्होंने असुरों को अपनी जङ्घाओं से, मानवों को अपनी जननेन्द्रिय से ऋतुओं को अपने पार्श्व भाग से तथा देवों को अपने मुख से उत्पन्न किया। प्रजापति ने इन सबको उत्पन्न कर इन्हें पृथक् शरीर प्रदान किया। जिनका इस प्रक्रिया में परित्याग कर दिया गया वे सब क्रमशः रात्रि, चन्द्रज्योत्सना, प्रातः सायंकालीन संध्या तथा दिन बन गये[3]।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.3.8) में एक अन्य वृत्त-वर्णन मिलता है। प्रजापति को सृजन करने की व विकसित होने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई तो उन्होंने तप किया। अपने 'असु' (जीवन-प्राण) से उन्होंने असुरों की सृष्टि की। तद-

---

1. को विदिताद् अविदितं उपेयात्। यथा ह वै कूपस्य खातस्य गम्भीरस्य परः तमिस्त्रं इव ददृश एवं ह वै शश्वत् परस्ताद् अन्तरिक्षस्यासौ लोकः। तत्कस्तद्वेद यदि तत्रास्ति बा न वा। अध्य् उ ह वै शश्वद् अस्मिन् एवं लोकेऽसौ लोकः। इतः प्रदानाध्यसौ लोको जीवति। जै० ब्रा० 1.291

2. पुण्यं कर्मसुकृतस्य लोकः। तै० ब्रा० 3.3.10.2 सत्यं वै सुकृतस्य लोकः तै० ब्रा० 3.3.6.11

3. स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्वानभवत। स जघनादसुरानसृजत। तेभ्योमृन्मये पात्रेऽन्नमदुहत्। यास्य सा तनुरासीत्। तामपाहत्। सा तमिस्राभवत्। सोऽकामयत् प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्वानिभवत्। स प्रजननादेव प्रजा असृजत। तस्मादिमाभूयिष्ठाः। प्रजननाद्ध्येना असृजत। ताभ्यो दारुमये पात्रे पयोऽदुहत्। याऽस्य सा तनूरासीत्। तामपाहत। सा ज्योत्सनाऽभवत्। सोऽकामयत प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्वानि भवत् स उपपक्षाभ्यामेवर्तूनसृजत। तेभ्यो रजते पात्रे घृतमदुहत्। याऽस्य सा तनूरासीत्। तामपाहत। सोऽहोरात्रयोस्सन्धिरभवत् सोऽकामयत प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत सोऽन्तर्वानिभवत्। स मुखाद्देवानसृजत। तेभ्यो हरिते पात्रे सोममदुहत्। याऽस्य सा तनूरासीत्। तामपाहत। तदहरभवत्। तै० ब्रा० 2.2.9.5-9

नन्तर उन्हें पिता बनने की अभिलाषा हुई जिसके परिणामस्वरूप पितरों की उत्पत्ति हुई । तब उनमें विचारणाशक्ति की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई जिसके फल-स्वरूप उन्होंने मनुष्यों की रचना की । असुरों, पितरों एवं मनुष्यों की रचना के बाद उन्होंने देवों को विकसित किया । यहीं पर यह तथ्य विचारणीय हो जाता है कि सृष्टि-विकास की प्रक्रिया में आसुरी, पितरों के तथा मानवी रूपों के प्रस्फुटन के पश्चात् श्रम पूर्वक किये गये तप के परिपक्व हो जाने के फलस्वरूप देवत्व का अभ्युदय हुआ । यह विकासक्रम सर्वथा सहज एवं विश्वसनीय प्रतीत होता है । असुर, पितर, मनुष्य तथा देव को प्रजापति की विराट् अनुभूति की 'अम्भस्' स्तरीय रचना बतलाया गया है[1] । यह वर्णन इन योनियों के भोग-स्थानीय स्वरूप एवं स्तर को द्योतित करता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि प्रारम्भ में प्रजापति घृत व मधु रूप में अवस्थित थे । मधु के रूप से ही जीवों को उद्भूत किया गया[2] । यह भी कहा गया है कि प्रजापति ने वैश्वदेव द्वारा एक प्रकार के चातुर्मास्य यज्ञ को उद्भूत किया तथा उन्होंने सृजन के निमित्त सविता देवता की विशेषताओं को अंङ्गीकार किया[3] ।

पञ्चब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण में चार वर्गों का उल्लेख मिलता है जिनके प्रत्येक वर्ग में स्तोम, साम, छन्द, पशु, व्यक्ति, देवता एवं ऋतु सम्मिलित हैं । ये सभी प्रजापति के मुख, वक्षस्थल, उदरभाग तथा चरणों से उत्पन्न हुए बताये गये हैं । पञ्च ब्राह्मण व जैमिनीय ब्राह्मण के इन कथनों से निम्नांकित स्थिति स्पष्ट होती है :—

1.	उत्पत्ति—सिर व मुख	कटि व वक्ष	मध्य भाग व उदर	चरण आधार (प्रतिष्ठा)
2.	स्तोम—त्रिवर्त (9)	पञ्चदश (15)	सप्तदश (17)	एकविंश (21)
3.	साम[4]—रथन्तर	बृहत्	वामदेव्य	यज्ञयज्ञीय
4.	छन्दस्—गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती	अनुष्टुप्

1. प्रजापतिः अकामयत प्रजायेयेति…… …सर्वेष्वम्भो नभ इव भवति । तै० ब्रा० 2.3.8 भट्टभास्कर–अम्भांसि अदनस्थानानि अदेःनुम्भश्च इत्यसुन भोगस्थानानी त्यर्थः
2. घृतञ्च वै मधुच प्रजापतिरासीत् । यतो मध्वासीत् ततः प्रजा असृजत ।। तै०ब्रा० 3.3.4.1
3. वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत ।। तै० ब्रा० 1.6.2.1 प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत तै० ब्रा०
4. केवल तै० ब्रा० में ।

5. पशु[1]—अज (बकरी)	अश्व (घोड़ा)	गो (गाय)	अवि (भेड़)
6. व्यक्ति—ब्राह्मण	राजन्य[2]	वैश्य	शूद्र
7. देवता—अग्नि	इन्द्र	विश्वेदेव	—
8. ऋतु—वसन्त	ग्रीष्म	वर्षा	—

इन ब्रह्माण्डपरक वाक्यों से विश्वसृजन के आधुनिक सिद्धान्तों पर भी प्रकाश पड़ता है। देवों एवं मनुष्यों आदि की सृष्टि अधिकांशतः इनके अनिवार्य स्वरूप पर बल देते हुए प्रकाश डालती है, इन विभिन्न योनियों की उत्पत्ति सम्वन्धी संभावनाओं पर नहीं।

अन्तरिक्ष सृष्टि :—पृथ्वी की रचना हो जाने के उपरान्त हो सम्भवतः अन्तरिक्ष का सृजन हुआ। प्रजापति ने अग्नि द्वारा पृथ्वो से मैथुन सम्पन्न कराया जिससे आण्ड निर्मित हुआ। आण्ड को पोषित करने की इच्छा से प्रजापति ने उसे सम्पुष्ट किया। उस आण्ड के फूट जाने से उसके गर्भ से वायु का निर्माण हुआ। वायु का जो अश्रु क्षरित हुआ उससे वयांसि की सृष्टि हुई। कपाल पर स्थित रस मरीचि बने तथा कपाल अन्तरिक्ष बन गया[3]। इसी प्रकार सृष्टि निर्माण की अदम्य इच्छा लिये प्रजापति ने समस्त लोकों की रचना की। इस क्रम में अग्नि से युक्त पृथ्वी, वायु से युक्त विष्णु के पदन्यास हेतु अन्तरिक्ष एवं आदित्य से युक्त द्युलोक सत्ता में आये[4]। इस विवेचन से विदित होता है कि प्रजापति ने आदि सलिल में विद्यमान अग्नि से पृथ्वी का मिथुनभाव सम्पन्न कराया जो अन्तरिक्षादि की रचना का कारण बना[5]।

वायु सृष्टि :—गोपथब्राह्मण का कथन है कि 'ऊँकार' की द्वितीय स्वरमात्रा से

---

1. केवल पं० ब्रा० में।
2. जै० ब्रा० में क्षत्रिय शब्द है।
3. सोऽकामयत प्रजापतिः। भूय एवं स्यात्प्रजायेयेति सोऽग्निना पृथ्वीं मिथुनं समभवत्तत आण्डं समवर्तत तदभ्यमृशत्पुष्यस्त्विति पुष्यतु भूयोऽस्त्वित्येव तदब्रवीत्। स यो गर्भोऽन्तरासीत्। स वायुरसृज्यताथ यदश्रु संक्षरितमासीत्तानि वयांस्यभवन्नथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्ता मरीचयो भवन्नथ यत्कपालमासीत्तदन्तरिक्षमभवत्। श० ब्रा० 6.1.2.1-2
4. विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरिमं लोकमसृजत वात्सप्रेणाग्निं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरन्तरिक्षमसृजत वात्सप्रेण वायुं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिर्दिवमसृजत वात्सप्रेणादित्यं विष्णु क्रमैर्वै प्रजापतिर्दिशोऽसृजत। श० ब्रा० 6.5.4·7
5. श० ब्रा० 6.1.2.1

वायु की सृष्टि हुई[1]। जैमिनीय ब्राह्मण में वायु को अन्तरिक्ष में उद्दीप्त रूप से दृश्यमाण बतलाया गया है। शतपथब्राह्मण का भी अभिमत है कि प्राण से अग्नि, अग्नि से वायु, वायु से आदित्य तथा आदित्य से चन्द्रमा तथा चन्द्रमा से सभी नक्षत्र उद्दीप्त होते[2] हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि वायु ने ही अन्तरिक्ष लोक को दृढ़ किया[3]।

विविध सृजन :—पृथ्वी तथा अन्तरिक्षादि लोकों की रचना हो जाने पर समस्त ब्रह्माण्ड में आदित्य ही देदीप्यमान तत्त्व था। इस देदीप्यमान ज्योति को दिन का नाम दिया गया। देवों के सृजन हेतु प्रजापति ने दिन तथा असुरों के सृजन हेतु रात्रि को रचना की[4]। अग्नि की ज्योति को ब्रह्माण्ड को प्रथम ज्योति बतलाया गया है, क्योंकि पृथ्वो पर अग्नि ही अत्रस्थित है। प्रजाएँ (जीवगण) भी इसी विश्वव्यापिनो ज्योति की प्रतिरूप हैं। वे इस ज्योति को प्रजननक्रिया के माध्यम से धारण करती हैं। यह ज्योति रेतस् के रूप में अवस्थित रहती है[5]। इसी रेतस् की रक्षा व संवर्धन से ब्रह्मचर्य की रक्षा व संवर्धन का उपदेश परवर्ती पुराणादि साहित्य में अंकित है। सम्पूर्ण वैदिक संस्कृति इस रेतस् को प्रशस्ति करती है। दिन रात आदि को उत्पत्ति के बाद संवत्सर को संरचना भी की गयी। संवत्सर को 'आत्मा' तथा 'वाक्' के मिथुनीभाव से उद्भूत हुआ बतलाया गया है। यह 'वाक्' ही संवत्सर है[6]। यह वाक् ऋक्, यजुः एवं साम का भी कारणभूत तत्त्व है। तदनन्तर विष्णु के पादक्रमों द्वारा प्रजापति ने अर्द्धमासों, ऋतुओं एवं संवत्सर आदि का सृजन सम्पन्न किया[7]।

---

1. तस्य द्वितीयया स्वरमात्रयाऽन्तरिक्षं वायुं यजुर्वेदं भुव इति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्द········ गो० ब्रा० पू० 1.18
2. प्राणेन वा अग्निर्दीप्यते। अग्निना वायुर्वायुनादित्य आदित्येन चन्द्रमाश्चन्द्रमसा नक्षत्राणि ....। श० ब्रा० 10.6.2.11
3. वायुना हीदं यदन्तरिक्षं न समुच्छति, ऐ० ब्रा० 10 41
4. स यदस्मै देवान्ससृजानाय। दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्ससृजानाय तम इवास तां रात्रिमकुरुत तेऽहोरात्रे, श० ब्रा० 11 1.6.11
5. अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिरग्निर्ह्यर्वास्मिल्लोके विश्वं ज्योतिरग्निमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां रेतःसिग्भ्यामुपदधातीमौ वै लोकौ रेतः सिचावनन्तर्हितं तदाभ्यां लोकाभ्यामग्निं दधाति——। श० ब्रा० 7.3.2.25
6. वाक् संवत्सरः, ता० ब्रा० 10.12.1
7. विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरर्द्धमासानसृजत वात्सप्रेण मासान्विष्णु क्रमैर्वै प्रजापतिऋतूनसृजत वात्सप्रेण संवत्सरं तद्यद्विष्णुक्रमवात्सप्रे भवतऽएतदेव तेन सर्वं सृजते। श० ब्रा० 6.5.4.7

ऋतु निर्माण :—जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है कि चूंकि प्रजापति ने इच्छा की कि अनेक होना चाहता हूँ, अतएव प्रजनन माना गया है। यह इच्छा व्यक्त कर प्रजापति ने स्वयं को तपाकर तीन ऋतुओं का सृजन किया। प्रथमतः ऋत्विज के रूप में उनके तपोरत होने पर 'ग्रीष्म ऋतु' की सृष्टि हुई, द्वितीयतः तपोरत होने पर वर्षा ऋतु की तथा तृतीयतः तपोरत होने पर हेमन्त ऋतु की उत्पत्ति हुई। इन तीनों ऋतुओं का द्विधा व्यूहन किया गया जिसके फलस्वरूप ग्रीष्म से बसन्त, वर्षा से शरद तथा हेमन्त ऋतु से शिशिर ऋतु उत्पन्न हुई[1]। इस प्रकार छः ऋतुओं का विधान हुआ। इन षड्ऋतुओं को भी द्विधा विभक्त करने पर बारह मास बने। तप की पूर्वोक्त प्रक्रिया द्वारा इन बारह मासों से चौबीस अर्द्धमास सृजित हुए। अर्धमासों के तप के बाद अहोरात्रों की भी सृष्टि हुई।

नक्षत्र विज्ञान :—शतपथब्राह्मण में नक्षत्रादि की सृष्टि का विवरण उपलब्ध है। अनेक प्रजाओं के रूप में अपने को उत्पन्न करने वाले प्रजापति ने आदित्य एवं द्यु की मिथुनवृत्ति द्वारा आण्ड की रचना की। उस आण्ड को रेतस् वहन करने हेतु प्रजापति ने आदिष्ट किया। इसके परिणामस्वरूप चन्द्रमा का सृजन हुआ। चन्द्रमा से जो रेतस् कण अश्रुरूप में क्षरित हुए वे नक्षत्र बन गये[2]।

सूर्य चन्द्र की भाँति अपने सीमित परिवेश में नक्षत्र भी काल विभाजक तत्त्व थे। 'नक्षत्र' में 'क्षत्र' शब्द का अर्थ शक्ति अथवा प्रभुत्व है। जिसमें यह शक्ति

---

1. सोऽकामयत-बहु स्यां प्रजायेय भूमानं गच्छेयम् इति। स तपोऽतप्यत। स आत्मन्न ऋत्वियमपश्यत्। ततस्त्रीनृऋतन् असृजतेमानेव लोकान्। यद् ऋत्वियादसृजत तद्ऋतूनां ऋतुत्वम्। यद् ऋत्वियादजनयत् तस्माद् ऋत्विज इत्याख्यायन्ते। स यत्प्रथमं अतप्यत ततो ग्रीष्मं असृजत। तस्मात्स बलिष्ठं तपति। यद्द्वितीयम् अतप्यत् ततो वर्षां असृजत। तस्मात् ता उभयं कुर्वन्त्याच तपन्ति वर्षन्ति च। यत्तृतीयमतप्यत् ततो हेमन्तम् असृजत्। तस्मात् स शीततम इव। त्रीन् सतोऽभ्यतप्यत। तान्द्वेधा व्यौहत्। ते षड्ऋतवोऽभवन्। स ग्रीष्मादेव वसन्तं निरममीत वर्षाभ्यश्च शरदं हेमन्ताच्छिशिरम्। तस्मादेत ऋतूनामुपश्लेषा इव निर्मिता हि। षट्सतोऽभ्यतप्यत। तान्द्वेघा व्यौहत्। ते चतुर्विशतिरर्धमासा अभवन्। चतुर्विशतिं सतोऽभ्यतप्यत। स ऐक्षत यदि द्वेधा व्यूहिष्यामि न विभविष्यन्ति हन्त निर्मिमा इति। तेभ्यस्सप्त च शतानि विंशतिं चाहोरात्राणि निरममीत। जै० ब्रा० 3.1.

2. सोऽकामयत। भूय एव स्यात्प्रजायेयेति स आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत्त आण्डं समवर्तत तदभ्यमृशद्रेतो बिभृहीति ततश्चन्द्रमा असृज्यतैष वै रेतोऽथ यदश्रु संक्षरितमासीत्तानि नक्षत्राण्यभवन्। श० ब्रा० 6.1.2.4

या प्रभुत्व विद्यमान न हो वह 'नक्षत्र'[1] (न + क्षत्र) है। ये नक्षत्र पूर्व में संभवतः आदित्य की भाँति ही शक्ति अथवा ज्योति के पुञ्ज थे। ज्यों ही आदित्य का प्रादुर्भाव हुआ, ये छोटे-छोटे ज्योति-पुञ्ज आदित्य-शक्ति द्वारा परिगतशक्ति हो गये। शक्ति का आदान करने की क्षमता रखने वाला होने के कारण ही 'आदित्य' संज्ञा प्रसिद्ध हुई तथा क्षत्र (शक्ति-ज्योति) राहित्य के कारण ही नक्षत्रत्व निर्धारित हुआ[2]। शतपथब्राह्मण के एक उपाख्यान में कहा गया है कि एक बार जीवधारियों की सृष्टि करते समय प्रजापति को पापी मृत्यु ने आक्रान्त कर लिया। प्रजापति ने उसे नष्ट करने हेतु घोर तप आरम्भ किया। यह तप सहस्रों संवत्सरों तक चला। इस तप के परिणामस्वरूप उनके रोमकूपों से ज्योतिपुंज निकल कर ऊर्ध्वगामी हुए। ये ज्योति स्फुलिंग ही नक्षत्र बन गये। ये नक्षत्र उतनी संख्या में वने जितनी रोमगर्तों (रोमछिद्रों) की संख्या थी। जितने रोमगर्त थे उतने ही सहस्र संवत्सर के मुहूर्त वने[3]। मुख्य रूप से सत्ताइस नक्षत्र तथा इतने ही उपनक्षत्र होते हैं[4] जिनका वर्णन शतपथ ब्राह्मण में सविस्तर है। प्रत्येक नक्षत्र में दस हजार आठ सौ मुहूर्त होते हैं। इन मुहूर्तों के पन्द्रह गुने क्षिप्र होते हैं। जितने क्षिप्र होते हैं उनके पन्द्रह गुने सत्तार्ह होते हैं। सत्तार्ह के पन्द्रह गुने इद तथा इद के पन्द्रह गुने प्राण होते हैं। जितने प्राण होते हैं उतने अन होते हैं। अन की संख्या के बराबर ही निमेष होते हैं। जितने निमेष होते हैं उतने ही रोम-गर्त होते हैं। उपरिगणित रोमगर्तों की संख्या प्राणों की संख्या के बराबर होती है और इसी संख्या के बराबर श्वेदायन होते हैं। श्वेदायन की संख्या के वराबर ही स्तोक होते हैं जो वर्षण करते हैं[5]।

---

1. श० ब्रा० 2.1.2.18
2. श० ब्रा० 2.1.2.17
3. प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानम्। पाप्मा मृत्युरभिपरिजधान स तपोऽतप्यत सहस्रं संवत्सरान्पाप्मानं विजिहासन्। तस्य तपस्तेपानस्य। एभ्यो लोमगर्तेभ्य ऊर्द्ध्वानि ज्योतींष्यायंस्तद्यानि तानि ज्योतींष्येतानि तानि नक्षत्राणि यावन्त्येतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्ता यावन्तो लोभगर्तास्तावन्तः सहस्रसंवत्सरस्य मुहूर्ताः। श० ब्रा० 10.4.4. 1-2
4. तानि वा एतानि सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि सप्तविंशतिः सप्तविंशतिर्होपनक्षत्राण्येकैकनक्षत्रमनूपतिष्ठन्ते··········, श० ब्र० 10.5.4.5
5. दश च वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि। संबत्सरस्य मुहूर्ता यावन्तो मुहूर्तास्तावन्ति पञ्चदशकृत्वः क्षिप्राणि यावन्ति क्षिप्राणि तावन्ति पञ्चदशकृत्व एतर्हीणि यावन्त्येतर्हीणि तावन्ति पञ्चदशकृत्व इदानीनि यावन्तीदानीनि तावन्तः पञ्चदशकृत्वः प्राणा यावन्तः प्राणास्तावन्तोऽना यावन्तोऽनास्तावन्तो निमेषा यावन्तो निमेषास्तावन्तो लोमगर्ताः यावन्तोलोमगर्तास्तावन्ति स्वेदायनानि यावन्ति स्वेदायनानि तावन्त एते स्तोका वर्षन्ति। श० ब्रा० 12.3.2.5

तैत्तिरीय ब्राह्मण में देवों को नक्षत्र कहा गया है तथा उन्हें देवगृह की संज्ञा दी गयी[1] है। यम भी नक्षत्र के रूप में परिगणित हैं। कृत्तिका से विशाखा नक्षत्र तक देवनक्षत्र हैं तथा अनुराधा से अपभरणी नक्षत्र तक यम-नक्षत्र हैं। देवनक्षत्र दक्षिण की ओर से देवलोक की तथा यम-नक्षत्र उत्तर की ओर से यमलोक की परिक्रमा करते हैं[2]। ब्राह्मणों में विभिन्न नक्षत्रों में विभिन्न कर्मानुष्ठान प्रारम्भ करने का विधान वतलाया गया है। उदाहरणार्थ, रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए,[3] क्योंकि रोहिणी नक्षत्र में ही प्रजापति ने जीवसृष्टि की इच्छा से अग्नि का आधान किया था।

नक्षत्रों की सृष्टि के साथ-साथ तारों की रचना भी हुई। तैत्तिरीय ब्राह्मण का अभिमत है कि द्यावा-पृथ्वी के मध्य अव्यक्त रूप से विद्यमान आपः (सलिल) में पृथ्वी के ऊर्ध्वगमन से क्षुब्ध होकर जो बुलबुले (बुद्‌बुद्) बनकर तैरने लगे, वे ही तारकगण वन गये[4]।

नक्षत्रगणों आदि की सृष्टि के साथ ही साथ वर्षण भी सृष्ट हुआ। वर्षा जीवन का आधार है। यही अन्नादि रचना का भी कारण है। प्रजापति ने वाक् की सहायता से जल की रचना[5] की। वर्षा जल (आपः) में सभी पञ्चभूत तत्त्व व्याप्त रहते हैं (सर्वंआप्नोति)। इसीलिए ही इसे 'आपः' कहा गया है[6]। वर्षा की सृष्टि के उपरान्त अन्न इत्यादि की रचना हुई। धीरे-धीरे हल की सीता (लाङ्-गलपद्धति) से भूमि को जोत एवं बोकर[7] अन्न की खेती का विकास प्रारम्भ

---

1. देवगृहा वै नक्षत्राणि, तै० ब्रा० 1 5.2.11
2. देवनक्षत्राणि, वा अन्यानि। यमनक्षत्राण्यन्नानि। कृत्तिकाः प्रथमम्। विशाखे उत्तमम्। तानि देवनक्षाणि। अनूराधाः प्रथमम्। अपभरणीरुत्तमम्। तानि यमनक्षत्राणि। यानि देवनक्षाणि तानि दक्षिणेन परियन्ति। यानि यमनक्षत्राणि तान्युत्तरेण………। तै० ब्रा० 1.5.2.6-7
3. या असौ वैशाखस्यामावास्या तस्यामादधीत सा रोहिण्या सम्पद्यत आत्मा वै प्रजा पशवो रोहिण्यात्मन्येवैतत्प्रजायां पशुषु प्रतितिष्ठति अमावास्या वा अग्न्याधेयरूपन्तस्मादमावास्यायामेवाग्नी आदधीत पौर्णमास्यामन्वारभेतामावास्यायान्दीक्षेत, श० ब्रा० 11.1.1.7
4. सलिलं वा इदमन्तरासीत्। यदतरन् तत्तारकाणां तारकत्वम्। तै० ब्रा० 1·5.2.5
5. सोऽपोऽसृजत वाच एवं लोकाद् वागेवास्य सासृज्यत, श० ब्रा० 6.1.1.9
6. सर्वमाप्नोद्यदिदं किञ्च यदाप्नोत्तस्मादापः, श० ब्रा० 6.1.1.9
7. स यवामावपति, श० ब्रा० 3.7.1.4

हुआ[1]। यही कृष्य अन्न हुआ। जो वनस्पतियाँ स्वयमेव उगीं वे वन्य कहलायीं।

ऊँकार एवं त्रयी विद्या:—वैदिक वाङ्मय में 'ऊँकार' सर्वाधिक महनीय तत्त्वों में से अन्यतम तत्त्व है। 'प्रणव' इसका नामान्तर है। यह एकाक्षर समस्त सारस्वत सृष्टि एवं परा (वेदात्मिका) विद्या का प्रतिनिधिभूत तत्त्व है। इसे ही परवर्ती काल का 'अक्षर ब्रह्म' बतलाया गया है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि फेन मृद् तथा सिकतादि की संरचना के बाद जो अंश क्षरित हुआ वही अक्षर बनकर अष्टाक्षरा गायत्री-छन्द बन गया[2]। जैमिनीय ब्राह्मण का अभिमत है कि प्रजापति ने जब स्वयं को अनेक रूपों में सृजित करने की इच्छा की तो अठारह अक्षरों का सृजन हुआ। ये अक्षर त्रिवृत्, स्तोम एवं गायत्र्यादि छन्द बन गये। इसमें से गायत्री छन्दवाला प्रथमाक्षर नवम था जो प्रणव की संज्ञा से अभिहित हुआ[3]। प्रणव अर्थात् ऊँकार में विद्यमान अकारादि त्रिमात्राओं को वैदिक वाङ्मय में त्रयी विद्या (ऋक्, यजुष् तथा साम), त्रिलोक (भूः भुवः एवं स्वःलोक) एवं तीन अग्नि (गार्हपत्य, आहवनीय तथा आदित्य) का समन्वित रूप बतलाया गया है[4]। यह अवधारणा परवर्ती पुराणसाहित्य में भी विस्तारपूर्वक व्यक्त की गयी है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में प्रजापति ने तपश्चर्या एवं श्रम किया और ब्रह्म अर्थात् त्रयी विद्या (ऋक्, यजुः एवं साम) की रचना की[5]।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि यज्ञ का माहात्म्य भी त्रयीविद्या के समतुल्य ही बतलाया गया है। त्रयी विद्या द्वारा ही यज्ञकर्म सम्पादित होता है[6]। देवगण

---

1. कृते योनौ वपते ह बीजम् इति बीजाय वा एषा यो निष्क्रयते यत्सीता यथा ह वा अयोनौ रेतः सिञ्चदेव तद् यद् कृष्टे वपति। श० ब्रा० 7.2.2.5
2. तद्यदसृज्यताक्षरत्। तद्यदक्षरत्तस्मादक्षरं यदष्टौ कृत्वोऽक्षरत्सैवाष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्। श० ब्रा० 6.1.3.6
3. सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेयेय भूमानं गच्छेयमिति। सोऽष्टादशैवाक्षराणि प्रजायत। तानि द्वेधा व्यौहन् नवान्यानि नवान्यानि। स एव त्रिवृच्च स्तोमोऽभवत् गायत्री च छन्दः। सोऽयं सम्पूर्णस्त्रिवृत् स्तोमासीद् अथ गायत्री प्रणवनवमासीत्...... । तद् उदौहत। स एव प्रणवोऽभवत्। जै० ब्रा० 3.321
4. द्रष्टव्य एस० के० बेल्वल्करः हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फिलॉसफी, वाल्यूम 2
5. एम० विन्टरनित्जः हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर, द्रष्टव्य—'एतदृचेत्यृचास्तोमं समर्द्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्त्तनीति सामानि स्वाहेति यजूंषि सैषा त्रयी विद्या प्रथमं जायते। श० ब्रा० 6.2.3.20 'सैषा त्रयी विद्या यज्ञ;' श० ब्रा० 1.1.4.3
6. श० ब्रा० 5.5.5.10

सत्यसेवी होते हैं। सत्य का परिज्ञान त्रयी विद्या से ही संभव है। देवों ने उद्घोषणा की थी कि हम सब यज्ञानुष्ठान करके सत्य (त्रयी विद्या) का विस्तार करें[1]।

शतपथब्राह्मण का कथन है कि प्रजापति ने इस त्रयीविद्या में ही समस्त जीवों को विद्यमान देखा[2]। इसी ब्राह्मणग्रन्थ के अनुसार प्रजापति त्रयी विद्या के साथ ही आदि सलिल (आपः) में प्रविष्ट हुए थे[3]। तब हिरण्याण्ड की सत्ता बनी थी।

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने इच्छा की कि मैं प्रजोत्पादन द्वारा बहुत हो जाऊँ। तब उन्होंने तप किया। तप कर उन्होंने पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग को उत्पन्न किया। पुनः उन तीनों की पर्यालोचना की कि इन लोकों में सारभूत सम्पादनीय क्या है। उन पर्यालोचित लोकों से प्रजापति के संकल्प के अनुसार अग्नि, वायु और आदित्य रूप तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं। पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्यौः से सूर्य उत्पन्न हुए। उन्होंने उन ज्योतियों की पुनः पर्यालोचना की। उन ज्योतियों से तीन वेद उत्पन्न हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद हुए[4]। उन्होंने पुनः उन तीनों वेदों की पर्यालोचना की। उन पर्यालोचित वेदों से व्याहृतित्रय रूप में पापरूप तम के निवारणार्थ तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं। ऋग्वेद से 'भूः' यजुर्वेद से 'भुवः' और सामवेद से 'स्वः' नामक व्याहृति उत्पन्न हुई।

---

1. तद्यत्तत्सत्यम्। त्रयी सा विद्या तेदेवाऽब्रुवन् यज्ञं कृत्वेदं सत्यं तनवामहा इति। श० ब्रा० 9.5.1.18
2. अथ सर्वाणि भूतानि पर्यैक्षत्। स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यदत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा सर्वेषां स्तोमानां सर्वेषां प्राणानां सर्वेषा देवानाम्...........'श० ब्रा० 10.4.2.20.' स ऐक्षत प्रजापतिः त्रय्या वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवा इति, श० ब्रा० 10.4.2.21
3. सोऽकामयत। आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् तत आण्डं समवर्तत। श० ब्रा० 6.1.1.10
4. प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वेमांल्लोकानसृजत-पृथिवीमन्तरिक्षं दिवं तांल्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निरेव पृथिव्या अजायत। वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवस्तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्। तेभ्योऽभित-प्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् तान् वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्। ऐ० ब्रा० 25.6

प्रजापति ने उन व्याहृतित्रय रूप ज्योतियों का पुनः पर्यालोचन किया। उन पर्यालोचित ज्योतियों से तीन वर्ण उत्पन्न हुए—अकार, उकार और मकार[1]। प्रजापति ने इन तीनों वर्णों को एक साथ संयोजित कर दिया। वह एकीभूत वर्णत्रय ही 'ॐ' हुआ[2]। इसीलिये होता सभी के सारस्वरूप 'ॐ' इस प्रणव को प्रयोग के मध्य कहता है। वस्तुतः यह सभी प्रयोग के संग्रह हेतु होता है। यह 'ॐ' स्वर्ग प्राप्ति का कारण होने से स्वर्ग लोक का द्वार है[3] तथा जो यह आदित्य तप रहा है वह भी ॐकार स्वरूप ही है,[4] क्योंकि प्रणव आदित्य की प्राप्ति में साधन रूप है।

मानव सृष्टिः—पृथिवी लोक में अवस्थित मनुष्य, पशु-पक्षी आदि का सृजन मिथुनवृत्ति पर आधृत रहा है। वैदिक वाङ्मय में भी यज्ञानुष्ठान में योषा-वृषा के रूप में मिथुनभाव द्वारा सृजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। विष्णु ने त्वष्टा के रूप में योनि (यज्ञाग्नि) की कल्पना की तथा प्रजापति ने स्वयं गर्भ धारण कर सिनीवाली तथा सरस्वती को गर्भ धारण करने हेतु आदिष्ट किया[5]। मिथुनवृत्ति द्वारा सर्जन की प्रक्रिया के दृष्टान्त ब्राह्मणसाहित्य में प्रतिपादित किये गये हैं। यज्ञ में अग्नि रूप पुरुष तथा सोमरूप स्त्री का युग्म बताया गया है। प्रजापति ने सर्जनेच्छा के वशीभूत होकर स्वयं को इन्हीं दोनों पुरुष-स्त्री के रूप में प्रतिष्ठापित किया। अर्द्धपुरुष एवं अर्द्धनारी का रूप प्रजापति ने धारण किया। उसने अपने अर्द्धभाग से पुरुष तथा शेषार्द्ध से नारी रूप निर्मित किया तथा योषा-वृषा के मिथुनभाव से उसने संसार की रचना की। अग्नि रूप पुरुष शुष्क तत्त्व के रूप में तथा सोमरूप स्त्री आर्द्र रूप में वर्णित है। इन दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त तृतीय की परिकल्पना नहीं की गयी[6]। अग्नि से पुरुष[7] तथा सोम

---

1. अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः।
   वेदत्रयान्निरवृहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥ मनुस्मृति 2.76.
2. वाच्यमस्य परंब्रह्म शब्दब्रह्मोत्तमं त्विदम्।
   तस्य वाचकः प्रणवः इति योगानुशासनम्॥ षड्गुरुशिष्य पा० यो० 1.27
3. 'ओंकारः स्वर्गद्वारम्'-आप० धर्म० 1.13.6
4. तानि शुक्राण्यभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत् तदेतदोमिति। तस्मादोमोमिति प्रणौत्योमिति वै स्वर्गो लोक ओमित्यसौ योऽसौ तपति। ऐ० ब्रा० 25.7
5. मं० ब्रा० 1.4.6-7
6. श० ब्रा० 1.6.3.23
7. पुरुषोऽग्निस्तौ हिरण्मयौ भवतो ज्योतिः। श० ब्रा० 10.4.1.6

के अंश से स्त्री की उत्पत्ति संभव हुई[1]।

वैदिक साहित्य में विराट् (जाज्वल्यमान्) पुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों से चातुर्वर्ण्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) की उत्पत्ति बतलायी गयी है :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत[2] ।।

ऋग्वेद के अनुसार ही एक अन्य धारणा यह व्यक्त की गयी है कि देवताओं से मनुष्य की उत्पत्ति हुई। अग्नि देव के बारे में कहा गया है कि उसकी सन्तान मनुष्य रूप थी[3]। इसी सन्दर्भ में वशिष्ठ को मित्रावरुण का पुत्र कहा गया है[4]। इस धारणा के अनुसार मनुष्य देवों की प्रसूति है।

इसी सन्दर्भ में एक अन्य अभिमत यह भी रहा है कि मनुष्य प्रथमोत्पन्न पुरुष वैवस्वत मनु की सन्तान है। यह वैवस्वत मनु प्रथम यज्ञ के कर्त्ता थे[5]। इन्हीं वैवस्वत मनु को यम रूप प्रथमोत्पन्न पुरुष बतलाया गया है। मानव सृष्टि के इतिहास में यमयमी के युग्म को प्रथम पुरुष एवं प्रथम स्त्री के रूप में माना गया है[6]। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार पितरों की सृष्टि कर लेने के बाद प्रजापति ने मनुष्य की सृष्टि की[7]। इस ब्राह्मण ग्रन्थ ने पत्नी को पति की अर्धाङ्गिनी माना है[8]। यह पहले ही चर्चा की जा चुकी है कि अपत्नीक पुरुष यज्ञानुष्ठान करने का अधिकारी नहीं होता। साथ ही वह सन्ततियुक्त भी नहीं हो सकता[9]। इस ब्राह्मण ग्रन्थ की यही धारणा है कि सन्तति (प्रजा) के सृजन की उत्कट कामना से सृष्टि की आद्यवस्था में प्रजापति ने कठोर तप किया जिसके परिणाम

---

1. तस्माद्यद्यप्यासक्त इव मन्ये ताभिवातं परीयात् श्रीर्वै सोमः, श० ब्रा० 4.1.3.9
2. ऋक् सं० 10.90.13
3. वही 1.96.2
4. वही 7.33.11
5. वही 10.63.7
6. एम० ब्लूमफील्ड 'रेलिजन ऑव् दवेदज' पृष्ठ 48, बी० ए० गाडगिल: जे० बी० आर० ए० एस० वाल्यूम 19, पृष्ठ 60.
7. पितॄन् सृष्ट्वाऽमनसयत् तदनु मनुष्यानसृजत् । तद् मनुष्याणां मनुष्यत्वम् । तै० ब्रा० 2.3.8.3
8. अथोऽर्द्धो वैष आमनो यत्पत्नी, तै० ब्रा० 3.3.3.5
9. अयज्ञो वै एष योऽपत्नीकः न प्रजाः प्रजायेरन तै० ब्रा० 3.3.3.1

स्वरूप उन्होंने स्वयं अन्तर्निविष्ट होकर प्रजननेन्द्रिय से जीवधारी प्रजाओं की सृष्टि की[1]। स्पष्ट है कि मिथुनवृत्ति से मानव सृष्टि परिकल्पित हुई। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि प्रजापति ने वनस्पतियों को अन्न के रूप में पकाया तथा उसे खाकर गर्भ धारण किया। प्रजापति ने अपने ऊर्ध्वगामी प्राणवायु से देवों तथा अपान वायु से मरणधर्मा जीवों की रचना की[2]। पहले भी कहा जा चुका है कि यज्ञ के सन्दर्भ में योषा-वृषा-युग्म ही स्त्री-पुरुष मिथुन को व्यक्त करता है। सौम्य शुक्र को स्त्री (योषा) तथा आग्नेय शुक्र को (पुरुष) बतलाया गया है। यहाँ सौम्य आग्नेय तथा योषावृषा अन्योन्याश्रित मिथुनवृत्ति सन्तानोत्पत्ति में अपरिहार्य होती है[3]। शोणित योषाप्रधान होता है, अतएव उसके गर्भ में स्थित प्राण सौम्य होता है, उसका भूतभाग आग्नेय होता है। पुरुष के सौम्य शुक्र में स्थित आग्नेय वृषाप्राण का स्त्री के आग्नेय शोणित गर्भ में स्थित योषाप्राण के साथ मिथुन भाव सम्पन्न होता है, तब सन्तानोत्पत्ति होती है। सौम्य शुक्र स्थित 'आग्नेय प्राण' पुम्भ्रूण होता है तथा आग्नेय शोणित स्थित 'सौम्य प्राण' ही स्त्रीभ्रूण होता है। शुक्र पुम्भ्रूण का पोषण करता है। पुम्भ्रूण की शक्ति शुक्र की बलिष्ठता पर निर्भर करती है। स्त्रीभ्रूण का पोषण शोणित द्वारा सम्पन्न होता है। इसे भी बलिष्ठ होना चाहिए। पुम्भ्रूण एवं स्त्रीभ्रूण के परस्पर द्वन्द्वात्मक संघर्ष में जो भी अधिक शक्तिशाली सिद्ध होता है वही सन्तति का लिंग बनता है। इसी संघर्ष में जब बलिष्ठ स्त्रीभ्रूण निर्बल पुम्भ्रूण को आत्मसात् कर लेता है तब स्त्रीसन्तति उत्पन्न होती है। यदि पुम्भ्रूण स्त्रीभ्रूण से अधिक बलिष्ठ हुआ तो पुरुषसन्तति होती है। यदि दोनों समान बलशाली होते हैं तो नपुंसक सन्तति उत्पन्न होती है। विशिष्ट अध्ययन के लिए राजस्थान वैदिक तत्त्व शोध-संस्थान, जयपुर द्वारा प्रकाशित 'शतपथब्राह्मण विज्ञान-भाष्य' अवलोकनीय है।

इस सम्बन्ध में, आयुर्वेद शरीर की सूक्ष्मतम इकाई वही मानक है जिसे आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक स्वीकार करता है। इस इकाई को आधुनिक सेल तथा आयुर्वेद शरीरावयव रूप परमाणु या देहपरमाणु मानता है। इस सेल का निर्माण सर्व प्रथम मैथुनकर्मकाल में योनि में विसर्जित शुक्र तथा स्त्री द्वारा प्रदत्त

---

1. सोऽकामयत प्रजायेय इति। स तपोऽतप्यत सोऽन्तर्वानभवत्। स प्रजननादेवं प्रजाअसृजत्। तै० ब्रा० 2.2.9·7
2. स ऊर्ध्वेभ्य एवं प्राणेभ्यो देवानसृजत् येऽवाञ्च प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजा इति श० ब्रा० 6.1.2.11
3. श० ब्रा० विज्ञान भाष्य प्रकाशक: राजस्थान वैदिक तत्त्व शोध संस्थान, जयपुर, 1956

विशिष्ट आर्तव या डिम्ब के संयोग से होता है। शुक्राणु तथा डिम्ब कर्म स्वभाव के पराधीन होते हैं। यदि कर्म स्वभाव पुंबीज और स्त्री बीज के संयोग की ओर है तब दोनों मिल जायेंगे और गर्भ धारण हो जायगा। यदि कर्मस्वभाव दोनों को वियोग की प्रेरणा देता है तो गर्भधारण नहीं होगा। प्राक्तनकर्म दृष्ट्या पुंबीज संयोग का आधार मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में देखना चाहिए।

पुरुष और स्त्री के द्वारा प्रदत्त सृष्टि उत्पादक परमाणु मिलकर मनुष्य बीज का निर्माण होता है। आयुर्वेदीय विद्वान् शुक्र शोणित मिलन में ही केवल गर्भावक्रान्ति की पूर्ण क्रिया नहीं मानने अपितु शुक्र शोणित संगम में जीव का संयोग भी आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार शुक्र शोणित एवं जीव के मिलन की क्रिया को त्रिसंयोगी कहकर गर्भ धारण का कारण मानते हैं। शुक्र शोणित के मिलन को आधुनिक भ्रूणवेत्ता एक आकस्मिक घटना मात्र मानते हैं परन्तु इस मिलन की घटना को वस्तुत: जीव करता है ऐसा आयुर्वेद का मत है। आधुनिक विद्वान् भ्रूण को यथावत् देह मानते हैं जब कि भारतीय परम्परा भ्रूण अव्यक्त से व्यक्तावस्था का स्वरूप माननी है।

जहां तक गर्भ में लिंग की उत्पत्ति का प्रश्न है यह घटना शुक्राणु एवं स्त्री बीज के संयोग के समय ही हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि गर्भ में लिंग निश्चित करने का कार्य लिंग वाहक गुणसूत्र करते हैं। ये लिंग वाहक गुणसूत्र शुक्राणु में एक्स एवं वाई दो प्रकार के होकर एक शुक्राणु में युग्म के रूप में होते हैं।

स्त्री बीज में केवल 'एक्स' गुणसूत्र पाये जाते है। अत: यदि परिपक्व डिम्ब उस शुक्राणु से संयुक्त हो जिसमें 'एक्स' गुणसूत्र हैं तब गर्भ का लिंग स्त्री होगा और यदि डिम्ब उस शुक्राणु से मिले जिसमें 'वाई' गुणसूत्र हैं तो 'एक्स' एवं 'वाई' गुणसूत्र के मिलने पर गर्भ का लिंग पुरुष होगा। ब्राह्मण साहित्य में पुरुष सन्तति एवं स्त्री सन्तति उत्पन्न होने में उत्तरदायी सौम्य शुक्र स्थित आग्नेय प्राण को 'वाई गुणसूत्र तथा आग्नेय शोणित स्थित सौम्य प्राण को 'एक्स' गुणसूत्र की नवीन संज्ञा देकर पहचाना जा सकता है। इस प्रकार सौम्य शुक्र को 'एक्स' तथा आग्नेय शुक्र को वाई गुणसूत्र की मान्यता प्रदान किया जाना श्रेयस्कर होगा।

स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में भ्रूणविज्ञान के विषय में पर्याप्त विमर्श हुआ है।

पुरुष के शुक्र को रेतस् कहा गया है। पुरुष के आण्ड (वृषण) रेतस् का निर्माण करते हैं[1]। इस विचार को मान्यता दी गयी है कि रेतस् स्त्री के गर्भाशय में शोणित से सम्पृक्त हो जाता है। तभी स्त्री गर्भ धारण करती है[2]। गर्भ धारण की स्थिति को 'प्राणायते' कहकर यह भाव स्पष्ट किया गया है कि रेतस्-शोणित के मिलनक्षण में ही भ्रूण में प्राण का सञ्चार हो जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि गर्भिणी स्त्री का वर्ण पाण्डु लिये हुए हो जाता है[3]।

पञ्चब्राह्मण के अभिमत को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि नवजात शिशु का पुँलिग या स्त्रीलिंग होना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के 'प्लस माइनस' के सिद्धान्त पर निर्भर करता है। 'प्लस' पुल्लिग है तथा 'माइनस' स्त्रीलिंग होता है। यास्क का उद्धरण देते हुए सायण का कथन है कि यदि शोणित की अपेक्षा शुक्र का अंश अधिक है तो पुरुष सन्तति होती है, किन्तु यदि स्त्री का शोणित भाग शुक्र की अपेक्षा अधिक होता है तो स्त्री सन्तति होती है। इससे आधुनिक 'एक्स' एवं 'वाई' क्रोमोज़ोम (गुणसूत्र) का आभास मिल जाता है[4]। ब्राह्मण ग्रन्थों में नाभि-नाड़ी एवं भ्रूण की सम्बद्धता पर भी प्रकाश डाला गया है। गर्भ नाभि पर टिका रहता है[5]। बिना सीधा माँ से भोजन प्राप्त किए हुए भ्रूण बढ़ता रहता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भ्रूण स्वतः भोजन प्राप्त करने हेतु कोई क्रिया नहीं करता और न ही विशिष्ट रूप से उसे कोई भोजन प्रदान ही किया जाता है[6]। भोजन स्वयमेव सीधा भ्रूण के अन्दर पहुँचकर उसमें आत्मसात् होता रहता है। माता को गर्भस्थ शिशु को प्राकृतिक रूप से प्राप्त होने वाले भोजन व पोषण की कोई जानकारी नहीं होती तथा शिशु स्वचालित प्रक्रिया द्वारा पोषण प्राप्त करता रहता है। ब्राह्मणों के अनुसार गर्भ दस महीनों तक बढ़ता है तथा इस अवधि के अनन्तर प्रसव हो जाता है।

1. आण्डो वै रेतःसिचौ। यस्य हि अण्डो भवतः स एव रेतः सिञ्चति।
2. यदा वै पुमान् योषायां रेतः सिञ्चति अथ सा प्राणायते। जै० ब्रा० 1.330 रेतसः प्रजा प्राणायते। ऐ० ब्रा०
3. स्त्री अन्तर्वत्नी। हरिणी सती श्यावा भवति, तै० ब्रा० 2.3-8
4. ऊनातिरिक्तौ भवतः। ऊनातिरिक्तौ वा अनुप्रजाः प्रजायन्ते प्रजात्यै, पं० ब्रा० 4·83 सायणाचार्य ने यास्क का उद्धरण देते हुए कहा है, 'शुक्रातिरेकेपुमान् भवति शोणातिरेके स्त्री भवति। द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति। 'रेत एव हितं त्वष्टा रूपाणि विकरोति', तै० ब्रा० 1.8.1.2
5. नाभिधृता वै गर्भाः जै० ब्रा० 1.306
6· गर्भा अनश्नन्तो वर्धन्ते, तै० ब्रा० 2.1.4.6, जै० ब्रा० 1.306

किसी भी दशा में गर्भकाल बारह महीने से अधिक नहीं जाता[1]। जन्म के समय शिशु का सिर नीचे की ओर रहता है तथा मुट्ठियाँ बँधी रहती हैं[2]। जन्म के पूर्व जल निकलता है[3]। यह कितनी रहस्यमयी बात है कि योनिमार्ग की अपेक्षा शिशु का आकार बड़ा होता है, किन्तु शिशु-जन्म के समय योनि मार्ग को कोई क्षति नहीं पहुँचती[4]। गर्भस्राव (गर्भपात) तथा सम्भवतः इसके उपचार की भी चर्चा की गई है[5]। डॉ० गोर्डन का कथन है, 'There is vast mass of folk-lore which demonstrates that early man did not understand the relation existing between cohabitation and fecundation.......... Empedocles (C4 80 BC) was perhaps the first among Greek philosophers to present a rational theory of conception[6] डॉ० गोर्डन का यह अभिमत सप्रमाण नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भ्रूणविज्ञान पर ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त विषय सामग्री को देखते हुए यही लगता है कि इन्हें सम्पूर्ण सामग्री की जानकारी नहीं हो पायी थी अन्यथा ऐसी एकपक्षीय प्रतिक्रिया वह व्यक्त न करते।

पशु :—किसी भी देश की सभ्यता व संस्कृति का कोई भी अध्ययन बिना उस देश के पशु जगत् के अध्ययन के अधूरा ही होगा। भारतीय सन्दर्भ में पशु-पक्षी मानव के चिरसहचर ही नहीं उनसे अतिनिकट सम्बन्ध भी रखते हैं। ब्राह्मण साहित्य में पशु को द्युलोकवासी बतलाया गया है। पशु वह है जो आँख से देखा जा सके। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने जिन पशुओं में अग्नि को देखा, वे पशु कहलाये[7]। पशु में भौतिक अग्नि व द्युलोक अग्नि दोनों ही समाहित रहती हैं। ऐतरेयब्राह्मण में पशुओं को आग्नेय कहा गया है[8]। अतः

1. तस्मात्पशवो दशमासो गर्भान् बिभ्रति। त एकादशमनु प्रजात्यन्ते। नकाचन द्वादशमति हरति परिगृहीता हि तेन। जै० ब्रा० 1.67
2. तस्माद्अमुतो ऽर्वाञ्चो गर्भाः प्रजायन्ते प्रजात्यै ऐ० ब्रा० 11.10 मुष्टी वै कृत्वा गर्भोऽन्तः शेते। मुष्टी कृत्वा कुमारो जायते, ऐ० ब्रा० 1.3
3. तस्मात्पशोः जायमानात् आपः पुरस्तात् यन्ति तै० ब्रा० 2 2.9.3 यथा सूत्यैकाल आपः पुरस्तात् यन्ति तै० ब्रा० 3.3.6.3
4. ज्यायान् सन्गर्भः कनीयांसं सन्तं योनिं न हिनस्ति, ऐ० ब्रा० 22.10
5. गर्भं स्रवन्तं अगदमकः, तै० ब्रा० 3.7.3.6 गर्भाणां धृत्या अप्रपादाय, तै० ब्रा० 3.2.1.6
6. बी० एल० गोर्डन: रोमान्स आव् मेडिसिन, पृ० 16 और 28
7. तेषु एतं अपश्यत तस्माद्वैतैते पशवः, श० ब्रा० 6.2.1.4
8. आग्नेयो वाव सर्वः पशुः, ए० ब्रा० 2.6, आग्नेयाः पशवः, तै० ब्रा० 1.1.4.3

मूलतः अग्निस्वरूपात्मक प्रकृति होने के कारण समस्त पशु अग्नि में रमण करते रहते हैं[1]। विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में पशु का वायु मरुत तथा 'वयांसि' से तादात्म्य कराया गया है[2]। अन्तरिक्ष में स्थित पशु रुद्र से आग्नेय शक्ति प्राप्त करते हैं, क्योंकि पशुका रुद्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पशु ही रुद्र का वाहन है[3]। द्युलोक-वासी जीवधारी प्रजाएँ पशु की ही श्रेणी में गिनायी गयी हैं[4]।

शतपथब्राह्मण में 'पशु' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि प्रजापति ने पशुओं को देखा तथा पशुओं ने प्रजापति को स्वयं में देखा, इसलिए पशु का वैशिष्ट्य इन्हें प्रदान किया गया[5]। पाँच पशुओं का उल्लेख इस ग्रन्थ में अंकित मिलता है—अश्व, गो, अवि, अज तथा मनुष्य[6]। ये सभी यज्ञिय पशु के रूप में वर्णित हैं। इसी ब्राह्मणग्रन्थ में पशु का साम्य अन्न से भी किया गया है[7]। इस तादात्म्य से यही तात्पर्य बोध होता है कि पशुओं में 'अन्नत्व' समानधर्मा तत्त्व के रूप में विद्यमान रहता है। शतपथ में ही एक स्थल पर सात पशुओं की चर्चा की गयी है[8]। आचार्य सायण का कथन है उक्त पाँच पशुओं के अतिरिक्त दो पशु गर्दभ तथा उष्ट्र (ऊँट) भी थे।

सृष्टि-प्रक्रिया में उत्पन्न की गयी प्रजाओं को उभयदन्त एवं अन्योदन्त—दो श्रेणियों में गिनाया गया है[9]। मनुष्य को उभयदन्त श्रेणी में रखा गया है।

---

1. तऽएते सर्वे पशवो यदग्निः। तस्मादग्नौ पशवो रमन्ते। श० ब्रा० 6.1.4.12
2. वायु प्रणेत्रा वै पशवः। श० ब्रा० 4.4.1.15
   तस्मादन्तरिक्षायतना वै पशवः। श० ब्रा० 8.3.2.9
   पशवो वै वयांसि। श० ब्रा० 9.3.3.7
   अन्तरिक्षदेवत्या खलु वै पशवः। तै० ब्रा० 3.2.1.3
   पशवो वै मरुतः। ऐ० ब्रा० 3.19
3. आखुस्ते पशुः। श० ब्रा० 2.6.2.10
4. दैव्यावाएता विशो यत्पशवः। श० ब्रा० 3.7.3.9
5. स एतान् पंचपशूनपश्यत्। यदपश्यत्तस्मादेते पशवः तेष्वेतमपश्यत् तस्मादेते पशवः। स एतान् पंचपशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गामविमजम् यदपश्यत्तस्मादेते पशवः। श० ब्रा० 6.2.1.4
6. श० ब्रा० 2.8.4.16; 10.2.1.1
7. 'पशवो ह्यन्नम्' श० ब्रा० 3.7.1.20 तथा 'अन्नंपशवः' 8.3.2.10
8. श० ब्रा० 2.8.4.16
9. श० ब्रा० 1.6.3.30

पशुओं का वर्गीकरण द्विपाद तथा चतुष्पाद श्रेणियों में भी किया गया है[1]। मनुष्य को प्रथम स्थान पर द्विपाद श्रेणी में गिनाया गया है। मानव ही एकमात्र ऐसा पशु है जो एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है[2]। संभवतः इसी कारण मनुष्य को पशुओं का राजा भी कहा गया है[3]। शतपथब्राह्मण में कई स्थानों पर चतुष्पाद को ही पशु की संज्ञा प्रदान की गयी है[4]। इन चतुष्पाद पशुओं को एकशफ एवं द्विशफ के रूप में भी वर्गीकृत किया गया है[5]। पशुओं का वर्गीकरण ग्राम्य तथा आरण्य के आधार पर भी किया गया है[6]।

पशुओं के स्वभावगत वैशिष्ट्य के संबन्ध में शतपथब्राह्मण में कथन है कि प्रजापति ने पशुओं को स्वच्छता का वरदान करते हुए उनसे कहा, तुम्हें यत्किञ्चित् भोज्य जब भी काल अकाल में उपलब्ध होगा, उसे ग्रहण करना (खाना) होगा[7]। इस वैशिष्ट्य से स्पष्ट हो जाता है कि भोजन के विषय में पशु काल—अतिकाल से नियमित नहीं देखे जाते। पशुओं में एक गन्ध—विशेष समायी रहती है[8]। यह धारणा है कि देवों ने इस गन्ध को सोम से लेकर पशुओं के शरीर में पहुँचा दिया था। पशुओं को साक्षात् सम्पत्ति कहा गया है[9]। इससे यह तथ्य निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि पशु की व्यावसायिक उपयोगिता उस समाज में भी उत्कृष्ट कोटि की थी।

कतिपय पशुओं के दोनों ओर के जबड़ों में दाँत होते हैं, किन्तु कुछ पशुओं के केवल एक ओर के जबड़े में दाँत होते हैं[10]। ब्राह्मणों में पशु के द्विधा विभाजित शफों (खुरों) का उल्लेख है। इसके आधार पर चौपाये पशु के चार खुरों के द्विधा विभाजित होने से वे आठ खुर वाले बन जाते हैं[11]। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह समीक्षा

1. श० ब्रा० 6.2.1.18
2. श० ब्रा० 7.2.5 17
3. श० ब्रा० 4.5.5.7
4. श० ब्रा० 8.3.2.10
5. एकशफो वा एषं पशु यदश्वः। श० ब्रा० 7.5.2.33
6. सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः। श० ब्रा० 2.3.4.1; 3.8.4.16 तथा 9.3.1.20
7. श० ब्रा० 2.4.2.4
8. श० ब्रा० 4.1.3.8
9. श्रीर्हि पशवः। श० ब्रा० 1.8.1.38
10. ये वा अन्यतोदन्ताः पशवस्ते राथन्तरा य उभयतोदन्तास्ते वार्हताः जै० ब्रा० 1.128
11. चतुष्पादः पशवः, तै० ब्रा० 3.3.5-4, ऐ० ब्रा० 2.421, तै० ब्रा० 3.3.8.3, अष्टशफा पशवः पं० ब्रा० 3.82, तै० ब्रा० 2.1.2.7; 3.3.5.5

की गयी है कि अविभाजित (परस्पर जुड़े हुए) खुर वाले पशु अधिक तेजी से भाग सकते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में घरेलू व पालतू (ग्राम्य) एवं जंगली (आरण्य) पशुओं के उदाहरण व उनके सम्बन्ध में अति रुचिकर विवरण उपलब्ध हैं। शतपथब्राह्मण में ग्राम्य पशुओं में गो, अश्व, भेड़, अज (बकरी), रासभ (गधा) उष्ट्र (ऊँट) श्वान (कुत्ता) तथा कुक्कुट प्रमुख हैं। जंगली (आरण्य) पशुओं में ऋक्षीका (रीछ), सिंह, व्याघ्र, वृक, शृगाल (सियार) मृग, दुर्वराह (जंगली सुअर) शश, शरभ, एडक (मेष) गोमृग (नील गाय), हस्ती (हाथी) तथा किम्पुरुष (बन्दर अथवा वनमानुष) आदि अति प्रसिद्ध हैं। अश्व के अनेक पर्यायवाची शब्द ब्राह्मणों में प्रयुक्त मिलते हैं। अश्व की क्रियाओं (अश्व चरित) के अतिरिक्त अश्व की चालीस प्रजातियां (अश्व रूपाणि) गिनायी गयी हैं[1]। शार्दूल (चीता) को चोर भालू से उपमित किया किया गया है जो कि अपने क्रोध (मन्यु) के लिये विख्यात है । चीता चोरी चोरी से अपने शिकार पर आक्रमण करता है। यही प्रकृति भालू की भी होती है[2]।

सामान्यतया सभी ब्राह्मणग्रन्थों में किन्तु विशेष रूप से शतपथब्राह्मण में इन पशुओं के रोचक प्रकरण तो मिलते ही हैं, साथ ही इस बात का भी प्रभूत प्रमाण मिलता है कि पशुओं से मनुष्य के सम्बन्ध अत्यन्त सामीप्य के थे।

पक्षी :— ब्राह्मणों में तिर्यग् योनि (पक्षियों) के बारे में भी पर्याप्त विवरण मिलते हैं। शतपथब्राह्मण में कपिञ्जल, कलविंक एवं तित्तिर[3] (तीतर) नामक पक्षियों का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त कंक[4] (चील) श्येन[5] के वर्णन

---

1. ईकाराय स्वाहा ईकृताय स्वाहा इत्याह । एतानि वा अश्वचरितानि .....अष्टाचत्वारिंशतमश्वरूपाणि जुहोति । ......तै० ब्रा० 3.8.8.1; तै० सं० 7.3.17; विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रेत्याह ।......अश्वोऽसि हयोऽसि इत्याह । ..... अत्योऽसीत्याह । ......नरोऽस्यर्वाऽसि संक्षिप्तरसि वाज्यसीत्याह ......ययुर्नामासीत्याह । एतद्वा अश्वस्य प्रियं नामधेयम् । तै० ब्रा० 3·8.9,1-2; तै० सं० 7.1.42

2. शार्दूलः तस्करः जै० ब्रा० 1.302; पशूनां वा एष मन्युः, तै० ब्रा० 1.7.9.4

3. श० ब्रा० 1.6.3.3 तथा 5.5.4.4

4. श० ब्रा० 6.7.2.8

5. श० ब्रा० 3.3.4.15

भी मिलते हैं । वेदियों के वर्णन प्रसंग में कंक एवं श्येन के साथ आकार—साम्य प्रदर्शित किया गया है ।

पक्षी के पंख को पर्ण कहा जाता था । श्येन के सुपर्णत्व का यही कारण था कि उसके पंख सुभग एवं शक्तिशाली होते थे । प्रजापति ही स्वयं सुपर्ण गरुत्मान् थे[1] । शकुनि पक्षी शुभ-अशुभ की भविष्यवाणी करता था[2] । शतपथ-ब्राह्मण में हंस (शुचिसद्) का वर्णन मिलता है[3] । इन पक्षियों के अतिरिक्त कूर्म कश्यप (कच्छप), ऋष, महामत्स्य, मेढक आदि जलचर पक्षियों के वर्णन मिलते हैं । शलभ[4] (टिड्डी) ब्राह्मणकाल से ही कृषिविनाशक कीट के रूप में प्रसिद्ध रहा है । मधुकृत एवं सरघ[5] (मधु-मक्खियों) का रोचक वर्णन मिलता है ।

मधुमक्खी (सारघ) के अतिरिक्त मधुवृष का भी वर्णन मिलता है । 'मधुवृष' शब्द का प्रयोग यह तथ्य प्रमाणित करता है कि नर मधुमक्खी द्वारा मधृ (शहद) इकट्ठी की जाती थी[6] । तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.6.2.1-2) में 'क्रुङ् नामक एक पक्षी का वर्णन मिलता है जो बड़ी कुशलता से क्षीर को नीर से पृथक् कर ग्रहण कर लेता है ।

चीटियों के उपजिह्विका, उपजीका तथा वम्र आदि अनेक नाम दिये गये हैं । तैत्तिरीय ब्राह्मण में चूहे का एक विशिष्ट प्रकरण अंकित है जिसमें कहा गया है कि अग्नि ने एक बार अपने को देवताओं से छिपा लिया तथा मूषक का रूप धारण कर पृथिवी खोदने लगा[7] । पृथ्वी पर सर्पण करने वाले जीवों में अहि (सर्प)तथा महानाग का वर्णन मिलता है[8] । सांप द्वारा छोड़ी गयी केंचुल का भी उल्लेख किया गया है[9] ।

---

1. श० ब्रा० 10.2.2.4
2. श० ब्रा० 14.1.1.31
3. श० ब्रा० 5.4.3.22
4. श० ब्रा० 1.2.3.9
5. श० ब्रा० 3.4.3.14; 13.3.1,4 तथा 1.6.2.1
6. तस्या अग्निरेव सारघं मधु......स यो ह वा एता मधुकृतश्च मधुवृषांश्च वेद । तै० ब्रा० 3.10.10.1
7. तै० ब्रा० 1.1.3.3
8. श० ब्रा० 11.2.6.13.
9. अहिर्हं जीर्णामतिसर्पति त्वचम् । तै० ब्रा० 3.10.8.1

वनस्पति जगत् :—वैदिक काल में सम्पूर्ण जन-जीवन वनस्पतिमय था। जंगलों में तो वनस्पतियां थीं ही, ग्रामीण अंचलों में भी इनका बाहुल्य था। मुख-दन्त-शुद्धि के निमित्त आहार तथा जीवन में नित्य उपयोग में आनेवाली वस्तुओं एवं अस्त्र आदि के निर्माण में वनस्पतियों का ही प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। वस्त्र भी वनस्पतियों से ही प्राप्त होता था। अङ्गराग, स्नान, तेल एवं इतर सौन्दर्य-प्रसाधन सामग्रियाँ भी वनस्पतियों से ही बनती थीं। घरेलू उपयोग हेतु बनी नाना वस्तुएँ, गृह निर्माण सामग्रियाँ, उपकरण पात्र, लेखन हेतु कागज़, स्याही, यज्ञोपयोगी विविध पदार्थ, यूप, पात्र, हविष् आदि वनस्पतियों से ही निर्मित होते थे।

उपर्युक्त प्रयोजनों के अतिरिक्त वनस्पतियां शरीर विकार के निवारणार्थ भी प्रयुक्त होती थीं। रोगी पशुओं एवं मनुष्यों का चिकित्सा उपचार वनस्पतियाँ ही करती थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक कालीन मानव समाज के सम्पूर्ण योग-क्षेम में वनस्पतियों का अद्वितीय एवं महत्त्वपूर्ण स्थान था। सोम तो यज्ञाहुतिद्रव्य न होकर साक्षात् देवत्व को ही प्राप्त हो चुका था। यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय में ओषधियों वनस्पतियों की प्रशस्ति में अनेक मन्त्र मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रसिद्ध ओषधि-सूक्त के अतिरिक्त अथर्ववेद की संहिताओं में वनस्पतियों का हृदयावर्जक महिमागान किया गया है। वनस्पतियों की अपरिहार्यता तथा जीवन में उनके अप्रतिम महत्त्व के कारण ही यदाकदा जनपदों के नाम भी उनके आधार पर रख दिये जाते थे, यथा वरणावती, मुंजवान्, कारस्कर, शिग्रु आदि।

वानस्पत्य :—महाप्रकृति के सन्तत साहचर्य एवं सहवसति के कारण वैदिक मानव न केवल वनस्पतियों पर निर्भर रहता था प्रत्युत उनका अनूठा ज्ञान भी उसे प्राप्त था। पशुजगत् तो वनस्पतियों पर ही मुख्यतया आधृत रहता था। मनुष्य भी जो ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वोत्तम पशु के रूप में गिनाया गया है वनस्पतियों से पूर्णतया प्रभावित, आच्छादित व धारित था। वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध वनस्पतियों के वर्गीकरण से उनके गुण एवं कर्म पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सामान्यतया वनस्पतियों को औद्भिद द्रव्य वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा ओषधि नामक चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। चरक संहिता में यही वर्गीकरण मिलता है। ऋग्वेद में वानस्पत्य शब्द नहीं मिलता। वहाँ 'वनिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है। सायणाचार्य ने 'वनिन्' का अर्थ पलाश आदि वृक्ष किया है। अथर्ववेद में उक्त चारों श्रेणियाँ अङ्कित मिलती हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में ओषधि, वनस्पति और वानस्पत्य शब्द प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु 'वनिन्' एवं 'वीरुध्' शब्द उपलब्ध नहीं मिलते। ब्राह्मणों में 'वृक्ष' शब्द प्रायेण प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतया छोटे पौधों के लिए 'ओषधि' तथा बड़े वृक्षों के लिए 'वनस्पति' शब्द का प्रयोग आदि काल से होता आ रहा है। ओषधि-वनस्पति शब्द-युग्म सम्पूर्ण वनस्पति सम्पदा का प्रतिनिधित्व करता है[1]।

निरुक्तकार यास्क ने वनस्पति शब्द का अर्थ वनों का पति अथवा स्वामी किया है। इसी को आधार मानकर सायणाचार्य ने इसे वनों का पालयिता पिता माना है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि हेमन्त में वनस्पतियों के पत्ते झड़ जाते हैं[2]। वनस्पति यज्ञ के लिए आवश्यक व उपयोगी होती है। यदि वनस्पतियाँ न होतीं तो यज्ञ-क्रिया ही संभव न होती[3]। सोम को वनस्पति कहा गया है[4]। वनस्पतियाँ वसन्त ऋतु में पक जाती हैं[5]। वनस्पतियों से रथ के पहिए तथा उलूखल, मुसल आदि निर्मित होते थे[6]। वनस्पतियों में कार्ष्मर्य, अश्वत्थ, उदुम्बर, प्लक्ष, रज्जुदाल, पीतुदारु, बिल्व आदि श्रेष्ठ बताये गये हैं तथा वेतस को निकृष्ट कहा गया है[7]। ऐतरेय ब्राह्मण में वनस्पति को प्राण कहा गया है[8]। चार प्रकार की वनस्पतियों में न्यग्रोध, उदुम्बर अश्वत्थ तथा प्लक्ष गिनाये गये हैं[9]। कल्पसूत्रों

1. तमोषधीश्च वनिनश्च—ऋग्वेद, 7.4.5 श० ब्रा० 1.5.2.4; 1.5.4.5; 1.7.2.19; 2.2.4.3; 3.2.3.19; 3.6.2.26; 4.6.9.16; 10.3.3.4; 11.5.3.7; 12.1.4.1; गो० ब्रा० 1.1.13; 1.2.9 तै० ब्रा० 1.7.1 बृहदारण्यकोपनिषद् (3.2.13) में ओषधियों को लोम (रोम) तथा वनस्पतियों को केश कहकर पुकारा गया है। यो देवा अग्नोयोऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
   य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥
   श्वेताश्वतर उ० 2.17 ओषधीषु शाल्यादिषु वनस्पतिष्वश्वत्थादिषु–शंकराचार्य।
2. हिमेव पर्णा मुषिता वनानि। श० ब्रा० 1.5.4.5
3. वनस्पतिर्यज्ञियः, श० ब्रा० 3.2.2.7 न हि मनुष्या यजेरन् यद्वनस्पतयो न स्युः, श० ब्रा० 3.2.2.9 तस्मादेतस आव्रश्चनाद् वनस्पतयो नु प्रजायन्ते, श० ब्रा० 3.6.4.15
4. सोमो वै वनस्पतिः, श० ब्रा० 3.8.3.33, 5.3.3.4
5. वसन्ते.........वनस्पतयः पच्यन्ते, श० ब्रा० 4.3.1.14
6. वानस्पत्यानि चक्राणि रथ्यानि, श० ब्रा० 5.4.3.16
7. श० ब्रा० 3.8.2.17; 3.8.3.12; 12.7.1.9; 13.4.4.6-8; 9.1.2.24 (वैतसो-वनस्पतीनामनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सः)।
8. प्राणो वै वनस्पतिः, ऐ० ब्रा० 2.4; 10.5,23 तथा 7.32
9. ऐ० ब्रा० 8.16, वनस्पतयो वै द्रुः, तै० ब्रा० 1.3.9.1

में 'वानस्पत्य' शब्द वनस्पति विकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1]। विवाह संस्कार कर्म में पुंल्लिग वृक्षों का प्रयोग मिलता है[2]। फलदार वृक्षों को 'फलवृक्ष' अथवा 'फलेग्रहि' कहा गया है[3]। पाणिन ने (2.4.12,4.3.135) में वृक्ष का उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य में 'वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यम्' (4.1.85) कहा गया है।

ओषधि :—सायण ने 'ओषधि' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है :—

ओषधिः प्रियंगुब्रीह्यादि :—ऋ० 1.166.5; 4.57.3 तथा 6.39.5

ओषधयोब्रीहियवाद्या:—शौ० 4.15.2; 11.6.17; 11.7.20 तथा 8.2.22

ओषधयः फलपाकान्ता :—ऋ० 1.90.6

ओषधयः फलपाकान्ताः लता :—ऋ० 8.27.2

औषः फलपाकः अस्यांधीयत इति औषधि :—शौ० 1.23.1

औषः पाकः आसु धीयत इति औषधयः सर्वावीरुध :—शौ० 6.95.3

ओषधीः तृणानि—ऋ० 10. 169. 1

ओषधीः पक्वफलसंयुक्तास्तृणगुलमादिका :—ऋ० 3.34.10

औषधीः अन्नानि—ऋ० 1.163.7, ऋ० 5.84.10 (अजीजन औषधीर्भो-जनाय)।

औषन्ति माद्यन्ति अनेनेति औषः सोमः स धीयते निधीयते येष्वित्योष-धयो ग्रावाणः—ऋ० 10.169.1

औषधीः औषध्यभिमानिनो देवान्—ऋ० 6.21.9

इन व्याख्याओं से स्पष्ट है कि 'ओषधि' शब्द के फलपाकान्त लता, तृण, अन्न, ग्रावा, देव आदि अर्थ किये गये हैं। यास्क ने इस शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है—'औषधयः औषध्दयन्तीति वा। औषत्येना धयन्तीति वा। दोषं धय-न्तीति वा'। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु शरीर में शक्ति उत्पन्न कर उसे धारण करे अथवा जो दोषों को नष्ट करे वह ओषधि है।

---

1. बौ० श्रौ० सू० 2.12, काठ० गृ० सू० 4.6.8, भा० गृ० सू० 2.6.6
2. शां० गृ० 1.13.6
3. खा० गृ० 2.2.5

ब्राह्मणग्रन्थों में ओषधि को आहुति, बर्हि, अथवा लोमश्मश्रु, नख तथा वनस्पति को इध्म या केश कहा गया है। इन प्रतीकात्मक वर्णनों से वनस्पतियों एवं ओषधियों के वास्तविक स्वरूपों की जानकारी मिलती है[1]। ओषधियाँ रसवती बतलायी गयी हैं[2]। इससे प्रतीत होता है कि समस्त रसों के इनमें समाविष्ट होने के कारण ही इनमें आधियों को नष्ट करने तथा शरीर में शक्ति संचार कराने की क्षमता विद्यमान रहती है। ओषधियों को देवों की पत्नी कहा गया है[3]। इनकी अग्नी-षोमीय प्रकृति को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः इन्हें सौम्य और आग्नेय कहा गया है[4]।

वनस्पतियों के नाम :—वनस्पतियों के नाम अति प्राचीन काल से प्रयुक्त होते आ रहे हैं। आदि पुरुषों ने वनस्पतियों को जिन नामों से पुकारा वे ही प्रचलित होते गये। इन औषधियों को नाम देते समय इनके गुण, कर्म तथा स्वभाव को अवश्यमेव आधार बनाया गया होगा, किन्तु अनेक नाम रूढ़ि के कारण भी प्रचलित प्रथित हुए। यौगिक नाम भी बाद में चलकर रूढ़िग्रस्त हो गये। भारतीय वनस्पतियों के अनेक नाम 'असीरियन' नामों से साम्य रखते हैं। प्रायेण विद्वानों का मत है कि अति प्राचीन काल में इन देशों का प्राचीन भारत से व्यावसायिक व सांस्कृतिक सम्पर्क अवश्य रहा होगा। अतः इसमें सन्देह नहीं कि ओषधियों के नाम भी उन-उन देशों में भारत से ही प्रयाण किये होंगे[5]। कतिपय वनस्पतियों के नाम तो ऐसे हैं जो वैदिक काल से यथावत् प्रयुक्त होते आ रहे हैं, उदाहरणार्थ, उदुम्बर, अश्वत्थ आदि। कतिपय नाम ऐसे हैं जो काल चक्र में पड़कर संशोधित-परिवर्तित हो गये, जैसे गुलगुल-गुग्गुलु, कार्ष्मर्य-काश्मर्य आदि। कुछ नाम ऐसे हैं जो कालकवलित हो गये तथा उनके स्थान पर नवीन नाम चल पड़े, जैसे, जङ्गिड, खलकुल आदि।

पशुपक्षिओं से भी ओषधियों की पर्याप्त जानकारी प्राप्त हुई है। इनके

1. ओषधयो बर्हिर्वनस्पतय इध्मा, ऐ० ब्रा० 5.28; श० ब्रा० 1.8.2.11; 7.4.2.11-12 तथा 9.3.1.4
2. श० ब्रा० 1.2.2.2
3. ओषधयो वै देवानां पत्न्यः, श० ब्रा० 6.5.4.4
4. सौम्या औषधयः, श० ब्रा० 12.1.1.2; जै० ब्रा० 1.354; आग्नेय्यो ह्योषधयः, ऐ० ब्रा० 1.6
5. विशिष्ट अध्ययन हेतु द्रष्टव्य आर० वी० एच० हेरिस, एस० जे०, द किंगडम ऑव् मगध, बी० सी० ला वॉल्यूम 1, पृ० 546-547

परस्पर नामाभिधान पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा दिखायी देता है, जैसे-वाराही, नाकुली, सर्पगन्धा, गन्धर्वहस्त, काक-माची, हंसपदी, मृगादनी, अजश्रृंगी, मेषश्रृंगी तथा अश्ववार।

वनस्पतियों—ओषधियों पर सामान्य परिचयात्मक चर्चा करने के उपरान्त यहां उन प्रमुख वनस्पतियों पर संक्षेप में विशिष्ट विचार करना आवश्यक है जिनके नामोल्लेख व विवरण ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

अध्याण्डा :—यह वनस्पति पापनामा द्रव्यों में गिनायी गई है। अन्त्येष्टि के प्रकरण में कहा गया है कि श्मशान के समीप अध्याण्डा नहीं होनी चाहिए। सायणाचार्य की व्याख्या से प्रतीत होता है कि अध्याण्डा का फल गुच्छों में होता है 'अध्याण्डाशने सदृशफलो गुच्छः'। शतपथब्राह्मण में श्मशान-स्थल के वर्णन प्रसंग में इस वनस्पति का उल्लेख मिलता है[1]। कौशिक सूत्र की व्याख्या में इसके बारे में 'पर्णफलेति प्रसिद्धा' लिखा गया है। कतिपय आधुनिक विद्वानों ने इससे निम्नांकित तीन वनस्पतियों को माना है :—

1. Mucuna pruriens (कपिकच्छ)
2. Phyllanthus urinaria (भूम्यामेलकी)
3. Phyllanthus niruri (भूम्यामेलकी)

अपामार्ग :— यजुर्वेद की संहिताओं में अपामार्ग का सक्तु (चूर्ण) बनाकर हवन करने का विधान बताया गया है। इससे राक्षसों का नाश[2] होता है। जल को हटाकर इसके ग्रहण का निर्देश है। 'अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे'[3] मन्त्र में 'अपामार्ग' शब्द का निर्वचन किया गया है। 'अप (हृत्य दोषान् शरीरं) मृज्यते अनेन इति अपामार्गः'—अर्थात् दोषों का हरण कर जो शरीर को मार्जित (शुद्ध) करे वह अपामार्ग है। सत्रहवें सूक्त के मन्त्रों (1.8) में अपामार्ग वनस्पति के सहस्त्रवीर्य, क्रिमिघ्न, रक्षोघ्न, रसायन, अर्शोघ्न, क्षुधातृष्णामारण, विषघ्न, अश्मरीनाशन एवं ओजोवर्धन, कार्य इंगित मिलते हैं। इसे 'प्रतीचीनफल' कहा गया है (7.65.1)। इसकी व्याख्या करते हुए सायण का कथन है :—

---

1. श० ब्रा० 13.8.1.16
2. श० ब्रा० 5.2.4.14
3. शौ० 4.17.7

'प्रत्यङ्मुखानि फलानि यस्य । अग्रादारभ्य फलस्य मूलपर्यन्तं आत्माभिमुख स्पर्शने कण्टकराहित्यदर्शनात् प्रतीचीनफलत्वम्' अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर स्पर्श करने पर जिसमें कांटे की चुभन की प्रतीति न हो, किन्तु विपरीत दिशा में हो । शतपथब्राह्मण[1] में भी यह शब्द आया है । इसकी व्याख्या में सायण का कथन है :—

'अपामार्गमञ्जर्यो यतः प्रतीचीनफलाः स्वात्मानं प्रति गतैरवाङ्मुखः फलैर्युक्ताः' अर्थात् अपामार्ग की मंजरियों में फल अधोमुख होते हैं[2] । शतपथ-ब्राह्मण में 'अपामार्गतण्डुल' शब्द सर्वप्रथम आता है[3] । सामविधान, विष्णुधर्म सूत्र, याज्ञवल्क्य शिक्षा तथा मण्डूकी शिक्षा में अपामार्ग की दातून करने का विधान बतलाया गया है । अभिचार कुसृति एवं चिकित्सा हेतु इसका प्रयोग किया जाता था[4] । जूलिएस एग्लिंग ने इस वनस्पति का साम्य 'एशीरेन्थस एस्पेरा' नामक पौधे से बतलाया है । सांप बिच्छू आदि के भय निवारण हेतु अपामार्ग की मञ्जरी घर में रखने का विधान बतलाया गया है[5] ।

अरलु :— संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अरलु' शब्द राक्षस-विशेष हेतु प्रयुक्त हुआ है । अथर्ववेद में सायण ने अरलु वृक्ष की फली इंगित किया है[6] । गृह्य सूत्रों तथा शतपथब्राह्मण में इस वनस्पति के ईंधन अथवा समिधा को निषिद्ध बतलाया गया है[7] ।

अर्क :— 'अर्च' धातु से निष्पन्न 'अर्क' शब्द का अर्थ अर्चनीय होता है । इससे अग्नि, सूर्य, अन्न तथा अर्क वनस्पति का बोध होता है । संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायेण इस शब्द का अग्नि तथा अन्न[8] अर्थ किया गया है । शतपथब्राह्मण

1. श० ब्रा० 5.2.4.20
2. रॉथ जिमर एवं ह्विटनी का मत है कि इसकी पत्तियाँ उलटी होती हैं । द्रष्टव्य—वेदिक इण्डेक्स 1-26
3. तुलना हेतु द्रष्टव्य चरकसंहिता का 'अपामार्ग—तण्डुलीय अध्याय' (सू० 2)
4. श० ब्रा० 5.2.4.14
5. शौ० 6.53-सा०
6. शौ० 3·9-सा०
7. शौ० 6·46·1, श० ब्रा० 1·2·4·17-18· गो० गृ० 1·5·15; पा० गृ० 1·21 । कौ० गृ० 2·6·2, जै० गृ० 1·1
8. एग्लिंग 'द शतपथब्राह्मण' भाग 3, पृ० 52

में 'शतरुद्रिय' कर्मकाण्ड में रुद्र को समर्पित हवियों में से एक हवि अर्कपत्र क भी है[1]। भगवान् शंकर के उपासक उन्हें अपनी पूजा में अर्कपत्र अवश्यमेव अर्पित करते हैं। शतपथब्राह्मण के दसवें काण्ड में अर्क वनस्पति के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछे गये हैं जिससे इसका अत्यधिक महत्त्व द्योतित होता[2] है।

कृष्ण यजुर्वेद की कपिष्ठलसंहिता में एक आख्यान है जिसमें कहा गया है कि महर्षि अंगिरा जब स्वर्गलोक जा रहे थे तब अजा पर उनका स्वेद गिर पड़ा। अजा शोकग्रस्त होकर पत्ते को छूने लगी। वह पत्ता (पर्ण) अर्क बन गया। इसी लिए अग्नि के समान योनि होने के कारण अर्कपर्ण से हवन किया जाता है। तैत्तिरीय संहिता में भी यह मन्त्र है। इससे अर्क के आग्नेय स्वरूप (उष्णवीर्य, तीक्ष्णगुण आदि) का भी इंगित मिलता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इसे अग्नि तथा अन्न के नाम से वर्णित किये जाने का एकमात्र अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि दीपन, पाचन एवं बल्य, वृष्य कर्म में यह ओषधि प्रभावशाली है। एक स्थल पर इसे अग्नि, आदित्य और प्राण कहा गया है। इससे इसका ओषधीय महत्त्व ही ध्वनित होता है।

शतपथब्राह्मण[3] में इसे पुरुषरूप प्रदान कर इसके विभिन्न अंगों को गिनाया गया है, जैसे—अर्कपर्ण—कान, अर्कपुष्प—आंख, अर्ककोशी (द्वय)—नाक (द्वय), अर्कसमुद्गौ (द्वय)—ओष्ठ (द्वय), अर्कधाना—दांत, अर्काष्ठीला—जीभ, अर्कमूल—आतें। इस विवरण से इसके विभिन्न अंगों की आकृति का ज्ञान होता है। अर्क के अन्न से साम्य करने की ही भाँति अर्कपुष्प अन्नरस का परिचायक है। इससे यह आभास स्पष्ट है कि अर्कपुष्प का रस पेय के रूप में ग्राह्य था। शांखायन आरण्यक में अर्क को अग्नि तथा अर्कपुष्प को आदित्य कहा गया है। श्रौत एवं गृह्य सूत्रों में वर्णित अर्कपर्ण से होम विधान में अर्क की स्रुवा तथा समिधा प्रयोज्य है। अर्क की समिधा आदित्य की आहुति हेतु निर्धारित है।

अर्जुन :—ऋग्वेद में 'अर्जुन' शब्द श्वेतवर्ण का वाचक है। यास्क ने भी यही अर्थ माना है। सायण ने इसका वैकल्पिक अर्थ अर्जुन वृक्ष किया है। इस वनस्पति का एक पर्याय 'फाल्गुन' है।

काठक संहिता में कहा गया है कि अर्जुन दो प्रकार का है (1) लोहिततूल

1· श० ब्रा० 9·1.1.4

2· श० ब्रा० 10·3.4·3

3. श० ब्रा० 10.3.4.2-5

तथा (2) बभ्रुतूल। इन्द्र द्वारा किये गये वृत्र के वध से जो रक्त लिकला वह लोहिततूल अर्जुन तथा उसके गले से जो लीसा निकली वह बभ्रुतूल अर्जुन है। बभ्रुतूल की व्याख्या करते हुए सायण का कथन है—'तूलसमवभ्रुवर्णमंजरीमूलानि अर्जुनानि श्यामलानि तृणानि'–सा० (तां० 9.5.7)। बभ्रुतूल फाल्गुन का प्रयोग मेध्यतर है[1]। ब्राह्मणग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में इस वनस्पति को सोम का प्रतिनिधि बतलाया गया है। सोम के पुष्पों से अर्जुन की उत्पत्ति बतायी गयी है। इससे यह ज्ञात होता है कि इसमें फूल लगते हैं। इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि ये वर्णन किसी तृणजाति की वनस्पति को द्योतित करते हैं न कि अर्जुन वृक्ष को[2]।

अवका :—अवका शैवाल (सिवार) का प्राचीन नाम है। सायण ने इसके बारे में कहा है–'अवका नाम ह्रदादिजलेषु स्तबकाकारेण प्ररोहन्तो हरितवर्णाः पदार्थाः शैवलानीत्यर्थः[3]।' यह तालाब आदि के जल में झुण्ड में उगने वाला हरे रंग का द्रव्य है। जलीय द्रव्य होने के कारण इसकी प्रकृति शीतल एवं अग्निशामक मानी गयी है। यह जलीय वनस्पति यज्ञ में प्रयुक्त होती थी[4]। प्रो० वेवर इसे कमल का पुष्प मानते हैं[5]। एक सरिता में इस वनस्पति की प्रभूत उपज के कारण उसका नाम ही शैवलिनी नदी पड़ गया था[6]। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि वेतस (बेंत) जल का पुष्प है तथा अवका उसका शर है। अवका को खाने वाले गन्धर्वों-पिशाचों को 'अवकाद' के नाम से पुकारा गया है।

अश्मगन्धा :—यह वनस्पति संभवतः वही है जो कालान्तर में 'अश्वगन्धा' नाम से प्रचलित हुई। शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख अध्याण्डा नामक ओषधि के साथ हुआ है[7]। इस पौधे को श्मशान भूमि में नहीं लगाने का विधान है। जैसा कि नाम से ही आभास मिलता है कि इस औषधि में अश्व (घोड़े) का वेग (गन्ध-वेग) उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान होती है। इसका लैटिन नाम 'किसेलिसफलेक्सुओसा' है[8]।

---

1. जै० ब्रा० 1.354
2. शौ० 2.8.3; 4.37.5; 5.23.9; 5.28.5-9 तथा 13.3.26, श० ब्रा० 2.1.2.11; 5.4.3.7, ऐ० ब्रा० 5.15 शां० ब्रा० 23.8, तै० ब्रा० 3.10.7.1
3. श० ब्रा० 8.3.2.5-6
4. श० ब्रा० 7.5.1.11, 8.3.2.5 तथा 9.1.2.20
5. वेवर-इन्दिशे स्तूदिएन, 13, पृ० 250
6. वी० एस० आप्टे, संस्कृत। इंगलिश डिक्शनरी, पृ० 562
7. श० ब्रा० 13.8.1.16, का० श्रौ० 22.165-167
8. एग्लिग 'द शतपथ ब्राह्मण' भाग-5, पृ 427

अश्वत्थः :—ऋग्वेद में इस वृक्ष का उल्लेख है। अश्वत्थ की उत्पत्ति के बारे में अनेक आख्यान मिलते हैं। मैत्रायणी संहिता में कहा गया है कि प्रजापति प्रजा की रचना करने के वाद अश्व के रूप में भूमि में अपना सिर छिपाकर स्थित हो गये[1]। उनके सिर से इस वृक्ष की उत्पत्ति हुई। इसलिये अश्व से उत्पन्न होने के कारण इसे अश्वत्थ कहा गया। एक अन्य प्रकरण में कहा गया है कि अग्नि देवों से भागकर अश्वरूप धारण कर इस वृक्ष में छिप गये। अतः अश्वरूप अग्नि का अधिष्ठान होने के कारण यह अश्वत्थ कहलाया[2]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार[3] इन्द्र की त्वचा से क्षरित रस से अस्वत्थ की उत्पत्ति हुई। इन प्रतीकों से क्रमशः इसके मेध्य, आग्नेय तथा बल्य गुण एवं धर्म का इंगित मिलता है। यह वृक्ष अग्नितत्त्व तथा शमी सोमतत्त्व का प्रतीक है। इन दोनों वृक्षों की लकड़ियों के परस्पर घर्षण से यज्ञाग्नि रूप सन्तान उत्पन्न होती है[4]। ऐतरेय ब्राह्मण में इसे वनस्पतियों का सम्राट् कहा गया है[5]। उन्माद रोग में इसकी लकड़ी के होम का विधान है। इसको समिधा बृहस्पति और शनि की आहुतियों के लिये निर्धारित है। यज्ञोपवीत संस्कार में इसका दण्ड क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए निर्दिष्ट है। राजसूय यज्ञ में अभिषेक पात्र अश्वत्थ की लकड़ी का बनाया जाता है। शमी, पलाश, खदिर, विकंकत, काश्मर्य उदुम्बर तथा विल्व के साथ अवत्थ को भी यज्ञ-वृक्षों में गिना गया है[6]। अश्वत्थ, में फूल का लगना उत्पात का लक्षण माना गया है, क्योंकि प्रायेण इस वृक्ष में पुष्प प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देते[7]। इन विवरणों से अश्वत्थ के धरती पर प्रचार, इसके माहात्म्य, एवं इसके वीर्य का परिचय प्राप्त होता है।

अश्ववाल (र):—टीकाकारों ने इसका अर्थ 'काश' किया है[8]। यह दर्भविशेष एक घास है जो अश्व के बालों जैसे समूहों-गुच्छकों में उगती है। शतपथब्राह्मण के

1. मै० सं० 1.6.12
2. तै० ब्रा० 1.1.3.9
3. श० ब्रा० 12.7.1.1
4. श० ब्रा० 11.5.1.13
5. ऐ० ब्रा० 7·32 तथा 8.16
6. अ० प्र० 23.6.5
7. श० ब्रा० 11.5.1·13-17; 12.7.1.9 तथा 12.9.1.3; ऐ० ब्रा० 7.30-32; 8.16; गो० ब्रा० 1.2.15, तै० ब्रा० 1.1.3.9
8. अश्ववाला: दर्भविशेषा: काशाः टि० श० ब्रा० 3.4.1.17

एक उपाख्यान में इसका सम्बन्ध अश्व से बताया है[1]। यह घास 3 इंच से लेकर 15 इंच की लम्बाई में होती है तथा बरसात के बाद इसमें फूल-फल लगते हैं[2]।

आञ्जन :—आञ्जन नामक एक वृक्ष है। शतपथब्राह्मण में उपलब्ध वर्णन[3] से प्रतीत होता है कि यह खनिज पदार्थ था जो आँखों में आंजन के लिए उपयोगी था। अथर्ववेद में अञ्जनत्रिककुद् पर्वत पर तथा यमुना प्रदेश में पैदा होने वाला त्रैककुद एवं यामुन कहा गया है तथा हरिमा, अंगभेद, विसल्पक हृदय रोग आदि में लाभदायक बतलाया गया है। त्रैककुद आञ्जन स्थलीय एवं पर्वतीय ओषधियों में सर्वोत्तम माना गया है। ऋग्वेद में अंकित वर्णन[4] से प्रतीत होता है कि यह कोई सुन्दर गन्ध वाला ओषधि है। कुष्ठ, नलद आदि के साथ लेप से भी ज्ञात होता है कि यह कोई सुगन्धित द्रव्य है[5]। नेत्र रोगों में इसका विशेष प्रयोग होने के कारण कालान्तर में इसका उपयोग सीमित होता गया तथा अञ्जन निर्माण में प्रयोज्य अन्य द्रव्यों के साथ वह एकीकृत हो गया।

आदार :—आदार को सोम का प्रतिनिधि ओषधि कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में पूतीक इसका पर्याय है। सायण ने इसे मध्यदेशतृण, लताविशेष तथा कहीं क्षीरयुक्त लता माना है। आदार संभवतः कोई ऐसा तृण था जो सुगन्धित था तथा अग्नि में डालने पर जलता था[6]।

उपवाक :—शतपथ ब्राह्मण में इस वनस्पति का उल्लेख श्यामाक, गोधूम, बदर आदि के साथ किया गया है। 'यच्छ्लेष्माणस्ता उपवाकाः' व्याख्या से प्रतीत होता है कि यह कोई पिच्छिल द्रव्य है। उपवाक का प्रयोग इन्द्रपूजा में किया जाता था। परवर्ती काल में कुटज, जिसका बीज इन्द्रयव है, इन्द्रवृक्ष के नाम से ख्याति प्राप्त हुआ। कौशिक सूत्र की व्याख्या में दारिल का कथन है—'उपवाक

---

1. श० ब्रा० 3.4.1.17
2. इलियटः रेसेज़ आव् द नार्थ वेस्ट प्रॉविंसेज, पृ० 371
3. अश्मा ह्याञ्जनम्, श० ब्रा० 3.1.3.11
4. आञ्जनगन्धि सुरभिम्, ऋग्वेद 10.146.6
5. 'In the sixth century B.C India had several groves of Anjana (Name of a tree, Black tree)—Jai·1.331, बी० सी० लॉ : एन्शियन्ट इण्डियन फ्लोरा, इण्डियन कल्चर, वॉल्यूम–IV नम्बर 1-4 से उद्धृत।
6. यत्र वा एनमिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात्..........तस्मादग्ना-वाहुतिरिवाभ्याहिता ज्वलन्ति। तस्मादुसुरभयः। यज्ञस्य हि रसात् संभूताः। श० ब्रा० 14.4.2.12

इति अभियवा: सुराष्ट्रणां प्रसिद्धा:' स्पष्टत: यह किसी यवभेद का संकेत देता है।
उशाना :—शतपथब्राह्मण के मतानुसार यह सोम के समान ही कोई वनस्पति है जो पर्वतीय क्षेत्रों में पायी जाती थी। इसका अभिषव-कल्प बनता था। सोम के समान ही यह एक ग्राह्य एवं उपयोगी लता थी[1]।

उदुम्बर :—उदुम्बर का वर्णन ऋग्वेद में नहीं है। 'उदुम्बल'[2] शब्द अवश्य आया है जिसका सायण ने बलिष्ठ अर्थ किया है—'उदुम्बलौ उरुबलौ विस्तीर्णबलौ'। बाद में यही अर्थ प्रचलित भी हुआ। उदुम्बर बल—ऊर्जा दायक बताया गया है। ब्राह्मणकाल में यह सामान्य रूप से भोज्य फल रहा होगा। यज्ञ के लिये यह प्रमुख द्रव्य था। सि के अतिरिक्त इसका यूप, स्थूणा, अभ्रि खनन काष्ठ, परिधि, चमस, स्रुवा, उलूखल-मुशल, आसन्दी, तल्प, प्रेंख, अभिषेकपात्र, द्रोण, चतु:स्रक्ति, दधिग्रहपात्र, मैत्रावरुण दण्ड, व्यजनदण्ड, प्रसेक, वितष्टि, शूल, दर्वी वपाश्रपणी, गोदोहनी, शंकु धृष्टि, रथचक्र, श्रिति, तूपर, नौका, तथा सीर आदि बनाये जाते थे। इससे स्पष्ट है कि यज्ञिय वृक्षों में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। बौधायन श्रौतसूत्र[3] में विविध समिधों में इस वृक्ष की भी गणना है। दीक्षा कर्म में यजमान को उदुम्बर की दातून करने का विधान है। स्नातककर्म में इसकी दातून करने का निर्देश है।

शतपथब्राह्मण में उदुम्बर का महत्त्व विशेष रूप से वर्णित है। इसे समस्त वनस्पतियों का प्रतीक माना गया है[4]। यहां इसे जीवनतत्त्व भी कहा गया है। इसके सर्वतोमुखी महत्त्व को देखते हुए ही इसे अन्न एवं ऊर्जा कहा गया है[5]। यह स्वयं प्रजापति का वृक्ष है[6]। शतपथब्राह्मण के एक उपाख्यान से विदित होता है कि उदुम्बर ही एकमात्र ऐसा वृक्ष है जिसने देवासुर संघर्ष में देवों का पक्ष लिया था[7]। इसका तात्पर्य यह है कि उदुम्बर के अतिरिक्त प्रायः सभी वृक्षों में राक्षसी प्रवृत्तियों के भी पोषक तत्त्व मिल सकते हैं, किन्तु उदुम्बर ही एकमात्र अपवाद है जिसमें देवत्व पोषक ही तत्त्व विद्यमान है।

---

1. श० ब्रा० 3.4.3.13
2. ऋग्वेद, 10.14.12
3. बौ० श्रौ० सू० 2.7
4. श० ब्रा० 6.7.1.13
5. श० ब्रा० 3.2.1.33
6. श० ब्रा० 4.6.1.3
7. श० ब्रा० 6.6.3.2

कर्कन्धु, कुवल एवं बदर :— ऋग्वेद[1] में कर्कन्धु एक ऋषि का नाम है जिसकी रक्षा अश्विनी कुमारों ने की थी। यजुर्वेद में यह एक वृक्ष के फल के रूप में वर्णित है। यह रक्तवर्ण का होता है[2]। इसकी तीन जातियाँ बतायी गयी हैं— कुवल, बदर एवं कर्कन्धु जो आकार की दृष्टि से क्रमशः बृहत्, मध्यम एवं लघु हैं[3]। इनका चूर्ण बनाकर यज्ञ में प्रयोग होता था[4]। इसके फल मधु के समान मीठे होते हैं[5]। शतपथब्राह्मण में इसे स्नेह कहा गया है[6]। गोधूम-यव (गेहूं जौ) आदि के साथ कुवल, बदर और कर्कन्धु को ग्राम्य तथा वन्य अन्न कहा गया है[7]। इससे यह ज्ञात होता है कि इसका चूर्ण अन्न के रूप में प्रयुक्त होता था। आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्रों में शीतकाल में कर्कन्धु (बेर) का चूर्ण गरीबों का भोजन बना हुआ है। कुवल के लिये 'कवल'[8] क्वल,[9] कोल[10] शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। दधि आतंचन (दूध जमाने के लिए जो पदार्थ प्रयुक्त हो उसे आतंचन कहा जाता है) के अभाव में इस फल का उपयोग किया जाता था[11] उपनयन संस्कार में इस वृक्ष के दण्ड का विधान वैश्य के लिए है[12]। शतपथब्राह्मण में इन्द्र-त्वष्टा उपाख्यान[13] में कुवल एवं कर्कन्धु को क्रमशः इन्द्र के अश्रु एवं पसीने से उत्पन्न बताया गया है। स्टिवर्ट ने इस पर विशेष अध्ययन किया है, इसके आकार एवं वैशिष्ट्य का उन्होंने उल्लेख किया है। पंजाब, सिन्ध तथा मध्य प्रदेश में इस वृक्ष से लाक्षा (लाख) तैयार किये जाने की भी प्रथा बतायो गयी है। इसकी छाल रंगाई के लिए तथा जड़ ओषधि में प्रयुक्त होती है। कांगड़ा

---

1. ऋग्वेद 1.112.6
2. मै॰ सं॰ 3.13.3
3. यत् प्रथमं निरष्ठीवत् तत्कुवलमभवत् द्वितीय तद्बदरं यत्तृतीयं तत्कर्कन्धु, मै॰ सं॰ 2.4.1. शौ॰ 20.136.3
4. काठ॰ 12.10
5. कर्कन्धुजज्ञे मधु सारघं मुखे, मै॰ 3.11.9 श॰ ब्रा॰ 12.9.1.5
6. यत्स्नेहस्तत्कर्कन्धु श॰ ब्रा॰ 12.7.1.4
7. श॰ ब्रा॰ 12.7.2.9
8. जै॰ ब्रा॰ 2.156
9. आप॰ श्रौ॰ 1.4.26
10. तै॰ ब्रा॰ 2.5.3.5
11. हि॰ श्रौ॰ 1.3.10
12. आप॰ गृ॰ 4.11.16
13. श॰ ब्रा॰ 12.7.1.2

घाटी में इस पर रेशम का कीड़ा भी पाला जाता है, किन्तु प्रायेण यह फल के लिए ही बोया जाता है[1] ।

करीर :— यह सौम्य वनस्पति है तथा वर्षा ऋतु में पर्वतीय प्रदेश में उपलब्ध होती है । अवर्षण (सूखा की स्थिति) के निवारण हेतु कारीरो नाम की इष्टि का विधान है । शतपथब्राह्मण में इसका उल्लेख[2] मिलता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में सायण करीर को फल नहीं अपितु शाखा का वाचक शब्द मानते हैं । यही करीर आज भी ब्रजमण्डल में करील के कुंजों के रूप में स्थित राधा-कृष्ण एवं गोपिकाओं के द्वारा रचायी गयी अनन्त लीलाओं की मधुर स्मृतियों को संजोये हुए हैं । इसी को शतपथब्राह्मण में प्रजापतिरूप कृष्ण द्वारा प्रजापति से उद्भूत प्रजाओं-रूप गोपिकाओं को सुख पहुंचाये जाने के वृत्त में अंकित किया गया है[4] । यज्ञों में इसके सक्तु (सत्तु, सतुआ) का भी प्रयोग बताया गया है[5] ।

कार्ष्मर्य :— सायण ने इस शब्द की निष्पत्ति कृष्धातु से वर्ण विकार द्वारा स्वीकार की है । शतपथब्राह्मण में सायण की व्याख्या अंकित है[6] । इसे राक्षसों का नाशक कहा गया है[7] । यज्ञ में इसकी परिधि बनती थी तथा स्रुक, वपाश्रपणी आदि अनेक पात्र इससे निर्मित होते थे । यज्ञिय वृक्षों में यह प्रमुख है[8] । यज्ञ में राक्षसों को भगाकर देवों द्वारा यज्ञवितान का उपाख्यान मिलता है[9] । अमरकोश के मतानुसार बेर की तीन प्रजातियाँ—कुवल, कुर्कन्धु व बदर हैं, उसी प्रकार 'शिवणी' की सात जातियों में से कार्ष्मय एक है[10] ।

---

1. स्टिवर्ट एंड ब्रॉन्डिस: फारेस्ट फलोरा आव् नार्थं वेस्ट एंड सेंट्रल इण्डिया, पृ० 87
2. श० ब्रा० 2.5.2.11
3. तै० ब्रा० 1.8.3. पर सायण की टीका
4. श० ब्रा० 2 5 2·11
5. तै० ब्रा० 1.6.4.5
6. प्रजापतेर्विस्रस्तस्याग्निस्तेज आदाय दक्षिणाऽकर्षत् । सोऽत्रोदरमत् । यत् कृष्ट्वा उदरमत् तस्मात् कार्ष्मर्यः । श० ब्रा० 7.4.1.39. तथा 3.8.2.17. कृषेर्धातोः रमेश्च कार्ष्मर्यं शब्द निष्पत्तिर्वर्णविकारेण द्रष्टव्या,–सायण ।
7. तै० ब्रा० 5.2.7.3-4,6.2.1.5, 'देवा ह एनं वनस्पतिषु राक्षोघ्नं ददृशुः यत् कार्ष्मर्यम् । श० ब्रा० 3.4.1.16;7 4.1.37, तथा 41
8. आप० श्रौ० 1.2.30, 10.10.20, बौ० श्रौ० 4.1,6.10,10.30
9. श० ब्रा० 7.4.1.37
10. अमरकोश, 88.35

कुश :— कुश जल की भांति ही पवित्र माना गया है[1]। यह तृण जाति की वनस्पति है। इसका अग्रभाग तीखा होता है जिससे क्षत होने से रक्त निकलने लगता है[2]। वर्षा ऋतु में इसे उखाड़कर रखा जाता है। कुशोत्पाटिनी अमावस्या आज भी ब्राह्मण वर्ण के व्यक्तियों द्वारा एक धार्मिक पर्व के रूप में मनायी जाती है। यज्ञ में इसका भूरि-भूरि प्रयोग किया जाता है। इसे सोम का प्रतिनिधि द्रव्य भी माना गया है। उपनयन में मुंज के अभाव में कुश, अश्मन्तक या बल्वज की करधनी बनायी जाती है। वास्तु परीक्षा प्रकरण में कहा गया है कि जहाँ कुश, बीरिण अत्यधिक उपजता हो तो वह भूमि उत्तम होती है। दीक्षा लेने वाले यजमान को कुश घास के बने वस्त्र धारण करने पड़ते थे[3]। कुश को ही दर्भ कहा गया है। यह केतु के लिए विशिष्ट समिधा है।

क्रमुक :— इसका 'क्रमुक' नामकरण भी मिलता है। शतपथब्राह्मण के वर्णन से विदित होता है कि एक स्वादिष्ठ, लाल रंग वाला मीठे फल का वृक्ष था[4]। इस वृक्ष की लकड़ी से धनुष का निर्माण किया जाता था इसीलिए धनुष को 'कार्मुक' भी कहते हैं। इसकी विशेपता यह थी कि जलने पर यह राख नहीं छोड़ता था[5]।

खदिर :— यज्ञिय वृक्षों में यह प्रमुख वृक्ष है। विवाध इसका पर्याय है। इसका सारभाग अत्यन्त ठोस एवं शक्तिशाली होता है जिससे रथ की आणि बनायी जाती थी। शतपथब्राह्मण का कथन है कि यह हड्डी की भाँति दृढ़ होता है। यज्ञ में खदिर के यूप बाहर की ओर तथा बेल के यूप भीतर की ओर उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार अस्थि बाहर एवं उसके भीतर मज्जा होती है। इससे स्रुवा[6], स्फ्य, शंकु आदि यज्ञ-पात्र बनते थे। इसकी कुर्सी (आसन्दी) भी बनती थी। इसके वृक्ष में कांटे भी होते हैं। इसकी टहनियों से दातून की जाती थी। खदिर

---

1. आपो हि कुशा: श० ब्रा० 1·3.1.3,5.3.2.7
2. अवच्छितो हि वै पुरुषः। तस्मादस्य यत्रैव क्व च कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति–श० ब्रा० 3.1.2.16, यद्यरुण दूर्वा न विन्देयुः अपि यानेव कांश्चन् हरितान् कुशानभिषुणुयात्। श० ब्रा० 4.5.10.6
3. श० ब्रा० 5.2.1.8
4. श० ब्रा० 6.6.2.11
5. श० ब्रा० 6.6.2.11
6. श० ब्रा० 1.3.3.20

वृक्ष पर लाख भी लगती है। खदिर की उत्पत्ति प्रजापति की हड्डियों से तथा पलाश की मज्जा से हुई बतायी गयी है[1]।

गवेधुका :— इस वनस्पति के लिये 'गवेधुक', 'गवीधुक' तथा गवीधुका' शब्द भी प्रयुक्त मिलते हैं। यह एक प्रकार का धान्य था जिसका रुद्र के निमित्त चरु बनता था। इसके यवागू और सत्तू का भी इंगित मिलता है। बीमारी में चरु के होम का विधान है[2]। रुद्र का ज्वर से सम्बन्ध होने का भी तथ्य इससे पुष्ट होता है। ऐसी संभावना है कि ज्वर के तथा अन्य रोगियों को इसका यवागू दिया जाता था[3]।

गुग्गुलु :— वैदिक संहिताओं में गुग्गुलु में अग्नि का स्थान बतलाया गया है तथा इसे मांस के समान गुण वाला कहा गया है[4]। यह सुगन्धित द्रव्य है जिसका उपयोग यज्ञ में धूप के लिये किया जाता था। अथर्ववेद का कथन है कि जहां तक इसकी गन्ध जाती है वहां तक यक्ष्मा का रोग नष्ट हो जाता है। इसे रक्षोघ्न भी कहा गया है। सायण ने 'गुग्गुलु प्रसिद्धं धूपसाधनम्' कहकर इसका वर्णन किया है[5]। श्रौतसूत्रों में गौल्गुलव (गुग्गुलु पाक) घृत से अश्वमेध में अश्व का अभ्यंग किया जाता था। गायों को 'गुग्गुलु-गन्धि' कहा गया है। संभवतः गायों में भी इस अभ्यंग का प्रयोग होता था। गौ के रोगों में भी इसका प्रयोग होता था[6]। बाणभट्ट रचित 'हर्षचरित' के अनुसार शंकर के भक्तगण अपने सिर पर गुग्गुलु सुलगा कर पूजन किया करते थे[7]।

तिल्वक :— इसकी लकड़ी वज्र के समान दृढ़ एवं कठोर बतायी गयी है। यज्ञ में इसका यूप बनाया जाता था[8]। श्मशानायतन हेतु इसे निषिद्ध किया गया है।

---

1. श० ब्रा० 13.4.4.9
2. शां० गृ० 4.19.2
3. तै० ब्रा० 1.7.3.6; श० ब्रा० 5.2.4.13, 5·3.1.10, 5.3.3.7, 9.1.1.8 तथा 14.1·2.19
4. काठ० 25.6, तै० सं० 6.2.8.6, शौ० 4.37.3, का० श्रौ० 5.4.15, 13.3.23, हि० श्रौ० 14.3.23, 16.6.41, बौ० श्रौ० 4.1, 15.25, 16.22, आप० श्रौ० 7.2.5.1, बा० श्रौ० 3.4.3.44, 1.6.1.36
5. ऐ० ब्रा० 1.28
6. शौ० 2.26-सा०।
7. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० 59
8. तैल्वकीमभिचरन्नादध्यात् एष वनस्पतीनां वज्रः मै० 3.1.9, श० ब्रा० 13.8.1.6, का० श्रौ० 21.3.20, वा० श्रौ० 2.1.2.8, हि० श्रौ० 11.3.19

गृह्य सूत्रों[1] में इसका ईंधन वर्जनीय बताया गया है। इसका दन्तधावन (दातून) भी वर्जनीय है। षड्विंश ब्राह्मण में तिल्वक की लकड़ी से यूप बनाये जाने का वर्णन है[2]। इस वृक्ष का लैटिन नाम 'सिम्प्लाकोस रेसिमोस, बताया गया है[3]।

दूर्वा:— आषाढ़ा, सहमाना, सहस्रवीर्या, सहस्रकाण्डा, शतमूला, शतांकुरा, अद्यद्विष्टा, शपथयोपनी आदि शब्द दूर्वा के पर्याय बताये गये हैं[4]। यह देवजाता वनस्पति बतायी गयी है। इसके काण्ड काण्ड एवं पोर पोर से अंकुर निकलकर पृथिवी में इसकी जड़ें फैलाकर इसे सुप्रतिष्ठित करते हैं। इसकी प्रतिष्ठा पृथिवी पर वैसी ही है जैसी क्षत्रियों की राष्ट्र में होती है। इसीलिये इसे ओषधियों का क्षत्रिय माना गया है। अन्य ओषधियां लोम (रोंया) मानी गयी हैं, दूर्वा उनका प्राणरस कही गयी है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि यदि आदार न मिले तो अरुण दूर्वा सोम के समान होती है[5]। सोमवत् होने के कारण ही अनुष्ठानों में यह परम पवित्र मानी गयी है। अरुण दूर्वा अब दिखायी नहीं देती।

नड:— यह वर्षा ऋतु का पौधा होता है। सायण ने इसे जलीय प्रदेश में होने वाला तेजी से बढ़ने वाला तृण-विशेष कहा है[6]। इससे सींक निकलती है तथा चटाई[7], सूप[8] आदि बनाये जाते थे। इसे यक्ष्मनाशन कहा गया है।

नीवार :—यह एक जंगली घास थी[9]। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में एक मर्मस्पर्शी वर्णन में नीवार का उल्लेख किया है[10]।

---

1. आ० गृ० 2.7.5, गो० गृ० 1.5·15, जै० गृ० 1.1
2. ष० ब्रा० 3.8
3. जे० एग्लिंग 'द शतषथब्राह्मण' भाग 1, पृष्ठ 427
4. ऋग्वेद 10.134.5, 10.142.8, मै० 2.7.15, तै० सं० 4.2.9.2, 5.2.8.3, तै० आ० 6.9.1 का० श्रौ० 17.4.18, बौ० श्रौ० 9.1, 10.32, कौ० गृ० 4 1.1, जै० गृ० 2·9
5. श० ब्रा० 4.5·10.5
6. 'अर्धप्लायोगिरति दासदन्यानासंगो अग्ने दशभिःसहस्रैः। अधोक्षणो दशमह्यं रूपान्तोनला इव सरसो निरतिष्ठन्' ऋग्वेद, 8.1.33 हि० श्रौ० 29.1.57, जै० गृ० 1.1, गो० गृ० 1.5.18, बौ० ध० 1.14.11
7. अथर्ववेद, 6.138.5
8. श० ब्रा० 1.1.4.19
9. काठ० सं० 12.4 मै० सं० 2.4.10, श० ब्रा० 5.1.4.14, 5.3.3.5
10. अभि० शाकु० 1.14

न्यग्रोध :—न्यग्रोध वट (वरगद) का पर्याय है। नीचे की ओर[1] अंकुर-शाखाएं निकलकर इसे भूमि की ओर लेजाकर भूमि में प्रतिष्ठित करते हैं—'न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः'। इसकी लकड़ी से बने पात्र से यजमान क्षत्रिय राजा का अभिषेक होता था[2]। इन्द्र की हड्डियों से क्षरित रस से इस वृक्ष के जन्म की वात कही गयी है[3]। विभिन्न संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों सूत्रों आदि में इस वृक्ष का अनेकशः वर्णन किया गया[4] है। पर्णकृच्छ्र व्रत में इसके पत्तों को उवाल कर पिया जाता था। उपनयन में इसका दण्ड क्षत्रिय या वैश्य के लिए विहित है। पतंजलि इसका परिचय कराते हुए कहते हैं, 'जिसमें दूध हो, अवरोह हों तथा पृथुपर्ण हों।' यह वानस्पत्य-चतुष्टय में उदुम्बर, अश्वत्थ तथा प्लक्ष के साथ गिनाया गया है। पञ्चवल्कल में भी इसका अन्तर्भाव है[5]। वट के फल के अन्दर विद्यमान सूक्ष्म कणों को 'वटकणिका' कहते हैं।

पर्ण अथवा पलाश :—ऋग्वेद में अश्वत्थ तथा अथर्ववेद में अश्वत्थ एवं न्यग्रोध के साथ इसका उल्लेख मिलता है[6]। पर्ण पलाश का प्राचीन नाम है। एक आख्यान में आया है कि द्युलोकस्थित सोम को गायत्री जब श्येनरूप होकर ला रही थी तब उसका एक पंख टूट कर गिर गया, उसी से पर्ण की उत्पत्ति हुई। त्रिपदा गायत्री की भांति इसके भी तीन-तीन पत्ते एक साथ होते हैं। यह ब्रह्म या ज्ञान का प्रतीक वृक्ष है। उपनयन में पलाश दण्ड का विधान है। समिधा भी पलाश की होती थी, क्योंकि पलाश व अग्नि ब्रह्म हैं[7]। यूप, स्रुवा, जुहू तथा अभिषेक पात्र भी इससे बनते थे। तैत्तिरीय संहिता का कथन[8] है कि रजस्वला स्त्री यदि पलाशपत्र से जल का पान करे तो उसे उन्माद रोग हो जाता है। यह वृक्ष लाक्षा (लाख) का अधिष्ठान कहा जाता है।

1· श० ब्रा० 13·2.7.3-4
2. श० ब्रा० 5.3 5.13
3. श० ब्रा० 12.7.1·9
4. काठ० 43.4; 44.1, मै० 4.4.2, ऐ० ब्रा० 7.30, 7.31
5. हि० गृ० 3.12
6. ऋ० 10.97.5, श० ब्रा० 5.3.5.11, मै० 4.1.1 तै० सं० 3.5.7.1 तै० ब्रा० 1.2.1.6; 1.7.1.9; 1.7.8.7, 3.7.4.2, कौ० सू० 30.15, हि० श्रौ० 13.3.34, बौ० श्रौ० 18.8; 14.30, आप० श्रौ० 1.4.25; 1.4.30, का० श्रौ० 4.2.1, गो० गृ० 1.7.16, कौ० गृ० 2.6.9 आदि।
7. श० ब्रा० 1.7.1.1 तथा 1.3.3.19
8. त० सं० 2.5.1.7

पीतुदारु :—ब्राह्मण साहित्य के अतिरिक्त इसका वर्णन संहिताओं व सूत्र साहित्य में भी मिलता है[1]। यज्ञ में इसका यूप तथा परिधि बनती थी। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि इसमें सुगन्ध होती है तथा तैजस होने के कारण इसकी लकड़ी शीघ्र जलती है। सायण इसे उदुम्बर-विशेष कहते हैं[2] कुछ विद्वान् इसे खदिर भी मानते हैं[3]। कौशिकसूत्र में यह शान्तवृक्षों में परिगणित है। दारिल ने इसे देवदारु माना है। शतपथ में इसका नाम रज्जुदाल, बिल्व खदिर तथा पलाश के साथ अंकित है[4]।

पुण्डरीक :—यह तालाबों में उगता है तथा श्वेत वर्ण[5] का होता है। हृदय को पुण्डरीक के समान बतलाया गया है[6]। इसका उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हुआ है[7]। शतपथ ब्राह्मण में कमल के पुष्प हेतु पुण्डरीक[8] एवं पुष्कर स्रज[9] की उपाधि प्रदान की गयी है[10]। ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि-प्रक्रिया में पुष्कर-पर्ण का उल्लेख मिलता है[11]।

पूतीक :—कहीं-कहीं इसके लिए 'ऊतीक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। 'आदार' भी यही है। इसका सम्बन्ध सोम से बतलाया गया[12] है तथा उसके अभाव में इसे ग्रहण करने का विधान है। इसका उपयोग दही जमाने हेतु किया जाता था। कुछ टीकाकारों ने इसे रोहिषतृण माना है तथा कतिपय सोमसदृश श्यामल लता विशेष मानते[13] हैं।

---

1. काठ० 27.6, का० श्रौ० 5.4.14; 18.4.3, श० ब्रा० 3.5.2.15
2. श० ब्रा० 3.5.2.15 पर सायण की टीका
3. मैक्डॉनल तथा कीथ, 'वैदिक इन्डेक्स' भाग 1 'पीतदारु' शब्द
4. श० ब्रा० 13.4.4.7
5. 'पुण्डरीक शुक्लम्'—बृ० उ० 2.3.6 (शांकरभाष्य)
6. हृदयपुण्डरीके वेश्मनि (शांकरभाष्य)
7. तै० ब्रा० 1.8.2.1 तथा 3.10.1.4
8. श० ब्रा० 5.4.5.6
9. श० ब्रा० 6.4.3.6
10. मैक्डॉनल तथा कीथ, 'वैदिक इन्डेक्स' भाग 1 'पुण्डरीक' शब्द देखें।
11. तै० ब्रा० 1.2.1.4; 1.1.3.6, 'प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णम्'। श० ब्रा० 7.4.1.12 तथा 2 1.1.8
12. श० ब्रा० 14.1.2.12
13. का० श्रौ० 25.12.19

पृश्निपर्णी :—निघण्टु[1] में 'पृश्नि' आकाश का पर्याय बताया गया है। इस ग्रन्थ में 'पृश्नि' सूर्य को कहा गया है, क्योंकि इसमें अनेक वर्ण होते हैं। रंगबिरंगे पर्ण के कारण इसे पृश्निपर्णी कहा गया है। अथर्ववेद में यह चर्मरोग हर, रक्षोघ्न रक्तशोधन, बृंहण, गर्भपोषक, दीपन-पाचन बतायी गयी है[2]। कण्वजम्भनी सहस्वती, सहमाना इसके पर्याय हैं। शतपथब्राह्मण सहित अन्य ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है[3]। कुष्ठ आदि रोगों में इसे पीसकर लेप करने का विधान है। रॉथ इसे बन्ध्यापन की ओषधि 'लक्ष्मणा' मानते हैं[4]। कई विद्वानों का कथन है कि बीमारी फैलाने वाले कण्वों (दुष्ट जीवों) से सुरक्षा दिलाने में इसका प्रयोग होता था[5]।

प्लक्ष :—यह क्षीरीवृक्ष है। इसकी उत्पत्ति मेद से बतलायी गयी है। न्यग्रोध आदि वानस्पत्य[6]—चतुष्टय में इसे गिनाया गया है। उन्माद रोग में इसकी समिधा से हवन का विधान है। शतपथब्राह्मण में इसकी उत्पत्ति का वर्णन मिलता है[7] जिसमें कहा गया है कि जब पशु का आलभन किया गया तो मेधस नीचे गिर पड़ा। उसे देवों ने देखा, इसीलिये इसका नाम 'प्रख्य' हुआ। प्रख्य से यह वृक्ष शनैः शनैः प्लक्ष कहलाने लगा। तैत्तिरीय संहिता में इसके लिये 'प्रक्ष' शब्द मिलता है[8]।

फाल्गुन :—सोम के अभाव में इसे ग्रहण करने का विधान है। जैमिनीय ब्राह्मण में बभ्रुतूल फाल्गुन का उल्लेख है[9]। शतपथ ब्राह्मण में इसे लोहित एवं अरुण दो वर्ण के पुष्पों वाला वृक्ष बतलाया गया है[10]। इन दोनों में केवल अरुण वर्ण के

1. निघण्टु 1.4
2. अथर्ववेद 2.25.1-4
3. शौ० 2.25.1-5 शा० ब्रा० 13.8.1.16, का० श्रौ० 25.7.17, हि० श्रौ० 29.1.4
4. कीथ तथा मैक्डॉनल, 'वैदिक इन्डेक्स' भाग 2, पृ० 21
5. डा० गंगाप्रसाद उपाध्याय 'शतपथब्राह्मण' भूमिका, पृ० 192
6. अथं ततो ब्रूयात् चतुष्ट्यानि वानस्पत्यानि संभरत नैयग्रोधान्यौदुम्बराणि आश्वत्थानि प्लाक्षाणीति, ऐ० ब्रा० 8.16.7.32 भी द्रष्टव्य है।
7. तस्य (देवैरालभ्यमानस्य पशोः) अवाङ्मेधः पपात। स एष वनस्पतिरजायत। तं देवाः प्रापश्यन्। तस्मात्प्रख्यः। प्रख्यो ह वै नामैतद्। यत् प्लक्ष इति, श० ब्रा० 3.8.3.12
8. तै० सं० 6.3.10.2; 3.4.8.4; 7.4.12.1
9. 'यदि तं न विन्देयुः ब्रभ्रुतूलानि फालगुनानि अभिषुणुयुः।...ब्रभ्रुतूलानि एव अभिसुत्यानि मेध्यतराणि, जै० ब्रा० 1.354
10. श० ब्रा० 4.5.10.2-6

पुष्प वाले वृक्ष को सोम के समान स्थान प्राप्त है[1], अन्य वर्ण वाले फाल्गुन को नहीं। विद्वान इसे अर्जुन वृक्ष का नामान्तर बतलाते हैं।

बिल्व :—यज्ञ में बिल्व वृक्ष के यूप का विधान है[2]। यह मांगलिक फलों में गिनाया गया है। अथर्वपरिशिष्ट में पुष्याभिषेक तथा समिधा हेतु इसका प्रयोग हुआ है। निरुक्तकार ने भरण (पोषण करने) के कारण इसका 'बिल्व' नामकरण स्वीकार किया है। शतपथब्राह्मण में इसका उल्लेख मिलता है[3]। उपनयन में इसका दण्ड धारण किया जाता है। यह पवित्र द्रव्यों में माना गया है।

भूमिपाश अथवा भूमिपाशक :—इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है[4]। इसे उन पादपों के साथ गिनाया गया है जिन्हें श्मशान भूमि के समीप नहीं लगाना चाहिए। कुछ विद्वानों ने इसका लैटिन नाम 'ऑनोसिस अर्वेन्सिस' अथवा 'स्पाईनोसा' या 'ट्रिटिकम रेपेन्स' वतलाया है जो एक प्रकार की घास है[5]।

मुञ्ज :—इससे सींक निकलती है। मुञ्ज की मेखला बनती थी। इसकी रस्सी से खाट, आसन आदि बुने जाते थे। इसका उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थ में आया है[6]। यह जल प्रधान तथा पित्तशामक वताया गया है। कौ० सूत्र में मूत्रसंग तथा गर्भ स्रंसन प्रकरण में इसका प्रयोग है। रक्तस्राव में भी इसका प्रयोग बिहित है। काठक गृह्य सूत्र में 'सप्तमुञ्ज' शब्द की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है :—

'सप्तमुञ्जो मुञ्जविशेषः' :—

> 'इषीका यस्य हेमाभा पत्रं यस्य सुपिञ्जरम्।
> सप्त मुञ्ज इति ख्यातः स शरः पर्पटः स्मृतः ।। (ब्राह्मणबल)

यव :—यह एक धान्य है जिसकी ख्याति अति प्राचीनकाल से रही है। ब्रीहि और यव दिव्य भेषज कहे गये हैं। सप्त मधुओं में इसकी गणना है ध्यातव्य है

---

1. श० ब्रा० 4.5.10.2
2. तै० सं० 2.1.8.1
3. श० ब्रा० 13.4.4.8
4. श० ब्रा० 13.8.1.16
5. एगलिंग, द शतपथ ब्राह्मण, 13.18.1.17 की टीका द्रष्टव्य सत्य प्रकाश—फाउण्डर आव् साइन्सेज आव् एन्शियन्ट इण्डिया, अपेन्डिक्स II, पृष्ठ 163-164
6. श० ब्रा० 4.3.3.16; 6.6.1.23 तथा 12.8.3.6

कि वर्तमान युग में भी यव की सुरा (बियर) बनाई जाती है। पाँच उत्तम बीरुधों में इसे गिना गया है। यह विषघ्न, बल्य और यक्ष्मनाशक है। शतपथ-ब्राह्मण में व्रीहि, गोधूम आदि के साथ ग्राम्य एवं जंगली अन्न में इसे गिनाया गया है। यह यज्ञोपयोगी अन्न है। बसन्त में यव से आग्रयण सम्पन्न होता है। समस्त संस्कारों में इसका विधान है। इसके अनेक भोज्य पदार्थ यावक, यवागू तथा पायस आदि निर्मित किये जाने के उल्लेख हैं। कौशिक सूत्र में इसे शान्त ओषधियों तथा मिश्र धान्यों में परिगणित किया गया है। मूत्रसंग में यव का प्रयोग बताया गया है। ब्राह्मणों में इसका उल्लेख मिलता है[1]।

रज्जुदाल :—इसका उपयोग यज्ञ में होता था। टीकाकारों ने इसका अर्थ श्लेष्मातक किया है। यह श्लेष्मल तथा पिच्छिल द्रव्य है। जैमिनीय ब्राह्मण में इसके फलों का वर्णन मिलता है[2]। ताण्ड्य-ब्राह्मण में इसके स्थान पर 'निचुदार' पाठ है[3]। इसका उल्लेख शतपथ व तैत्तिरीय ब्राह्मणों में भी उपलब्ध है[4]। एग्लिंग ने इसकी समानता 'कार्डिया माइक्सा' या 'लेटिफोलिया' से की है।

वंश :—'वंश' शब्द शतपथ ब्राह्मण में मकान की छाजन में तथा वंशानुक्रम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[5], परन्तु बांस के पादप के अर्थ में भी यह प्रयुक्त हुआ है[6]। वस्तुतः वन में उप्पन्न होने एवं ध्वनि करने के कारण इसे वंश कहा जाता है। अन्य ब्राह्मणों में भी इसका वर्णन मिलता है[7]। 'वंशो वनशयो भवति वननाच्छ्रूयत इति वा'।—या० 5.5

वधक :—शतपथ ब्राह्मण में एक पौधे के रूप में इसका सन्दर्भ है[8]। इसे वर्तमान नरकट कहा जाता है।

वरण :—यह बल्य रसायन, रक्षोघ्न एवं यक्ष्मनाशन ओषधि वाला वृक्ष है। यज्ञ

1. श० ब्रा० 1.1.4·20; 2·5.2.1; 3.6.1.9-10 तथा 4.2.1.11 तै० ब्रा० 1.8.4.1 शां० ब्रा० 4.12
2. जै० ब्रा० 2.274
3. ता० ब्रा० 21.4.13
4. श० ब्रा० 13-4-4.5-6 तै० ब्रा० 3.8.19.1; 3.8.20.1
5. श० ब्रा० 9.1.2.25
6. श० ब्रा० 10.6.5.9
7. तै० ब्रा० 1.2.3.1; गो० 2.3.11; शां० ब्रा० 11.4.24.7
8. श० ब्रा० 5.4·5.14; द्रष्टव्य शौ० 8.8·3-4

में इससे उलूखल, स्रुवा[1] आदि निर्मित होते थे। राजयक्ष्मा आदि रोगों में इससे मणि धारण का भी विधान है। यह भी शान्त वृक्षों में परिगणित है। वरण वृक्षों की बहुतायत के कारण इसके नाम पर वरणावती नदी का नाम प्रसिद्ध हुआ[2]। अथर्ववेद में भी वरणावती नदी का उल्लेख[3] है।

विकंकत या विकंकतिका :—ऋग्वेद[4] में 'कंकत' शब्द आया है। सायण ने इसका अर्थ 'अल्पविष' किया है। यज्ञ में इसके बने यूप, पात्रों एवं समिधा का प्रयोग होता था। शतपथ ब्राह्मण में परिधि के उपादान वृक्षों के प्रकरण में कहा गया है कि यह यदि पलाश का न मिले तो विकंकत का हो, उसके न मिलने पर कार्ष्मर्य का हो। यदि कार्ष्मर्य भी न मिले तो बिल्व, खदिर या उदुम्बर का हो। शतपथ के अनुसार इसकी उत्पत्ति तब हुई जब प्रजापति ने हवन कर हाथों का घर्षण किया था[5]। विकंकत की लकड़ी से स्रुवा बनने का विधान महाकवि कालिदास के समय के पूर्व से शुंग काल[6] काल तक चले आने का प्रमाण मिलता है, क्योंकि 'रघुवंश' महाकाव्य में इसकी ओर इंगित किया है[7]। शुंगकाल ब्राह्मण संस्कृति का स्वर्णकाल था। शतपथ ब्राह्मण में पलाश को ब्रह्म तथा विककंत को बज्र की संज्ञा दी गयी है[8]। स्पष्ट है कि वैदिक कालीन समाज में इसका वही सम्मान था जो उदुम्बर, पलाश एवं अश्वत्थ आदि यज्ञिय वृक्षों का था। ब्राह्मणग्रन्थों में इसका अनेकत्र अनेकशः उल्लेख मिलता है[9]।

विभीदक अथवा बिभीदक :—ऋग्वेद में 'विभीदक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे द्यूत क्रीड़ा हेतु अक्ष बनाया जाता था[10]। इसकी समिधा भी बनती थी। ऋग्वेद

1· श० ब्रा० 13.8·4.1-8
2. शौ० 4.7.1
3. अथर्व वेद 4.7·1
4. ऋ० 1·192.1
5. श० ब्रा० 9.1.2.25
6· डॉ० शंकर दत्त ओझाः संस्कृत को रघुवंश की देन, पृ० 50-51
7· कालिदास : रघुबंश 11.25
8. श० ब्रा० 5·2.4·18
9. श० ब्रा 1.3.3 20; 1·3.4.1; 2.2·4.10; 5.2.4.18; सैषा प्रथमा आहुतिः यद्विकंकतः श० ब्रा० 6.6.3.1; 9.2.3 39; 14.1.2·5, 14·1.3-26 तै० ब्रा० 1.1.3.12 तथा 1.2.1·17
10. ऋग्वेद 7·86.6

में आये उल्लेखों से प्रतीत होता है कि विभीदक के वृक्ष प्रवातशील भारी जंगलों में उगा करते थे। इस वृक्ष तथा इसके फल में मादकता भी होती है। शतपथब्राह्मण में इस वृक्ष का नाम उपरिवर्णित उन अन्य वृक्षों के साथ परिगणित है जिनको श्मशान के समीप नहीं लगाया जाना चाहिए[1]।

वीरण या वीरिण :—यह एक प्रकार की घास बतायी गयी है जिसका आधुनिक नाम 'एन्ड्रोपोगोन म्यूरिकेटस' माना गया है[2]। प्राचीन नाम 'वीरिण' ही है—'वैरिणा: वीरणप्रकाशा:'-सा० कौशिक सूत्र में वीरणतूल का उल्लेख[3] है। शतपथ ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख मिलता है[4]। राज्ययक्ष्मा में इसका बांधना विहित है[5]।

वेणु :—यह पादप वंश की ही जाति का था। शतपथब्राह्मण में इसका प्रयोग वंशानुक्रम द्योतित करने तथा बांस का वृक्ष दोनों ही अर्थों में मिलता है[6]। यह पोपला तथा पर्वों (पोरों) से युक्त पादप है। वांस की छड़ी (यष्टि) का उल्लेख इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में मिलता है[7]। इसकी टोकरी भी वनायी जाती थी। वांस के ये उपयोग आज भी होते हैं। इसका फल यवाकार होता है जिसे वेणुयव कहते हैं। ये वेणुयव वसन्त ऋतु में पकते हैं। इससे अनेक पात्र, सूप आदि भी बनते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसका सन्दर्भ उपन्यस्त है[8]। वांस के सुषिर (पोपले) होने के बारे में शतपथब्राह्मण में एक रोचक उपाख्यान वर्णित है[9]।

वेतस :—यह भी वांस की ही जाति का पादप है। शतपथब्राह्मण में इसका उल्लेख मिलता है[10]। यहाँ इसके नामाभिधान को स्पष्ट किया गया है :—'एष वऽतस्य वनस्पतिर्वेत्त्विति, वेत्तु सवेत्तु सोऽह वै तं वेतस इत्याचक्षते।' अर्थात् वह पादप इन वनस्पतियों को जानता है एवं चखता है, अतएव वेतस कहलाता

1. श० ब्रा० 13.8.1.16
2. एग्लिंग : 'द शतपथ ब्राह्मण' 13.8.1.15
3. कौ० सू० 18.10 एवं 13; 25.30, 26.26; 32.13
4. श० ब्रा० 13.8.1.15
5. के० प० 32.13
6. श० ब्रा० 10.6.5.9
7. श० ब्रा० 2.6.2.17
8. तै० ब्रा० 3.9.7.1
9. श० ब्रा० 6·3.1.31
10. श० ब्रा० 9.1.2.22

है। यह जलीय क्षेत्र में उत्पन्न होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका भूरि भूरि उल्लेख अंकित है[1]। संहिताओं तथा इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि इसकी चटाई चमस तथा शलाका आदि पात्र बनते थे। जल में स्थित होने के कारण इसे शीत एवं पित्तशामक बतलाया गया है। यह भी शान्तवृक्षों में गिना गया है।

शण :—यह वर्तमान सन का पौधा है[2]। मैक्डॉनेल एवं कीथ के अनुसार इसका लैटिन नाम 'कैनाबिस, सटाइवा' (भंगा) अथवा 'क्रोटलेरिया जंशिया' बताया गया है। शण से सूत निकाला जाता था। विष्कन्ध (शोषरोगरक्षः पिशाचादि-कृतगतिप्रतिबन्धात्मकः शरीर-शोषणरूपो वा विघ्नः—सा०) में इसका मणि धारण करने का विधान था। सायण का कथन है कि इसकी खेती होती थी जबकि मूलपाठ से इसकी पैदावार वन्य प्रतीत होती है। इसके सूत्रों से वस्त्र भी बनाया जाता था जो उपनयन संस्कार में प्रयुक्त होता था। इसका रुक्मपाश भी पहनने का उल्लेख मिलता है[3]।

शमी :—अग्नि की दाहकता को शान्त करने की क्षमता के कारण इसे 'शमी' कहा गया है[4]। वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों में आख्यान है कि अग्नि जब अपने चण्ड रूप में प्रकट हुए तो देवगण डर गये। शमी ने देवों का भय शान्त किया[5]। इससे यह आभास मिलता है कि शमी-काष्ठ से अग्नि की उष्णता मन्द रहती है। यज्ञ में अश्वत्थ की उत्तरारणि तथा शमी की अधरारणि बनाकर दोनों के पारस्परिक संघर्षण से अग्नि उत्पन्न की जाती थी[6]। यह मानवों की मैथुनीसृष्टि का प्रतीक है। शमी में बहुत सी पत्तियाँ होती हैं[7]। शमी की लकड़ी की खूंटियाँ भी बनती थीं[8]। बृहत्पलाशा, सुभगा, वर्षवृद्धा, ऋतावरी इसके

---

1. श० ब्रा० 9·1.2.24; 11.5.1.1; 12·8.3.15; 13.3.1.3; 13.2.2.19 तै० ब्रा० 3 8.4.3 तथा 3.8.19.2 जै० ब्रा० 1.23
2. 'शणा जरायु तस्मात्ते पूतयः' श० ब्रा० 6.6.1.24 तथा 3.2.1.11
3. श० ब्रा० 6.7.1.7
4. शौ० 6.11.1 (अग्निदाहशमनहेतुर्वृक्षः शमी-सा०)
5. तद्यदेतं शम्या अशमयन् तस्माच्छमी......शान्त्या एव न जगध्यै' श० ब्रा० 9.2.3.37 'शान्त्या अप्रदाहाय', तै० ब्रा० 1.1.3.11-12 (शमयति अनेनेति व्युत्पत्या शमीतिनाम सम्पन्नम्—सा०।
6. श० ब्रा० 11.5.1.15; 9.2.3.37
7. 'परःशतानि शमीपर्णानि भवन्ति, तै० ब्रा० 1.6.4·5
8. श० ब्रा० 13.8.4.1

पर्यायवाचक नाम हैं। इसका पत्ता तथा शाखा भी उपयोग में लाये जाते थे। यह उत्तम भेषज था। अथर्वपरिशिष्ट में कहा गया है कि मूल नक्षत्र में शमी के पत्ते से स्नान करने से पुत्र उत्पन्न होता है[1]। कल्पग्रन्थों में इसकी समिधा, शंकु, स्रुवा, अभ्रि एवं ध्रुवा आदि का उपयोग बतलाया गया है।

शल्मलि अथवा शाल्मलि :—शतपथब्राह्मण में इसका नामोल्लेख मिलता है[2]। विवाह में इसकी लकड़ी का रथ बनाया जाता था[3]। यह आज का सेंमल वृक्ष था। इसके फल विषैले[4] बतलाये गये हैं। अन्य ब्राह्मणों में भी यह चर्चित है[5]। इसका वृक्ष सबसे ऊँचा बतलाया गया है[6]।

श्येनहृत :—यह पौधा सोम का प्रतिनिधि द्रव्य है। सोम के अभाव में इसका अभिषवण विहित था। सोम का अरुण पुष्प (अरुण फाल्गुन) के न मिलने पर इसका प्रयोग होता था[7]।

स्फूर्जक :—शतपथ ब्राह्मण में यह भी उन वृक्षों में गिनाया गया है जिन्हें श्मशान के समीप नहीं लगाना चाहिए[8]।

सुगन्धितेजनम् :—ब्राह्मण ग्रन्थों में इस सुन्दर गन्धयुक्त ओषधि का वर्णन मिलता है जिसका यज्ञ में बहुत प्रयोग होता था[9]। इसे 'सुगन्धित' भी कहा गया है।

सोम :—वैदिक वाङ्मय में सोम सर्वाधिक स्तुत व श्लाघ्य वनस्पति था। ऋग्वेद

---

1. 'शमीपत्रसहस्रेण स्नानात्पुत्रं प्रसूयते', अ० प० 1.44.7
2. श० ब्रा० 13.2.7.4
3. ऋग्वेद 10.85.20
4. ऋग्वेद 7.50.3
5. तां० 9.4.10, तै० ब्रा० 1.5.6.6
6. श० ब्रा० 13.2.7.4
7. श० ब्रा० 4.5.10.3 'यद्यरुणपुष्पाणि न विन्देयुः श्येनहृतमभिषुणुयात्। यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत् तस्या आहरन्त्यै सोमस्यांशुरपतत्। तत्श्येनहृतमभवत्। तस्माच्छ्येनहृत मभिषुणुयात्। श० ब्रा० 4.5.17, 3-4
8. नाश्मगन्धान् नाघ्याण्डान् न पृश्निपर्णीन् नाश्वत्थस्यान्तिकं कुर्यात् न विभीतकस्य न तिल्वकस्य न स्फूर्जकस्य न हरिद्रोः न न्यग्रोधस्य ये चान्ये पापनामानः। श० ब्रा० 13.8.1.16
9. श० ब्रा० 3.5.2.17, तां० ब्रा० 24.13.5; ऐ० ब्रा० 1.28, जै० ब्रा० 1.13

के नवम मण्डल में सोम की महिमा गायी गयी है। इसे देवों की हवि कहा गया है[1]। संहिताओं एवं सूत्र साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह मुंजवान पर्वत पर उगता था। कुष्ठ आदि द्रव्य सोम के सहचर वतलाये गये हैं। इसे ओषधियों का राजा कहा गया है[2]। यह बभ्रु, अरुण, या हरित वर्ण का वतलाया गया है। इसमें पत्ते भी होते हैं। सोमरस को उत्तेजक व मादक वतलाया गया है। पत्थर में पीस-पेर कर इतना रस निकाला जाता था। दूध, दधि यवागू या मधु में सोम-रस मिश्रित कर उपयोग में लाया जाता था। दिन में तीन बार सोम सवन किया जाता था। विभिन्न ग्रन्थों के वर्णनों से यह तो निर्विवाद है कि वैदिक काल में भी इसकी उपलब्धि समाप्तप्राय ही थी। तभी इसके प्रतिनिधिभूत द्रव्यों की चर्चा की गयी है। बहरहाल, ब्राह्मणकाल में सोम दुर्लभ हो चुका था। इसके अभाव में पूतीक आदि प्रचलित हुए। इसके वारे में अपर्याप्त जानकारी के कारण ही विद्वानों में मतैक्य नहीं है। रॉथ ने इसे 'सर्कोस्टेमा एसिडम' के समान बतलाया है। वाट ने अंगूर से तथा राईस ने गन्ने से इसका साम्य वतलाया है। मैक्समू-लर इसे 'होप' नामक वनस्पति की श्रेणी में स्वीकार करते हैं[3]। जूलियस एग्लिग का कहना है कि यह आवेस्ता में उद्धृत 'हओम' वनस्पति या जिससे केर-मान तथा येन्द्र के पारसी 'हूम' नामक रस निकालते थे[4]। हिलेब्रां का अभिमत है कि इस प्रकार के सोमविषयक समस्त विवरण सोम के वारे में स्पष्ट तथ्य नहीं बतलाते[5]। परम्परागत कतिपय विद्वानों की यह धारणा रही है कि सोम चन्द्रमा ही है। किन्तु यह मत एकांगी है। वस्तुतः सोम में वे समस्त गुण विद्यमान रहे होंगे जो चन्द्रमा में हैं। इसी कारण दोनों का परस्पर तादात्म्य बतला दिया गया। वैसे यह एक वनस्पति अवश्य था जो याज्ञिकों के जीवन का अंग बन गया था।

हरिद्रु :—इसे भी श्मशान में न लगाये जाने का विधान है। मैक्डालेन और कीथ इससे देवदारु वृक्ष लेते हैं, किन्तु यह "अडिना कार्डिफोलिया" अधिक सही प्रतीत होता है।

---

1. सोमोवैदेवानां हविः श० ब्रा० 4.4.2.1; 3.2.4.1-22; 3.3.3.1-8; 4 2.5.15 तथा 4.5.10.1-8, जै० ब्रा० 1.13 छां० मं० ब्रा० 2·1.6
2. शौ० 3.21.10; 7.3.2; 5.24.7 (सोमोवीरुधामधिपतिः' स मावतु)......सोमो राजामृतं हविः 8.7.20
3. मैक्डॉनल और कीथ, 'वेदिक इन्डेक्स', वाल्यूम 2
4. जूलियस एग्लिग, 'द शतपथ ब्राह्मण', वाल्यूम 2, इन्ट्रोडक्शन
5. 'वेदिशे माइथॉलॉजी', पृ० 309

मनोविज्ञान :—ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर ऐसे कथन उपलब्ध हैं जो मनस्तत्त्व एवं मनोविज्ञान के सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हैं। इनसे मन के कार्य-कलापों एवं गतिविधियों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है[1]। ब्राह्मण साहित्य में वर्णित ब्रह्माण्ड की सृष्टि प्रक्रिया के अध्ययन से प्रतीत होता है कि तूष्णी मनस् 'असत्' की मूल स्थिति से उद्भूत हुआ तथा इस तूष्णी मनस् से प्रजापति प्रत्यक्ष हुए जिन्होंने आगे चलकर जीवधारियों एवं अन्य प्रपंचात्मक विश्व की रचना की। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों की धारणा है कि जो तत्त्व अन्ततोगत्वा प्रतिष्ठापित रहा वह मनस् तत्त्व है[2]। मन ही सर्वव्यापक तथा सर्वत्र विद्यमान रहता है[3]। मन सबसे महान् तथा सर्वाधिक तीव्रगामी है[4]। मन जो भी चाहता है उसे पा लेता है। समस्त अभीष्ट कर्म मन द्वारा अभिप्रेरित होने पर ही सम्पादित हो सकते हैं[5]। इस प्रकार समस्त कृत्य मन द्वारा नियंत्रित व संचालित होते हैं, किन्तु इसके विपरीत मन किसी के द्वारा नियंत्रित नहीं होता[6]। मन का कोई भी पूर्वगामी मनोवैज्ञानिक कारणभूत तत्त्व नहीं है[7]। अर्थात् मन के पूर्व कुछ भी सत्ता नहीं थी। प्रजापति का तूष्णी मनस् ही ब्रह्मरूप बतलाया गया है।

ब्राह्मणों में मन के दो पहलू १. चित्त एवं २. आकूति बतलाये गये हैं। चित्त से संभवत: बुद्धि अथवा मेधा क्रिया शक्ति तथा आकूति से तत्त्वभेदन करने वाली चिकित्सकता शक्तिक्रिया का अभिप्राय प्रतीत होता है। सायण ने आकूति को संकल्प कहा है। मनस् यज्ञ की जननी है, क्योंकि मन से ही यज्ञ उत्पन्न

---

1. The Brahmana literature, while of little significance to orderly thought marks an improvement in the conception of mind.' एस० के० रामचन्द्र राव: डिवेलपमेण्ट ऑव् साइकोलॉजिकल थॉट इन इण्डिया" पृ 185
2. तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितम्। यदिदं किंच। तै० ब्रा० 2.2·9.10; तस्य (आत्मन:) मन एव प्रतिष्ठा, श० ब्रा० 6.5.1.21
3. मनसा वा इदं सर्वं आस्तम् श० ब्रा० 6.2.2 21
4. मनो वै बृहत् पं० ब्रा० 7.6·1·7; जै० ब्रा० 1.137 ऐ० ब्रा० 20.2
   मनो वै भुवनेषु जीवनम् जै० ब्रा०
5. यदेव मनसैप्सीत्। तदापत्। तै० ब्रा० 1.7.9.3 इषितं हि कर्म क्रियते। तै० ब्रा० 3.2.9·8
6. मनसो वशे सर्वमिदं बभूव। नान्यस्य मनोवशम्। भीष्मो··· ······महीयान्। स नो जुषणि। उपयज्ञमागात्। आकूतीनां अधिपतिं चेतसा च। संकल्पजूतिं देवं विपश्चितम्। मनो राजानमिहवर्धयन्त:। उप ह वेदस्य सुमतौ स्याम तै० ब्रा० 3.1.2.1-3
7. मनसो हि न किंचन पूर्वमस्ति, ऐ० ब्रा० 10.8

होता है। मन से ही जीवन-यज्ञ भी चालित होता है। मनस्तत्त्व में ही सम्पूर्ण यज्ञविधान समाविष्ट रहता है। अतः यज्ञानुष्ठान कर्म मनस् की ही प्रसूति होता है। इच्छा शक्ति के ठीक बाद मन ही प्रथम इन्द्रिय है जो क्रियाशील होती है। चित्त की वृत्ति में ही भूत एवं भविष्यत् दोनों ही छिपे रहते हैं[1]। स्पष्टतया आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की अचेतनावस्था की भांति ही चित्त की वृत्ति होती है। चित्त में ही भूतकाल के संस्कार अंकित रहते हैं तथा भावी क्रियाकलाप भी इसी में गर्भित रहते हैं।

मन का सम्बन्ध विचारणाशक्ति से बतलाया गया है। ब्राह्मणों में आये 'मनोऽकुरुत' तथा 'अमनस्यत्' जैसे प्रयोग यही तथ्य प्रमाणित करते हैं कि 'उसने निश्चय कर लिया' तथा 'उसने सोचा एवं किया'। मन को मनुष्य की एक विशिष्ट प्रकृति बतलाया गया है[2]। मन को देववाहन अर्थात् इन्द्रियों का वाहन कहा गया है, क्योंकि समस्त प्राण एवं इन्द्रियां मन के अधीन ही होते हैं[3]। कभी कभी मन को कर्मेन्द्रिय के रूप में माना गया है। इसे देवों अर्थात् इन्द्रियों में आदि एवं प्रथमेन्द्रिय बतलाया गया है। जैमिनीय ब्राह्मण में मन को दशवां प्राण बतलाया गया है[4]। मन सहित इन्द्रियों के निम्नलिखित भोग्यपदार्थ बतलाये गये हैं :—

1–मनः (सुहृत्, दुहृत्) अच्छाई, बुराई।

2–घ्राणः (नाक) सुरभि, असुरभि।

3–चक्षु (आँख) दर्शनीय, अदर्शनीय।

4–श्रोत्र (कान) श्रवणीय, अश्रवणीय।

---

1. मनसः चित्तेदम्। भूतं भव्यं च गुप्यते तै० ब्रा० 2.5.1.1; आकूतिं देवी मनसः पुरोदधे। यज्ञस्य माता सुह वा मे अस्तु। यदिच्छामि मनसा सकामः। विदेयमेनत् हृदये निविष्टम्। तै० ब्रा० 2.5.3.1 जो संबंध सत्य एवं वाक् में है वही संबंध मन का चित्त एवं आकूति वृत्तियों (शक्तियों) से रहता है। 'मनसश्चित्तमाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि। तै० ब्रा० 2.4.6.6

2. स पितॄन् सृष्ट्वा अमनस्यत्। तदनुमनुष्यानसृजत्। तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्॥ तै० ब्रा० 2.3.8.3

3. मनो वै देववाहनम्॥ श० ब्रा० 13.5.6.1, सर्वे प्राणा मनोऽभिसम्पन्नाः। जै० ब्रा० 1.316

4. नव भवन्ति प्राणा एव। मनो दशमम् जै० ब्रा० 1.137 मन एव पुरः। मनो हि प्रथमं प्राणानाम्। श० ब्रा० 10.3·5.7

5–वाक् (जिह्वा) स्वादु, अस्वादु[1]।

ब्राह्मणों में मन तथा वाक् वाणी में परस्पर सम्वन्ध स्पष्ट किया गया है। मन के ही आदेश पर वाणी का प्रसार व प्रयोग संभव है। वाणी के प्रस्फुटित होने के पूर्व मन की क्रिया आरम्भ हो जाती है। मन में जो भी ऊहापोहात्मक विचार उत्पन्न होते हैं वे ही वाणी के माध्यम से बाहर आते हैं। इस प्रकार वाक् का जन्म मन से ही होता है। मन चूंकि स्वयं में पूर्ण होता है, अतएव वाक् (वाणी, के कृत्यों को पूरा कराता है[2]। अर्थात् मन जो कुछ भी सोचता है उसे वह वाणी के द्वारा कार्यरूप में परिणत कराता है। इसी प्रकार जिसका समापन वाणी द्वारा नहीं सम्भव हो पाता उसका समापन मन द्वारा कराया जाता है। मन व वाणी दोनों एक साथ मिलकर देवों के लिए यज्ञ का सम्पादन करते हैं। मानव जीवन के संदर्भ में इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र मन एवं वाणी दैवी कृत्यों के सम्पादन में साधनभूत होते हैं।

मन सम्वन्धी अवधारणाओं के बारे में ब्राह्मणों में गम्भीर मनन हुआ है। जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि आदि मनस्तत्त्व से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विरचित हुआ है। वस्तुतः समस्त सृष्टि ही ब्रह्म-मनस् का ताना-बाना ही है। प्रजापति की एक से अनन्त होने की प्रथम बलवती इच्छा इसी मनस्तत्त्व की ही विकृति है। ब्रह्म-मनस् में इच्छा के रूप में विचार का उद्भव ही सृष्टि की प्रथम स्थिति थी। तदनन्तर उस मनःकल्प को व्यक्त व स्फुट रूप प्रदान करने के लिए प्रजापति को कठोर तप एवं श्रम करना पड़ा। ये तप एवं श्रम मन की ही क्रियाशक्ति से सम्भव हो सके। अतएव मन का संसार ही जागतिक प्रपंच में अपना अत्यन्त व्यापक प्रभाव डालता रहता है। श्रेष्ठ मनःकल्प श्रेष्ठ प्रसूति का कारण होता है। मन की कमज़ोरी भौतिक कृत्य में भी परिलक्षित होती है। इसीलिए मन

---

1. मनसा सुहार्दसं च दुहार्दसं च विजानाति प्राणेन सुरभि चासुरभि च विजानाति चक्षुषा दर्शनीयं चादर्शनीयं च विजानाति। श्रोत्रेण श्रवणीयं चाश्रवणीयं च विजानाति। वाचा स्वादु चास्वादु च विजानाति। एताइह विज्ञाः। वि ह वैज्ञायते श्रेयान् भवति। य एवं वेद। ता उ एवं संज्ञाः। जै० ब्रा० 1.269

2: मनस्तु पूर्वं वाचो युज्यते। यद्धि मनसा अभिगच्छति तद्वाचा वदति। पं० ब्रा० 11.1.3 मनो व पूर्वं अथ वाक्। जै० 1.128 मनसः हिवाक् प्रजायते। सा मनोनेत्रा वाक् भवति। जै० ब्रा० 1.320 मनसा वा इषिता वाग्वदति। ऐ० ब्रा० 9.2.8 यद्वै वाचा न समाप्नुवन्ति मनसा तत्समापयन्ति। पं० ब्रा० 4.9.10; मनश्च ह वै वाक् च युजो देवेभ्यो यज्ञं वहतः। श० ब्रा० 1.3.6.1

को शक्तिशाली व श्रेष्ठ संकल्पवान् बनाये जाने की आवश्यकता के बारे में यजुर्वेद के मन्त्र विश्व-साहित्य में अपना सानी नहीं रखते।

यजुर्वेद के इन मन्त्रों में आत्म-प्रेरणा के प्रबल बीज छिपे हुए हैं। यजुर्वेद के इन मन्त्रों में ब्रह्म से यह प्रार्थना की गयी है कि यह मन जो प्रकाशों का भी प्रकाश है, जो सुषुप्ति में भी जाग्रत रहता है और दूर-दूर तक भाग जाता है, जो इन्द्रियों को ज्ञान देता है तथा जिससे शुभाशुभ समस्त कर्म जन्म लेते हैं वह मेरा दिव्यमन कल्याणमय संकल्पों से परिपूर्ण हो उठे !

'यत् जाग्रतः दूरमुत आ एति दैवम् तत् उ सुप्तस्य तथा एव एति।
दूरं गमम् ज्योतिषां ज्योतिरेकम् तन्मे मनःशिवसंकल्पमस्तु।'

मनुष्य के भौतिक कार्यकलाप अवरुद्ध हो सकते हैं, किन्तु मन कभी किसी भौतिक सीमा से बाँधा नहीं जा सकता। मन बिना आँख के देख सकता है, बिना कान के सुन सकता है, बिना पैर के चल सकता है, बिना पंखों के तथा बिना हाँथ पैर चलाये उड़ सकता है। यही मन का दिव्य गुण है (दैवम्) मन ज्योतियों की ज्योति है—ज्योतिषां ज्योतिः। इन्द्रियां ज्ञान की उपकरण हैं, किन्तु यदि मन अन्यत्र रहे तो खुली हुई आँखें भी कुछ नहीं देख सकतीं। कान भले ही कार्यरत हों, किन्तु बिना मन के संयोग के वे सुन नहीं सकते। कर्मेन्द्रियां तभी कार्यशील होती हैं जब मन उन्हें कार्य में प्रेरित करे। जैसे ही मन कार्य करना बन्द कर देता है, इन्द्रियाँ भी कार्य करना बन्द कर देती हैं। इन्द्रियाँ मन की ही उपकरणभूत सेविकायें होती हैं, यद्यपि हमारा यह धारणा रहती है कि ये स्वतन्त्र रूप से कार्य करती हैं।

मन जब बुराई पर उतर आता है तो वह विनाश ला सकता है, किन्तु जब वह अच्छा व श्रेष्ठ होता है तो वह मनुष्य तथा समाज के जीवन में सुख-शान्ति भर सकता है। इस प्रकार मन सर्जन एवं विघटन दोनों ही प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न रहता है। इसीलिए आत्मप्रेरणा देकर प्रतिदिन मन को उदात्त एवं शुभसंकल्प (विचार एवं कर्म) वाला बनाये जाने की प्रार्थना की गयी है।

जिस (मन) की सहायता से धीर एवं मनीषी पुरुष धार्मिक, सांसारिक एवं असाधारण कर्मों का सम्पादन करते हैं, वह (मन) जो अपूर्व एवं पूज्य है तथा जो हमारे ही अन्दर विद्यमान है, शुभ संकल्पों से युक्त हो।

येन कर्माणि अपसः मनीषिणः यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषुधीराः ।
यत् अपूर्वं यक्षम् अन्तः प्रजानाम् तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

यहां 'मनीषिणः' शब्द महत्त्वपूर्ण है। 'मनीषी' वह है जो अपने मन पर नियंत्रण पा चुका हो। यद्यपि मन सबका स्वामी होता है, किन्तु मनुष्य में एक ऐसा भी तत्त्व विद्यमान है जो इस स्वामी का भी स्वामी है। चूंकि इन्द्रियां स्वतः चालित नहीं होतीं, इसलिये मन ही उन्हें गतिशील करता है। इसी प्रकार मन भी स्वतन्त्र नहीं है। यह आत्मतत्त्व द्वारा संचालित होता है। मन एक उपकरण है। जब मनुष्य अपने मन पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है अर्थात् मनीषी हो जाता है तभी मन उसका आदेश अनुपालित करता है। आत्मप्रेरणा देकर मन को उस स्थिति में पहुँचाया जा सकता है जब वह मानव का स्वामी न होकर बल्कि सेवक बनकर उसके आदेशों का अनुपालन करने लगे। तब मन स्वामी न होकर हमारा उपकरण हो जाएगा।

वह मन जिसमें ज्ञान संचित रहता है, जो स्वयं चेतनावस्था (चेतः) है, जो मनुष्य का आधार (धृति) है, जो शाश्वत अन्तः ज्योति है तथा जिसके बिना कोई क्रिया सम्भव ही नहीं है, वह मेरा मन शिवसंकल्प से युक्त हो !

तत् प्रज्ञानं उत चेतः धृतिश्च यत् ज्योतिः अन्तः अमृतं प्रजासु ।
यस्मात् न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

यहाँ मन की चार विशेषतायें बतलायी गयी हैं :—ज्ञान (प्रज्ञानम्) चेतनावस्था (चेतः), आधार (धृतिः) तथा अन्तर्ज्योति। मन ज्ञान प्रदान करता है। वस्तुतः मन ज्ञानरूप ही है। दूसरा वैशिष्ट्य इसका चेतनत्व है। मनुष्य तब तक कुछ जान नहीं सकता जब तक वह चेतनयुक्त न हो। इसकी तीसरी विशिष्टता धृति है। ज्ञान एवं चेतना दोनों मन के गुण हैं, शरीर के नहीं। इन दोनों का आधार धृति है। धृति वह तत्त्व है जिस पर मानवत्व ही निर्भर करता है। चौथा गुण अन्तर्ज्योति है जो बाह्य पदार्थों को उद्भाषित करता है। इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि मन के इन्हीं चार गुणों के कारण ही हमें बाह्य, भौतिक जगत् की सत्ता का बोध होता है।

जिस अमर मन से भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् अवधारित होता है, जिससे जीवन-यज्ञ सम्पादित तथा विस्तारित होता है, मेरा वह मन, जो सात होताओं से यह जीवन-यज्ञ करता है, शिव संकल्प से युक्त हो !

येन इदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतम् अमृते न सर्वम् ।
येन यज्ञः तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

मन भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों कालों में प्रविष्ट हो जाता है । वर्तमान में जीता हुआ भी मनुष्य मन से भूत की सुख-दुःखात्मक अनुभूति का स्मरण करता है, वर्तमान में भोगों को भोगता है तथा स्वेच्छया भविष्य की भी योजनाएँ बनाता है । मन ही एक ऐसा अपूर्व एवं विलक्षण तत्त्व है जो काल की सीमाओं से आवद्ध नहीं है । इसी अभिप्राय से मन को 'अमृत' अमरत्व के गुण से विभूषित किया गया है । इस मन्त्र में दूसरा महत्त्वपूर्ण सन्देश यह है कि जीवन एक यज्ञ है जिसे मन की ही सहायता से सम्पादित करते हुए मनुष्य उसे विकसित व विस्तारित करता है । मन सात होताओं के माध्यम से जीवन-यज्ञ का अनुष्ठान करता है । ये सात होता सन्तत रूप से यज्ञ में अपनी आहुतियां डालते रहते हैं । ये सात होता हैं—दो आंखें, दो कान, दो नासिका-रन्ध्र तथा जिह्वा । आंखें देखने का, कान सुनने का, नाक सूंघने का तथा जिह्वा बोलने का ज्ञान अर्जित कर अपने स्वामी मन को वह ज्ञान हस्तान्तरित कर देते हैं । ज्ञान का यह हस्तान्तरण ही इन इन्द्रियों का उत्सर्ग है । उत्सर्ग ही यज्ञ है । मन अमर शक्ति से सम्पन्न होता है । इस शक्ति के कारण ही मन जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता तथा बोलता है उसे वह अच्छाई या बुराई में प्रयुक्त करता है । मन्त्र में यही प्रार्थना है कि मन अच्छे कृत्य में ही संलग्न हो ।

वह मन जिसमें ऋक्, यजुः एवं साम (त्रयी विद्या) उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार रथ की नाभि में चक्र की तीलियां होतो हैं, जिसमें समस्त उत्पन्न जीवों की चेतना ओत-प्रोत (ताने बाने की तरह बुनी) रहती हैं, वह मेरा मन शिवसंकल्पों से युक्त हो !

यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिताः रथनाभौ इवाराः ।
यस्मिन् चित्तं ओतम् प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

मन ज्ञान का कोष होता है । वैदिक परम्परानुसार चूंकि समस्त ज्ञान वेदों में निहित है, अतएव यहां मन को ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद का कोष कहा गया है । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि समस्त ज्ञान-राशि मन से ही उद्भूत होती है । विश्व विख्यात दार्शनिकों, अन्वेषकों एवं वैज्ञानिकों ने आविष्कार कर जो कुछ भी नवीन ज्ञान-विज्ञान विश्व को प्रदान किया है वह मन की ही

प्रसूति रहा है। अतएव अभूतपूर्व ज्ञानतत्त्व प्राप्त करने के लिए मन की अतल गहराइयों में उतरना पड़ता है जहां ज्ञान का अक्षय्यकोष छिपा हुआ है। ऐसा मेरा मन शिवसंकल्प से युक्त हो !

मन जो उसी प्रकार मनुष्यों को दौड़ाता है जैसा कुशल सारथि लगाम के माध्यम से अश्वों को दौड़ाता है, वह मन जो हृदय में प्रतिष्ठित है, जो नित्य-युवा (जरा रहित) है तथा जो तीव्र गतिवाला है, शिवसंकल्प से युक्त हो !

सुषारथिः अश्वान् इव यन्मनुष्यान् नेनीयते अभीशुभिः वाजिनः इव ।
हृत्प्रतिष्ठम् यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु !

इस मन्त्र में मानव शरीर की उपमा रथ से की गयी है। जिस प्रकार अश्वों द्वारा रथ दौड़ाया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा यह शरीर जीवन के विभिन्न राजमार्गों पर दौड़ाया जाता है। जिस प्रकार रथ के अश्वों को सारथि लगाम द्वारा नियंत्रित करता है उसी प्रकार मन शरीर रूपी रथ में लगी तथा पदार्थों के पीछे भागती विभिन्न इन्द्रियों को संचालित करता है। मन कभी बूढ़ा नहीं होता तथा उसकी गति अबाध होती है।

यजुर्वेद के इन मन्त्रों में मनः शक्ति पर विशिष्ट विचार किया गया है जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के सर्वथा अनुरूप ही है। यहां भौतिक नहीं, प्रत्युत मान-सिक तत्त्व का ही निरूपण अभीष्ट है। शारीरिक दृष्टि से मनुष्य की शक्ति शरीर की भौतिक शक्ति के अनुरूप ही न्यूनाधिक होती है, किन्तु मानसिक धरा-तल पर उसकी शक्ति असीम होती है। भौतिक रूप से मनुष्य पूजागृह में पूजा हेतु आसीन हो सकता है, किन्तु उसका मन पूजागृह की दीवालों को लांघकर अव्याहत रूप से विश्व भर में स्वच्छन्द विचरण कर सकता है। वस्तुतः मन ही शरीर को कार्यशील बनाता है। मनुष्य भौतिक रूप से कोई अद्भुत कृत्य भले ही सम्पादित न कर सके, परन्तु कल्पना के माध्यम से वह सभी बाधाओं को फांद-कर कुछ भी कर सकता है। मनुष्य जो भी कृत्य सम्पादित करता है वह सर्व-प्रथम मन में जन्म लेता है। मन में विवेक शक्ति विद्यमान रहती है जो उचित व अनुचित कर्मों में परस्पर भेद स्पष्ट कर मनुष्य को ईप्सित कर्म में प्रेरित करती है। इस प्रकार मानव मन प्रायः द्वन्द्वात्मक विचारों में दोलायित होता रहता है। इस द्वन्द्वात्मक एवं अनिश्चयात्मिका परिस्थिति पर नियंत्रण पाने के लिये मन को शक्तिशाली आत्मप्रेरणा की नितान्त आवश्यकता होती है।

यजुर्वेद के मन्त्र इसी प्रेरणा की पूर्ति करते हैं जिससे मन को सकारात्मक एवं जन कल्याणकारी कृत्यों के निमित्त ठोस मार्ग-दर्शन मिलता है।

भाषा विज्ञान :—ब्राह्मण ग्रन्थों में भाषा विज्ञानपरक विचार विमर्श हुआ है।

निरुक्त एवं शिक्षा :—ब्राह्मण साहित्य में अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। गूढ़ एवं अस्पष्ट शब्दों की उत्पत्ति अर्थ तथा उनके महत्त्व को स्पष्ट करने हेतु पर्याप्त विवरण दिया गया है। मन्त्रों अथवा कर्मकाण्ड के विभिन्न कृत्यों के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए भी इस प्रकार की व्युत्पत्ति प्रस्तुत की गयी है। ब्राह्मणों में शब्द की व्युत्पत्ति अथवा निर्वचन कभी शुष्क बौद्धिक व्यायाम हेतु नहीं, बल्कि साभिप्राय किया गया है[1]। एक सामान्य पाठक को ये शब्द व्युत्पत्तियां भले ही निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारित्वपूर्ण लगें, किन्तु इनके सूक्ष्म अध्ययन से यह प्रतीत होगा कि इनके पीछे एक निश्चित सिद्धान्त रहा है। डा० फतेह सिंह ने अपने ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्राह्मणों में शब्द व्युत्पत्ति कितनी तर्कपूर्ण है। अपने ग्रन्थ 'वेदिक इटिमॉलॉजी' में डॉ० सिंह ने विशालकाय वैदिक साहित्य में बिखरी शब्द व्युत्पत्तियों का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया है। प्रायेण विद्वानों ने इन शब्दव्युत्पत्तियों को यह कहकर निरर्थक बतलाया है कि भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से इनका कोई महत्त्व नहीं है, किन्तु इनकी तर्कसंगत समीक्षा करते हुए डॉ० सिंह ने यह मत व्यक्त किया है कि ये शब्द निर्वचन न केवल भाषावैज्ञानिक दृष्टि से बहुमूल्य हैं, प्रत्युत वैदिक साहित्य की व्याख्या करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

ब्राह्मणों में अंकित अधिकांश शब्द व्युत्पत्ति संबंधी व्याख्याओं का भरपूर उपयोग निरुक्तकार यास्क ने किया है। वस्तुतः निरुक्तकार के अनेक सिद्धान्त इन्हीं व्याख्याओं पर आधृत हैं। अनेक स्थलों पर यास्क ने अपनी इन व्याख्याओं को उद्धृत किया है तथा उन्हें अपनी कृति का स्रोत भी बतलाया है।

ऐसे लगभग पचास स्थल आये हैं। पी० डी० गुणे ने इस विन्दु पर अपने ग्रन्थ में पर्याप्त विचार किया है। उदाहरणार्थ, 'अध्वर्युः यज्ञं युनक्ति' तथा 'यज्ञनियं' के प्रयोग ने सम्भवतः यास्क को 'अध्वर्यु' शब्द का निम्नांकित निर्वचन

---

1. पी० डी० गुणे :ब्राह्मण कोटेशन्स इन द निरुक्त कमेमोरेटिव् एसेज प्रेजेन्टेड टु आर० जी० भण्डारकर, पृष्ठ 52

करने को प्रेरित किया—अध्वर्युः अध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता अध्वरं कामयते इति वा[1]।

ब्राह्मणों में अंकित कतिपय शब्द व्युत्पत्तियां अधोलिखित हैं :—

I—यद् अद्भ्यो अजायन्त तदाप्यानां आप्यत्वम्।

II—यद् असुराणां लोकानादत्त। तस्मादादित्यो नाम।

III—वित्तं वेद्यं अविन्दत। तद्वेदस्य वेदत्वम्।

IV—यद् अप्रथयत्। तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्।

V—प्राणो भूत्वा विभर्ति। तस्माद्वेवाह भारतेति।

VI—यदवारयन्त तस्मात् वारवन्तीय[2]।

ब्राह्मणों के परिशीलन से पता चलता है कि इनके प्रणेताओं को शब्द के आकृति विज्ञान (मार्फालॉजी) का भी ज्ञान था। उदाहरणार्थ, इन्द्रो वै युधाजित् तस्य एतत् यौधाजयम्[3]। जब युधाजित् से सम्बद्ध प्रकरणार्थ अभीष्ट हो तो 'युधाजित्' शब्द 'यौधाजय' में परिवर्तित हो जाता है। 'वाक् (ध्वनि) वायु है,[4] कथन का जब स्पष्टीकरण किया जाता है तो वस्तुतः वायु एवं ध्वनि में सम्बन्ध स्थापित करना ही अभीष्ट होता है।

ब्राह्मणों में यह तथ्य एक सर्वमान्य नियम की भाँति विहित है कि शब्दों अथवा मुहावरों का अशुद्ध उच्चारण नहीं किया जाना चाहिए[5]। पंचब्राह्मण (7910-11) में वामदेव्य साम गान के बारे में रोचक प्रश्न उठाया गया है जिसका यह कहकर उत्तर प्रस्तुत किया गया है कि साम का गान ठीक उसी प्रकार मन्थर, मधुर एवं कोमल गति से करना चाहिए जिस प्रकार एक बिल्ली

---

1. पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञनियं इत्याह। यज्ञाय यजमानाय आत्मने। तै० ब्रा० 3.3.7.10 स त्वा अध्वर्युः स्यात् यो यतो यज्ञं प्रयुङ्क्ते। तै० ब्रा० 3.3.9.12 निरुक्त 13.13
2. तै० ब्रा० 3.2.8.11 (2) तै० ब्रा० 3.9.2.12 (III) तै० सं० 17.4 ( ) तै० ब्रा० 1·1·3.7 ( ) श० ब्रा० 1.3.4.2 ( ) पं० ब्रा० 5.3.9
3. पं० ब्रा० 7.5.12
4. वाग्वै वायुः तै० ब्रा० 1.8.8.1
5. अयं स·······न म्लेच्छेत् श० ब्रा० 3.1.5.24 निरुक्तमेव वाग्वदेत, श० ब्रा० 4.1.8.12

अपने नवजात शिशुओं को मुख में बड़ी सावधानी से रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाती है अथवा जैसे वायु जल की सतह पर मन्द-मन्द गति से बहता है[1]। पंचब्राह्मण में स्तोमों एवं विस्तुतियों की चर्चा की गई है तथा दो सौ से अधिक सामों का उल्लेख किया गया है[2]।

विराट् एवं छन्दस् :—विराट् (सर्वशक्ति सम्पन्न भास्वर स्वयं भू: प्रजापति) से ही सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई। अतएव विराट् तत्त्व पर विचार आवश्यक है। छन्दों का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा है। उनका वही माहात्म्य बताया गया है जो इन्द्रियों एवं प्राणों का है। जब कभी लय एवं नाद का प्रकरण उपस्थित होता है, छन्दों का उल्लेख किया गया है[3]।

विराट् :—ब्राह्मणों में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं चरमपरिणति विराट् (राज्, प्रकाश करना) पुरुष (प्रजापति) में होती है। निखिल ब्रह्माण्ड उस विराट् पुरुष के शरीर के रूप में कल्पित है। यह विराट् पुरुष (प्रजापति) आत्मजनक एवं अनन्त है। इसी को वेदमूर्ति ब्रह्मा भी बतलाया गया है। वेदमूर्ति ब्रह्मा अक्षय्य वाक् का विकसित रूप है। यह वाक् ही विराट् पुरुष का जनक है। शतपथ ब्राह्मण में आये एक उपाख्यान में कहा गया है कि उक्त स्वयंभू की वाक् वेदमयी है। वेद ऋक्, यजु: एवं साम की त्रयी है। ऋक् तथा यजु: की उत्पत्ति प्रजापति के कठोर तप के फलस्वरूप हुई तथा अग्नि से ऋक् वायु से यजु: उद्भूत हुए तथा साम की उत्पत्ति सूर्य से हुई[4]।

वेद का यजु: गति एवं वाक् प्राण से युक्त रहता है। 'यजु:' में 'यत्' आण तत्त्व है तथा 'जू' वाक्तत्त्व। यही वाद में 'आप:' के रूप में प्रतिष्ठित होता है। इसमें अंगिरस् रूप तेजस्तत्त्व तथा भृगु रूप स्नेहतत्त्व समाविष्ट रहता है। भृगु

1. कथमिव वामदेव्यं गेयं इत्याहु:। यथा अंङ्कुली पुत्रान्सन्दश्य असंम्भिदती हरति। यथा वातौ अप्सु शनै: वाति, पं० ब्रा० 7.9.10-11
2. साम गान में साम विशेष की ऋचाओं के समूह को स्तोम कहते हैं। स्तोम गाते समय अपनायी गई गणना की प्रक्रिया 'विस्तुति' कहलाती है।
3. अथो सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि सप्त मुख्या: प्राणा:, जै० ब्रा० 1.131 प्राणो वै गायत्री … …चक्षु: वै त्रिष्टुप्, आदि। जै० ब्रा० 1.260
4. तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्ने: ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद: सूर्यात्सामवेद:। श० ब्रा० 11.4.2.3

एवं अंगिरस् रूप ही 'आप:' तत्त्व है[1]। मातरिश्वा (प्राण-वायु) द्वारा 'आप:' की आहुति ब्रह्माग्नि के समतुल्य यजुरग्नि में होती है जिससे दशाक्षर छन्द:स्वरूप विराट् (पुरुष) का प्रस्फुटन होता है। यह 'आप:' अथर्वण है, जो चतुर्थ वेद है। स्वयंभू प्रजापति वेदत्रयी सहित इसी आप: में प्रविष्ट (अन्तर्वान्) हो जाते है[2]। जैमिनीय ब्राह्मण में विराट् की उत्पत्ति बतलायी गयी है[3]।

छन्दस् :—वैदिक वाङ्मय में भाषा व शैली की दृष्टि से छन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक साहित्य का सूत्रपात ही छन्दों से हुआ है। छन्द के बारे में कहा गया है कि छन्द के बिना 'वाक्' उच्चरित ही नहीं होती[4]। वैदिक काल से लेकर आज तक छन्दों का महत्त्व अक्षुण्ण बना रहा है। जयकीर्ति ने वैदिक व लौकिक संस्कृत दोनों के संदर्भ में लिखा है कि सम्पूर्णवाङ्मय छन्दोयुक्त है। छन्द के बिना कुछ भी नहीं है[5]। अक्षरों के द्वारा वाणी का नियमन ही छन्द है। यह तथ्य ऋषियों ने भी कहा है (अक्षरेण मिमते सप्तवाणी-ऋ० 1.164,24—अक्षरेणैव सप्तवाणी: वागाधिष्ठितानि सप्त छन्दांसि मिमते निर्माणं कुर्वन्ति सायण)। शतपथब्राह्मण के अनुसार वाक् से छन्दों की उत्पत्ति हुई[6]।

ऋग्वैदिक मन्त्रों की रचना मूलत: तीन प्रमुख छन्दों द्वारा की गई है—गायत्री त्रिष्टुप् एवं जगती। ब्राह्मणों में अनेकश: छन्द सन्दर्भित हैं,—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, शक्वरी, तथा अतिछन्दस्। छन्द के प्रत्येक श्लोक में अक्षरों की संख्या गिनायी गयी है। शतपथब्राह्मण का कथन है कि गायत्री के

---

1. आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्। सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्। अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनाङ्गिरस: श्रिता:॥ गो० ब्रा० 1.39
2. सो त्रय्या विद्यया सहाप: प्राविशत, श० ब्रा० 6.1.1.10
3. सा (मनुस्तोम) चतुर्थम् अह: प्राप्य विराट् भवति। जै० ब्रा० 2.1; 3.118 ततो विराडजायत् विराजोऽधिपूरुष:। श० ब्रा० 13.4.1.2; तै० ब्रा० 1.2.1.27 तथा 3.9.2.3
4. नाच्छन्दसि वागुच्चरति—निरुक्त, 7.2 की वृत्ति में दुर्गाचार्य द्वारा उद्धृत। भरत ने नाट्य शास्त्र में कहा है—छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्द: शब्दवर्जितम्॰ ना० शा० 14.45 अर्थात् शब्द और छन्द परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। छन्द का लक्षण बतलाते हुए कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में कहा है—'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्द:—ऋक्सर्वानुक्रमणी, 2.6 अर्थात् जो अक्षर परिमाण है वही छन्द है।
5. छन्दोवाङ्मयं सर्वं न किञ्चिच्छन्दसांबिना, जयकीर्ति: छन्दोऽनुशासन 1.2
6. श० ब्रा० 3.3.1.1 तथा 3.9.21.17

एक पद में अष्टाक्षर हैं[1]। गायत्री त्रिपदा, अनुष्टुप् चार पदों से युक्त तथा पंक्ति में पाँच पद होते हैं[2]। अति-छन्दस् में अन्य सभी छन्दों की विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं। अनुष्टुप् को अन्य सभी छन्दों की प्रतिष्ठा (आधार) बताया गया है[3]।

गायत्री :—गायत्री छन्द में मुख्यतया तीन पाद होते हैं, प्रत्येक में आठ-आठ अक्षर होते हैं। इस प्रकार इसमें कुल चौबीस अक्षर होते हैं। यदा-कदा इसमें एक से लेकर पांच पाद तक होते हैं। इसीलिए इसके एकपदा, द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा और पञ्चपदा भी नाम हैं।

उष्णिक् :—गायत्री छन्द के प्रथम मध्य या अन्तिम पाद में चार अक्षर अधिक हो जाने से उष्णिक् छन्द होता है। अर्थात् इसमें तीन पाद और २८ अक्षर होते हैं।

अनुष्टुप् :—इसमें ३२ अक्षर होते हैं। इससे स्पष्ट है कि उष्णिक् (२८ अक्षर) में से ४ अक्षर अधिक कर देने से यह छन्द निर्मित हुआ। इसमें तीन या चार पाद होते हैं। इन्हीं पादों एवं अक्षरों की न्यूनाधिकता के कारण इसके अनेक भेद-प्रभेद होते हैं।

बृहती :—अनुष्टुप् छन्द में चार अक्षर बढ़ा देने से बृहती बनता है, अर्थात् ३६ अक्षर से यह बनता है। पादों और अक्षरों में वृद्धि होने से इसके अनेक भेद-प्रभेद होते हैं। इस प्रकार इसमें चार पाद और प्रत्येक पाद में ९-९ अक्षर होते हैं। यह छन्द मात्रा की दृष्टि से विवादास्पद है।

---

1. प्राणो गायत्री। चक्षुरुष्णिक्। वागनुष्टुप्। मनो बृहती। श्रोत्र पंक्तिःय एवायं प्रजननः प्राणः एष त्रिष्टुप्। अथ योऽयमाङ्प्राणः एष जगती। तानि वा एतानि। सप्त छन्दांसि चतुरन्तराणि आनी क्रियन्ते। तानि वा एतानि सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराणि अन्योन्यस्मिन प्रतिष्ठितानि। श० ब्रा० 10·2.4.1-9, जै० ब्रा० 1.131 तै० ब्रा० 1.5·9.1; अष्टाक्षरा गायत्री, तै० ब्रा० 1.1.5.3 द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप्, तै० ब्रा० 1.7.5.5 यदष्टौ उपदधाति। गायत्रिया तत्सम्मितम्। यन्नव। त्रिवृता तत्। यद्दश। विराजा तत्। यदेकादश। त्रिष्टुभा तत्। यद् द्वादश। जगत्या तत्। तै० ब्रा० 3.2.7.5-6. तै०ब्रा० 1.5.1.2
2. त्रिपदा गायत्री, तै० ब्रा० 3.2.1.3, प्रतिष्ठा वा अनुष्टुप्, तै० ब्रा० 3.3.9.1, अन्ततोऽनुष्टुभा। चतुष्पद्वा एतच्छन्दः तै० ब्रा० 3.3.10.3 पंच वा इमां अंगुलयः। पंक्ति वै यज्ञः। श० ब्रा० 11.2.1.4, जै० ब्रा० 1.129, सा पंचमुदक्रामत्·········अधोपंक्तिमेव, तै० ब्रा० 1.1.10.3, अतिछन्दा वै सर्वाणि छन्दांसि। वर्ष्म वा एषा छन्दसाम्। तै० ब्रा० 1.7.9.6
3. वागनुष्टुप् सर्वाणि छन्दांसि, तै० ब्रा० 1.7.5.5; 5.6.1.1

पंक्ति :—बृहती में चार अक्षर बढ़ा देने से यह बनता है, अर्थात् ४० अक्षरों का पंक्ति छन्द होता है। इसमें भी चार पाद होते हैं। कभी-कभी पाँच पादों की पंक्ति होती है। पादों और अक्षरों की न्यूनता व आधिक्य से इसके भी अनेक भेद-प्रभेद होते हैं।

त्रिष्टुप् :—पंक्ति (४० अक्षर) के पादों में चार अक्षर के आधिक्य से अर्थात् ४४ अक्षरों से त्रिष्टुप् छन्द निर्मित होता है। इसमें चार पाद और प्रत्येक पाद में ११-११ अक्षर होते हैं। इसके भी भेद-प्रभेद होते हैं। यह ऋग्वेद का अति प्रचलित छन्द है।

जगती :—त्रिष्टुप् में चार अक्षरों की वृद्धि से जगती छन्द निर्मित होता है। इसमें चार पाद और प्रत्येक पाद में १२-१२ अक्षर होते हैं। पादों और अक्षरों की न्यूनाधिकता से इसके अनेक भेद-प्रभेद होते हैं।

शक्वरी :—इस छन्द में सात पाद होते हैं तथा प्रत्येक पाद में ८-८ अक्षर (७×८= ५६ अक्षर) होते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि प्रजापति ने षड्-होता बनकर मनस् सृष्टि के बाद गायत्री आदि छन्दों का सृजन किया[1]। जैमिनीय ब्राह्मण का मत है कि प्रजाओं की कामना करने वाले प्रजापति ने अठारह अक्षरों का सृजन किया। छः-छः, की संख्या में यह त्रिवर्ग हुआ जो कि 'ॐ' रूप गायत्री छन्द हुआ[2]।

शतपथब्राह्मण के एक उपाख्यान में बतलाया गया है कि पूर्व में छन्दों के मात्र चार पद होते थे। इन छन्दों में से जगती सोम को लाने के लिये उड़कर गई। वह अपने तीन पदों को छोड़ आयी। त्रिष्टुप् सोम को लाने के निमित्त उड़ा तो अपना एक पद छोड़ आया। इसी क्रम में गायत्री भी सोम को लेने हेतु उड़ी जो अपने पदों के अतिरिक्त जगती एवं त्रिष्टुप् के पदों को भी सोम के साथ लाने में सफल रही। इसीलिए गायत्री में आठ पद होते हैं[3]। गायत्री में तीन चरण होते हैं, इसीलिए इसे त्रिपदा भी कहा गया है[4]। गायत्री के त्रिपदों

---

1. तै० ब्रा० 2.3.2.3
2. जै० ब्रा० 3·3.21
3. चतुरक्षराणि ह वा अग्रे छन्दांस्या सुः। ततो जगती सोममच्छापतत्सा त्रीणि अक्षराणि हित्वा जगाम······ततो गायत्री सोमयच्छापयत्सैतानि चाक्षराणि हरन्ति आगच्छत्······। श० ब्रा० 4.3.2.7 त्रिपदा गायत्री, ता० म० ब्रा० 10.5.4
4. त्रिपदा गायत्री, ता० म० ब्रा० 10.5.4

की अपनी प्रतीकात्मकता है। इस त्रिपद में भूः भुवः तथा स्वः त्रिलोक, ऋक्, जयुः तथा साम की त्रयी, त्रिदेवगण तथा यज्ञ की पूर्वोक्त त्रिरग्नियां अन्तर्भूत हैं। ऋग्वेद के अनुसार शैशव, यौवन तथा जरारूप मानव जीवन की त्रि-अवस्थाएँ ही जीवन रूपी यज्ञ की तीन, समिधाएँ हैं। इन्हीं की आहुतियाँ जीवन-यज्ञ में समर्पित होती हैं। इस प्रकार गायत्री मनुष्य जीवन का यज्ञगर्भित दिव्यातिदिव्य रूप है।

ब्राह्मण साहित्य में गायत्री गेय छन्द है। जो व्यक्ति गायत्री छन्द (साम) का गान करता वह गायत्री द्वारा संरक्षित होता है[1]। गायत्री छन्द में अनेक गूढ़ रहस्य निहित बताये गये हैं। गायत्री को प्राण की संज्ञा दी गयी है[2]। ज्योतिरूपा (आदित्योद्भूता) शक्ति होने के कारण गायत्री साक्षात् सूर्य रूप ब्रह्म है[3]। पृथिवी में निदान (अथर्ववेदीय उपचार) विद्या के समाविष्ट होने के कारण इसे (पृथिवी को) भी गायत्री कहा गया है[4]। इसी अथर्ववेदीय निदान विद्या के ही आधार पर अग्नि को भी गायत्री कहा गया है[4]। गायत्री स्वयं ब्रह्म है[5]। मनस्तत्त्व में जीवन-छन्द निवास करता है, ब्राह्मणों में प्रयुक्त छन्दस्तत्त्व जीवन की समञ्जसता (जय) का प्रतीक है। छन्द ऐसी प्रतीकात्मक लय है जिनमें पदार्थों की शाश्वत गतियाँ सन्निहित हैं[6]।

छन्दों का नामकरण भी प्रतीकात्मक है। कभी-कभी ये संख्या का बोध कराते हैं। छन्दों के द्वारा ही कपालों की गणना की जाती है[7]। प्रत्येक छन्द

1. तमेतदेव (गायत्री) सामगायन्तमत्रायत। यद्गायन्तमत्रायत तद्गायत्रस्य गायत्रत्वम्। जै० उ० ब्रा० 3.38.4
2. प्राणो वै गायत्री, श० ब्रा० 6 4.2.5, गायत्री वै प्राणः श० ब्रा० 1.3.5.15, प्राणो गायत्रम् ता० म० ब्रा० 7.9 तत्प्राणो वै गायत्रम् जै० उ० ब्रा० 1.37.7 प्राणो वै गायत्र्यः कौ० ब्रा० 15.2.16.3
3. वे० र०-पृ० 92
4. गायत्री ह वा एषा निदानेन, श० ब्रा० 1.4.1.36 यो वा अत्राग्निर्गायत्री स निदानेन। श० ब्रा० 1.8.2.15
5. ब्रह्म हि गायत्री, ता० म० ब्रा० 11·11.9 ब्रह्म ॐ गायत्री, जै० उ० ब्रा० 1.1.8, ब्रह्म वै गायत्री, कौ ब्र० 3.5
6. In Rigveda Passages metres are taken as symbolic rhythms in which the universal movement of things is cast·' श्री अरविन्दः आन द वेद, पृ० 307 पंडितः अदिति' पृ० 20
7. छन्दस्सम्मितानि स उपदधत् कपालानि, तै० ब्रा० 3.1.7.6

किसी न किसी देवता तथा वर्ण से सम्बद्ध हुआ करता है। उदाहरणार्थ, गायत्री छन्द अग्नि देव तथा ब्राह्मण वर्ण से सम्बद्ध है। त्रिष्टुप् इन्द्रदेव तथा क्षत्रिय वर्ण जगती विश्वेदेवों तथा वैश्यवर्ण एवं अनुष्टुप् छन्द वरुण अथवा प्रजापति देव एवं शूद्र वर्ण से सम्बद्ध बतलाये गये हैं[1]। इसी प्रकार देवों तथा वर्णों की विशिष्टताएँ छन्दों में भी परिलक्षित बतायी गयी हैं। त्रिष्टुप् को इन्द्रियं 'वीर्यम्[2], गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती को 'सत्य' एवं 'अनुष्टुप्' को 'सत्यानृत' कहा गया है। गायत्री एवं त्रिष्टुप् जगती में अन्तर्निविष्ट होते हैं[3]। जिसका तात्पर्य यह है कि इनका ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य से भी सम्बन्ध रहता है।

ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि वाक् एवं अनुष्टुप् एक ही हैं[4]। इस कथन का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि अनुष्टुप् सर्वाधिक विख्यात छन्द है, क्योंकि वाक् (वाणी) के प्रसार में यह नैसर्गिक रूप से स्वतः सम्मुख आ जाता है।

ब्राह्मण-साहित्य में उद्योग व्यवसाय :—

ब्राह्मण कालीन जीवन मुख्यतया आरण्यक एवं कृषि प्रधान था, कृषि एवं पशुपालन मुख्य उद्योग थे; किन्तु इनके साथ ही आर्य जीवनचर्या में विभिन्न उद्योग व्यवसायों का भी पर्याप्त योगदान था। ये उद्योग-व्यवसाय अपनी प्रारम्भिक स्थिति का परिचय देते हैं। ब्राह्मण कालीन व्यवसायियों में बढ़ई, लोहार, कुम्हार रथनिर्माता, नाविक, बुनकर आदि विशिष्ट रहे।

तक्षा एवं रथ निर्माता :—तक्षा बढ़ई का पूर्वनाम था। इसे अशुद्ध अवश्य बतलाया गया है, किन्तु इसका उद्योग महत्त्वपूर्ण उद्योग था[5]। यह श्रमिक विभिन्न यज्ञ-पात्रों और घरेलू उपयोग की वस्तुओं का निर्माण करता था। रथ एवं अनस् (बैलगाड़ी) का निर्माण इसका वैशिष्ट्य था। रथ एवं अनस् के अंगोपागों के

1. गायत्र छन्दा वै ब्राह्मणः।............त्रिष्टुप्छन्दा वै राजन्यः।........जगतीछिन्दा वै वैश्यः तै० ब्रा० 1.1.9.6-7, सत्यानृते वा अनुष्टुप्। सत्यानृते वरुणः। तै० ब्रा० 1.7.10.4, प्रजापतिर्वा अनुष्टुप्, पं० ब्रा० 4.8.9
2. इन्द्रियं वै वीर्यं त्रिष्टुप्। तै० ब्रा० 1.7.6.8 सत्यमेतानि (गायत्री त्रिष्टुप्जगती) छन्दांसि। तै० ब्रा० 1.7.10.4
3. गायत्रं च त्रैष्टुभं च जगतीं अन्तर्यन्ति, तै० ब्रा० 1.8.10.3
4. वागनुष्टुप् तै० ब्रा० 1.7.5.5; 1.8.8.2, 3.3.10.3 आदि श० ब्रा० 10·2.4.1
5. श० ब्रा० 1.1.3.12

व्यापक वर्णन को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तक्षाशिल्प ब्राह्मणकाल में अत्यन्त उन्नतावस्था में रहा होगा। 'ईषा' गाड़ी के दो खम्भे होते थे जिनके अग्रभाग को 'प्रउगम्' कहा जाता था[1]। गाड़ी में शालि अथवा अन्न रखने हेतु नीड़ तथा बैलों के कन्धे पर रखने हेतु भारवाहक 'धूः' (जुआ) होता था। 'धूः' के अगले भाग को भूमि पर टेक देने के लिए 'कस्तम्भी' तथा गाड़ी को रोकने के लिये 'अपालम्ब' बनाया जाता था[2]। वनस्पतियों के प्रकरण में उन वनस्पतियों का उल्लेख किया गया है जिनकी लकड़ी से रथ के चक्र तथा नेमि (धुरी) का निर्माण किया जाता था। यह लकड़ी अत्यन्त शक्तिशाली, दृढ़ तथा टिकाऊ होती थी। रथ का धुरा अरटु लकड़ी का होता था[3]। नवोढ़ा वधू को ले जाने हेतु पालकी के निर्माण में 'शल्मलि' की लकड़ी का उपयोग किया जाता है[4]। एक पशु द्वारा खींचे जाने वाले रथ को 'स्थूरि' तथा रथों की दौड़ के उपयोग में लाये जाने वाले रथ को 'आजिसृत' कहा जाता था। यह बढ़ईगीरी के उन्नत शिल्प का द्योतक था[5]।

नौकाओं का निर्माण भी बढ़ई ही करता था। द्रोण (लकड़ी) की डोंगी भी बनायी जाती थी[6]। पतवार को 'अरित्र' कहा जाता था।

कर्मार :—यह लोहार का पूर्वगामी नामकरण है। यह अस्त्र-शस्त्र एवं कुटीर उपयोग के लोहे के उपकरण बनाता था। लोहे का धमन करने वाले को 'ध्मातृ' कहा जाता था[7]। लोहे को आग में तपाने हेतु चर्म की धौंकनी प्रयोग में लायी जाती थी। यही शिल्पी पार्श्व, असि अर्थात् शास नामक अस्त्र का निर्माण करता था[7]। क्षुर धुरा (नाई का उस्तरा) भी यही बनाता था। इसके अतिरिक्त "अभ्नि" "शंसान" परशु (फरसा तथा कूट) (हथौड़ा) आदि औजार भी यही

---

1. श० ब्रा० 1.1.2 12, 1.1.2.9, मोनियर विलियम्स का शब्दकोश पृष्ठ 652 भी द्रष्टव्य है।
2. श० ब्रा० 1.1.2.9 तथा 3.3.4.13
3. श० ब्रा० 1.4.2.15; 5.1.4.11
4. श० ब्रा० 5.4.3.16
5. श० ब्रा० 13·3.3.9; 5.1.5.28
6. श० ब्रा० 1.6.3.17; 5.4.2·5
7. श० ब्रा० 6.1.3.5
8. श० ब्रा० 3.8.3.24

कर्मार बनाता था[1]। इस कर्मकार द्वारा निर्मित घरेलू उपकरणों में परीशास (संडासी), उपवेश चिमटा), उदंचन (बाल्टी) तथा सुई आदि थे[2]।

बुनकर :—ब्राह्मण काल में तन्तुवाय बुनकर का व्यवसाय भी प्रचलित था। ताने को 'अनुच्छाद' बाने को 'पर्यास' एवं सूत को 'तन्तु' का नाम दिया गया था[3]। सूती वस्त्रों के अतिरिक्त ऊन के वस्त्र भी बुने जाते थे। ऊनी धागे को 'ऊर्णा सूत्र' कहा गया है। 'तार्प्य' नाम के वस्त्र को कुछ लोग मलमल बतलाते हैं, किन्तु गोल्डूस्टुकर तथा जूलियस एग्लिंग के कथनानुसार यह रेशमी वस्त्र था[4]। सूत कातने का कार्य स्त्रियों द्वारा सम्पन्न किया जाता था[5]। पंचविंश ब्राह्मण में इन महिलाओं को 'वयित्री' नाम दिया गया है[6]। प्रधात एवं दशा (किनारी) आदि से युक्त वस्त्रों का निर्माण शतपथब्राह्मण काल में बुनकर-उद्योग के विकास का द्योतक बतलाया गया है[7]।

स्वर्णकार :—यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में 'स्वर्णकार' शब्द प्रयुक्त हुआ नहीं प्रतीत होता, किन्तु स्वर्णाभूषणों एवं स्वर्णपात्रों के प्रभूत प्रयोग एवं प्रचलन को देखते हुए यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि उस समय सोनारी का उद्योग चरम स्तर पर रहा होगा। सोनार को 'हिरण्यकार' कहा जाता था।

वनस्पतियों के प्रकरण पर विचार करते समय यह उल्लेख किया जा चुका है कि अनेक पादपों, वृक्षों की लकड़ी से विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाये जाते थे। इनमें से रस्सी, चटाई उद्योग अति प्रसिद्ध कहा जा सकता है। बेंत की चटाई का भी उल्लेख मिलता है[8]। नरकट अथवा सिरकी से सूप बनाने की अति प्रचलित प्रथा थी[9]। चमड़े के पात्रों का वर्णन यह इंगित करता है कि चर्मोद्योग

---

1. श० ब्रा० 12.8.3.26; 3.6.4.10
2. श० ब्रा० 4.3.5.21, 14.1.3·1, 13.3.4.5
3. श० ब्रा० 3.1.2.18
4. मैक्डॉनेल और कीथ: 'वेदिक इण्डेक्स' –द्रष्टव्य 'तार्प्य' शब्द।
5. एतद्वा एतत्स्त्रीणां कर्म यत् ऊर्णा सूत्रम्, श० ब्रा० 12.3.4.2
6. पं० ब्रा० 1.8.9
7. श० ब्रा० 3.1.2.18; 4.1.1.28 द्रष्टव्य–डॉ० उर्मिला देवी शर्मा: शतपथब्राह्मण—एक सांस्कृतिक अध्ययन
8. श० ब्रा० 13.2.2.19 तथा 13.3.1.3
9. श० ब्रा० 1.1.4.19; 12.8.3.15

भी एक लघु उद्योग के रूप में समाज की सेवा में रत था[1]। वस्त्रों की रंगाई का भी व्यापार रहा होगा, क्योंकि 'कृष्णावातः' शब्द इसकी पुष्टि करता है[2]। नाई का व्यवसाय यज्ञ-कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता था। यज्ञ के सम्बन्ध में क्षौर कर्म का प्रभूत वर्णन ब्राह्मणों में मिलता है।

व्यापार के क्षेत्र में 'गो' पशु विनिमय मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होता था। ब्राह्मणकालीन व्यापार विदेशों से भी सम्बद्ध प्रतीत होता है। वेबर ने वैदिक-कालीन आर्यों को कुशल नाविक और सामुद्रिक व्यापारी के रूप में माना है[3]।

ललित कलाः—सामान्यतया ब्राह्मण साहित्य में प्रयुक्त 'शिल्प' शब्द को आज का 'कला' शब्द कहा जा सकता है। कौषीतकि ब्राह्मण में त्रिधा शिल्प का उल्लेख मिलता है[4]—नृत्य, गीत एवं वाद्य। उस काल में संगीतकला पर्याप्त विकसित अवस्था में थी। वीणा वाद्य का भूरिशः वर्णन मिलता है[5]। 'शततन्त्री' को भी एक प्रकार की वीणा ही रही होगी[6]। अश्वमेध एवं वाजपेय यज्ञों की समाप्ति पर ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वीणावादक बीणा बजाकर यजमान राजा का कीर्ति-गान करते थे[7]। वीणा के अतिरिक्त 'दुन्दुभी' नामक वाद्य-यन्त्र प्रचलित रहा होगा। भूमि में खुदे हुये गड्ढे के मुंह को चमड़े से बन्द कर दिया जाता था[8]। यही 'दुन्दुभि' वाद्य था।

धातु विज्ञानः—ब्राह्मण ग्रन्थों में धातुओं के भौतिक एवं आध्यात्मिक गुणों तथा उनके उत्तम प्रयोग की बड़ी प्रशंसा की गयी है और उन्हें जीवन की अविभाज्य वस्तु माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में 'बहुमूल्य पदार्थ' के अर्थ में 'रत्न' शब्द का प्रयोग किया गया है[9]। सबसे बहुमूल्य तथा महत्त्वपूर्ण धातु 'हिरण्य' 'स्वर्ण' है जिसका भूरि-भूरि वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। इस रमणीक पदार्थ में

---

1. श० ब्रा० 1.1.2.7 तथा 1.6.3.16
2. श० ब्रा० 5.2.5.17
3. ए० डी० पुशाल्कर, 'वेदिक एज' (लन्दन) 1951 वेबर का अभिमत, पृ० 245
4. कौ० ब्रा० 29.5
5. श० ब्रा० 3.3.3.1
6. श० ब्रा० 3.2.4.6, 13.1.5.1
7. श० ब्रा० 13.4.2.11 तथा 13.4.3.5
8. श० ब्रा० 5.1.5.6.
9. श० ब्रा० 5.3.1.1.

जो अग्नि-तेज का ही प्रतिरूप है देवगण रमण करते हैं। इसीलिए इसे 'हिरण्य' कहा गया[1]। हिरण्य अग्नि का वीर्य है[2]। स्वर्ण पहले 'हिरण्य' का विशेषण था जो परवर्ती काल में उसका पर्याय बन गया[3]। 'हिरण्य' शब्द संभवतः स्वर्ण एवं रजत (चाँदी) दोनों के लिये प्रयुक्त होता था यह दो प्रकार का बतलाया गया है-स्वर्ण (श्वेत) एवं हरित (पीला)। श्वेत चाँदी का तथा हरित सोने का द्योतक था[4]। हिरण्य के नानाविध आभूषण तथा यज्ञ-पात्र बनते थे[5]। इसे धमन क्रिया द्वारा कच्ची धातु से प्राप्त किये जाने का उल्लेख मिलता है[6]। चाँदी का उल्लेख 'रजत' नाम से मिलता है। कतिपय विद्वान् 'रुक्म्' को चाँदी का ही आभूषण मानते हैं[7]।

लौह 'लोहा' कृष्णायस धातु भी प्राप्त होती थी। लोहे के बने 'लोहमय आयस' शस्त्र का उल्लेख किया गया है। 'लौहायस' शब्द पर विद्वानों में मतैक्य नहीं रहा है। जूलियस एग्लिग इससे लोहा-ताम्बा का अर्थ लेते हैं, किन्तु राधा-कुमुद मुकुर्जी का कथन है कि लौहायस ताम्बा तथा अयस कांस्य धातु था। सीसा (सीसम्) भी एक प्रसिद्ध धातु थी[8]।

हिरण्य सोने का आभूषण कानों में पहना जाता था। स्रज हार का नाम

---

1. श० ब्रा० 7.4.1.16.
2. 'एतस्यां' रम्यायां देवा आरभन्त तस्माद्धिरण्यम। हिरण्यं ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोक्षम्।' श० ब्रा० 3.3.1.3; .3.2.4.8; 3.3.2.2.
3. श० ब्रा० 11.4.1.8
4. सर्वं हिरण्य रजतम्…………सर्वं सुवर्ण हरितम्।
   हिरण्यं हितरमणीयं रजतं सुवर्णं काञ्चनं ॥
   तै० ब्रा० 3.12.6.6.
   हरितम् हरितवर्णं उत्तमम्। इति भट्टभास्करः। द्रष्टव्य तै० ब्रा० 1.8.9. अमृतं हिरण्यम्।
   तै० ब्रा० 1.7.8.1. हिरण्यमिति-रजतस्वर्णयोर्नाम। इति भट्टभास्करः ॥
5. श० ब्रा० 5.1.2.19.
6. श० ब्रा० 2.1.1.5.
7. राधाकुमुद मुकर्जी: हिन्दू सभ्यता। पृ० 99.
8. सर्वं सीसं सर्वं त्रपु तै० ब्रा० 3.12.6.5 श० ब्रा० 5.1.2.14; 12.7.2.7

था। रुक्म भी हार था, जो सम्भवतः हीरे अथवा चटकीले पत्थरों से जटित था[1]।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि कृष्णायस (लोहा) आयुधों के निर्माण में तथा लोहायस (तांबा) पात्रों के निर्माण में प्रयुक्त होता था[2]। एक स्थल पर लोहा सोना तथा सीसा की धातुओं को तपाकर उनके तार खींच आने का सन्दर्भ मिलता है। इस दृष्टि से सीसा को सोना ओर लोहा के बीच की धातु बताया गया है[3] सीसा सोने की भांति ही मृदु, किन्तु लोहे की तरह श्याम वर्ण का था।

---
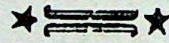
1. हिरण्यमाबध्नाति (कर्णे) ॥ तै०ब्रा०2.79.3 स्रजमुद्गात्रे......रुक्मं होत्रे ॥ तै० ब्रा० 1.8.2.3 इयं वै रजता। असौ हरिणी (सौवर्णी)। यद्रुक्मौ भवतः... ॥ ......सुवर्ण हिरण्यं......तै० ब्रा० 1.8.9 यथा ह वै योषा सुवर्णं हिरण्यं पेशलं बिभ्रती रूपाणि आस्ते। तै० ब्रा० 3.3.4.5
2. कृष्णायसं सर्व......लोहायसं (लोहितायसं ताम्रम्) तै० ब्रा०3.12.6.5, नैतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसम्। श० ब्रा० 5.3.3.2; लोहितायसम्। तै० ब्रा० 1.7.8.2
3. न वा एतद्यो न हिरण्यं। यत्सीसम्। तै० ब्रा० 1.8.5.3 सीसेन विध्यति ॥ तै० ब्रा० 1.7.8.2

पञ्चम अध्याय

धर्म, राजनीति, विज्ञान एवं विविध

धर्म :—समाज में धर्म उतना ही प्राचीन है जितना मानव का सृजन। मानव विचारणा शक्ति से सम्पन्न उत्पन्न हुआ है। यह विचारणा शक्ति बौद्धिक चेतना व ज्ञान ही है। इसी विचारणा शक्ति के साथ धर्म भी उत्पन्न हुआ। वैदिक कालीन धर्म का जन्म प्रकृति की महाशक्तियों के नियमित संचालन से उत्पन्न ऋत और सत्य पर आधृत है। प्रकृति की इन महाशक्तियों के संचालक नियमों को दैनन्दिन व्यवहार में प्रयुक्त करने के साथ-साथ धर्म का उत्तरोत्तर विकास हुआ। इसीलिये ऋग्वेद में 'धर्म' शब्द का अर्थ व्यवहार जगत् को संचालित करने वाला नियम-समुदाय बतलाया गया है[1]। अतएव प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि धर्म जीवन के प्रति मनुष्य की सम्पूर्ण चेतनवृत्ति का द्योतक है, क्योंकि वह बौद्धिक चेतना और ज्ञान से ही प्राप्त एवं प्रकाशित होता है।

मानव जीवन के संदर्भ में अन्य सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि धर्म वह मूलभूत सिद्धान्त है जिसपर मानव समाज आधृत रहता है। व्यवहारजगत् में धर्म व्यक्ति (जीवात्मा) का स्वेच्छया अंगीकृत एक मार्ग है, जीवन पद्धति है[2]। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म प्रिय होता है तथा जीवन का वह अविभाज्य अंग बन जाता है। इसीलिये यह एक सर्वमान्य नियम है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण साहित्य में प्रतिष्ठापित धर्म यज्ञपरक धर्म है। यज्ञ उस नियामक शक्ति जिसे आर्यों ने 'ऋत' कहा है का रूपान्तर मात्र है। ब्राह्मणों में धर्म को सामान्यतया वरुण से सम्बद्ध प्रदर्शित किया गया है। वरुण धर्मपति है[3]। वरुण 'ऋत' के व्यवस्थापक हैं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में धर्म के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है[4]। सविता, इन्द्र तथा मित्र

---

1. यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्, ऋग्वेद, 1.164.50 त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाम्यः अतो धर्माणि धारयन्, ऋग्वेद, 1.22.18
2. यदेकस्याधि धर्माणि। तस्यावयजनमसि। तै० ब्रा० 2·6.6.2
3. वरुण धर्मणां पते। तै० ब्रा० 3.11.4.1; श० ब्रा० 5.3.3.9 तै० ब्रा० 1.7.10.2-4
4. सत्यमेता देवताः (सविता, इन्द्रः मित्रः)।·········सत्यान्नृते वरुणः तै० ब्रा० 1.7.10.1

को सत्य कहा गया है जबकि वरुण को 'सत्यानृत' कहा गया है। जहाँ तक वरुण धर्म का प्रतीक है, धर्म सत्यानृत है। तीन सत्यदेवों के प्रशस्त मार्ग ब्राह्मणों में निर्धारित किये गये हैं। इस निर्धारण में किसी अन्य विकल्प की गुंजाइश नहीं छोड़ी गयी है। धर्म अथवा वरुण को ठोस व्यवहार की भूमि पर खड़ा किया गया है। धर्म को अंगुल्या निर्देश द्वारा परिभाषित अथवा समीक्षित नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि 'यह धर्म है' अथवा 'यह धर्म नहीं है'[1]। धर्म एक सापेक्ष शब्द है तथा मूलतः एक व्यक्तिविशेष की रुचि एवं स्वभाव से सम्बद्ध होता है। एक व्यक्ति का धर्म दूसरे व्यक्ति के धर्म से नितान्त भिन्न हो सकता है। समानधर्मा व्यक्तियों के वर्ग या समूह के आदर्श कर्म ही परिस्थिति-विशेष में जनसामान्य के लिये 'मानक' बन जाते हैं। यही मानक उस वर्ग या समूह विशेष के लिए धर्म वन जाता है।

वर्ण व्यवस्था :—यह सामान्य ज्ञान की बात है कि भारतीय समाज चार मौलिक वर्णों अथवा वैशिष्ट्यों से निर्मित है[2]। ये चार हैं—ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य एवं शूद्र। अन्तिम दो वैश्य एवं शूद्र को कभी-कभी ब्राह्मणों में विट् कहा गया है। ये नाम विभिन्न सन्दर्भों में बारम्बार वैदिक साहित्य में आते रहते हैं। यहां ब्राह्मणों के अनुसार वर्णों की प्रकृति तथा स्वभाव पर विचार कर लेना समीचीन होगा। वर्णों के उपर्युक्त चारों नाम इन वर्णों की मौलिक विशिष्टताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, व्यक्तियों का नहीं। इन वर्णों की अनेकविध विशिष्टताओं में से ब्राह्मण की पवित्रता (सत्) क्षत्रियों की प्रकाश तथा वैश्य की धन-सम्पदा एवं पोषण की विशिष्टताएं भूरि-भूरि चर्चित हुई हैं[3]।

ब्राह्मण साहित्य में ब्रह्म एवं क्षत्र प्रायेण एक साथ अभिहित हुए हैं। ये दो वैशिष्ट्य ब्रह्म एवं क्षत्र के मूलभूत सिद्धान्तों में अन्तर्निविष्ट हैं। वैदिक राजनीतिक सिद्धान्त पर आधृत इन दोनों का अपना अनूठा महत्त्व है।

ब्राह्मण :—ब्राह्मण वर्ण का प्रमुख वैशिष्ट्य स्वाध्याय एवं प्रवचन अर्थात् आत्मोन्नयन हेतु अध्ययन, मनन तथा अन्यों को ज्ञान-दान करना बतलाया गया है। शब्द 'ब्राह्मण' वह सामान्य शब्द है जो उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त

---

1. न धर्माधर्मौ चरतःआवस्व इति। न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति। आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्, 1.20.6, आ० प० सूत्र मंजरी, पृ० 2
2. चत्वारो वै वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो, वैश्यः शूद्र इति। श० ब्रा० 5.4.6.9
3. ब्राह्मणोऽस्य सतः क्षत्रस्येव प्रकाशो भवति। वैश्यस्यैव रयिः पुष्टिः जै० ब्रा० 1.243

होता है जो किसी पवित्र दैवी कृत्य में संलग्न होते हैं ।[1] ब्राह्मण जीवन की यह चर्या निम्नांकित चार धर्मों की उपलब्धि के निमित्त विहित है :—ब्रह्मचर्य, प्रतिरूपचर्या, यश एवं लोकपक्ति । अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति ब्राह्मण कहलाये जाने का अधिकारी होता है जो आजीवन ज्ञानार्जन एवं ज्ञानदान के कर्म में व्यस्त रहता हो, जिसका व्यवहार समाज में सर्वथा स्तुत्य एवं अनुकरणीय हो, जो प्रथितयश हो तथा जनसामान्य की श्रद्धा का समर्थ पात्र हो । ऐसे सम्भ्रान्त महानुभावों के वैदुष्य एवं चारित्रिक गुणों के फलस्वरूप ही समाज इन्हें सत्पात्र समझते हुए दान देकर तथा राजा मृत्युदण्ड से इन्हें अभयदान देकर इनका सम्मान किया करता था[2] । ज्ञान की पराकाष्ठा पर आरूढ़ ऐसे महापुरुष को परपीड़ा के मूलकारण भूत तत्त्व लालच व स्वार्थपरता नहीं बांध सकते । ब्राह्मण द्वारा यदि भूल से कभी कोई अपराध हो भी जाता था तो उसकी श्रेष्ठ, दुर्लभ, उपलब्धियों एवं महान् जनप्रिय व्यक्तित्त्व को देखते हुए उसे कोई दण्ड नहीं दिया जाता था, क्योंकि ब्राह्मण का वध करने का अर्थ ब्राह्मण द्वारा आगे ले जाये जाने वाली वैदिक श्रुति परम्परा को खण्डित कर देना होगा[3] ।

पंचब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण वर्णोत्पन्न पुरुष की परम्परागत पात्रता एवं

1, य उ कश्च यजते ब्राह्मणीभूयं वैव यजते । श० ब्रा० 13.2.1.43, स हं दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति, ऐ० ब्रा० 34.5 तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात् । ब्रह्मणो हि जायतेयो यज्ञाज्जायते श० ब्रा० 3.1.5.40 शब्द 'श्रोत्रिय' ज्ञान को समर्पित वर्ण विशेष का अर्थबोध कराता है । एष राजा च श्रोत्रियश्च । एतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ । श० ब्रा० 5.4.1.5

2. अथातः स्वाध्यायप्रशंसा । प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतः । युक्तमना भवति । अपराधीनो अहरहः अर्थान् साधयते । सुखं स्वपिति । परमचिकित्सक आतमनो भवति इन्द्रिय संयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिः यशो लोकपक्तिः । प्रज्ञा वर्द्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशोलोकपक्तिंल्लोकं पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणम्भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च ।। यो ह वै के च श्रमाः । इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठाय एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ।। श० ब्रा० 11.5.7.1-2

पृथिवी पर स्वाध्याय सर्वोत्तम कोटि का श्रम एवं तप माना गया है ।

3. 'For to kill a brahmana would be perhaps, to obstruct the oral tradition of a Veda carried on by him'
ए० सी० बोस: द काल आव् द वेदज, पृ० 60

समाज में उसके विशिष्ट स्थान पर सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से ब्राह्मणवर्ण के व्यक्ति के समाज में प्राप्त स्थान एवं पदवी पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता। यह स्पष्टतः कहा गया है कि ब्राह्मण को धनसम्पदा का संग्रह नहीं करना चाहिए तथा इसी प्रकार राजनैतिक सत्ता का इच्छुक नहीं होना चाहिए[1]। ब्राह्मण धनसम्पदा तथा राजनैतिक सत्ता में कदापि रमण नहीं करता। उसकी श्लाघनीयता व सर्वश्रेष्ठता इसी त्यागभाव पर निर्भर करती थी।

क्षत्रिय :—क्षत्रिय राज्याध्यक्ष हुआ करता था। राज्याध्यक्ष की हैसियत से क्षत्रिय का कर्तव्य राज्य में विधि व्यवस्था स्थापित करना है। जो भी अराजक तत्त्व शान्ति-सुव्यवस्था स्थापित रखने में बाधक होता है क्षत्रिय उसका दमन करता है। राज्यसत्ता के निर्वहन में क्षत्रिय राजा को ब्राह्मण पुरोहित परामर्श देकर सहायता पहुंचाता है। यह पुरोहित प्रमुख परामर्शदाता हुआ करता था जो सामान्यतया ब्राह्मण वर्ण का ही होता था अथवा ब्राह्मण की विशिष्टताओं से युक्त होता था। 'पुरोहित' का शाब्दिक अर्थ ही हितकारी परामर्श देकर कल्याण-कारी कृत्य में प्रेरित करना है।

वैश्य :—वैश्य सामान्यतया समाज के पोषण एवं आर्थिक समृद्धि के निमित्त था। वैश्य की धन सम्पदा के वैशिष्ट्य को 'पशु' की संज्ञा देकर स्पष्ट किया गया है[2]। 'पशु' वैश्य की सम्पत्ति था। पशु—व्यापार से ही वह प्रगति करता है।

शूद्र :—शूद्र की प्रमुख विशेषता 'तप' अथवा शारीरिक श्रम है[3]। शूद्र को साक्षात् तपोमूर्ति कहा गया है। युगों-युगों से निहित स्वार्थवश कतिपय तत्त्वों ने शूद्र को अन्त्यज अथवा सामाजिक व्यवस्था में निकृष्ट कह कर 'शूद्र' के वेदसम्मत सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य किया है। शारीरिक श्रम करके शूद्र वास्तव में तपस्वी का ही जीवन व्यतीत करता है। आवण्टित कार्य को पूर्ण शारीरिक क्षमता से सम्पन्न करना स्वयं में देवत्व है[3]। शूद्र समाज का एक अत्यावश्यक अंग है जिसे

---

1. न वै ब्राह्मणे श्री रमत इति।......न वै ब्राह्मणे राष्ट्रं रमत इति, तै० ब्रा० 3.9.14.2-3 न वै ब्राह्मणो राज्यायालम्, श० ब्रा० 5.1.1.12
2. वैश्यस्य समृद्धं यत्पशवः। पं० ब्रा० 18.4.6 राजा, ब्राह्मण तथा वैश्य को "श्री" (लक्ष्मी एवं कान्ति) कहा गया है।
3. तपो वै शूद्रः। श० ब्रा० 13.4.2.10, तपसे शूद्रम् जै० ब्रा० 3.411
बहुपशुः अयज्ञियः विदेवः पं० ब्रा० 6.1.11; वेश्म पतिदेवः। जै० ब्रा० 1.69

वैदिक समाज में उचित स्थान प्राप्त था[1]। ब्राह्मणों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि शूद्र प्राक्तन जन्म के ऋण का भुगतान (भोग) के निमित्त उत्पन्न होता है। उसके स्तर पर प्रयास यह होना चाहिए कि वह वर्तमान जन्म में नये ऋण न कमाये और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अग्रज तीन वर्णों के आदेशों का अनुपालन करता है। इसीलिए वह यज्ञ के कठोर नियमों का पालन नहीं कर सकता। इसी पृष्ठभूमि में निम्नांकित ब्राह्मण वाक्यों का अर्थ समझा जा सकता है–'अहविरेव तदित्याहुः यच्छूद्रो दोग्धीति[2]'। राज्य की अमात्य परिषद् के कतिपय सदस्य (रत्नी) शूद्रवर्ण के होते थे। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण को समाज के सभी वर्णों में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त था। ब्राह्मण कालीन सामाजिक व्यवस्था में ब्रह्मतत्त्व को सर्वप्रथम तथा क्षत्र अथवा राजन्य को अन्तिम स्थान पर आसीन कराया गया था। कोई भी कृत्य वैचारिक (मानसिक) अथवा व्यावहारिक (भौतिक) रूप से दो प्रकार का होता है। ये कृत्य वैश्य के कार्यक्षेत्र में आते हैं। इस सम्बन्ध में जेमिनोय ब्राह्मण का एक कथन महत्त्वपूर्ण है जहाँ यह कहा गया है कि व्यक्ति का जन्म एक सामान्य जीव (लोकी) की भाँति होता है। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में कोई भी परिवर्तन नहीं होता जबकि ब्राह्मण अपनी विशिष्ट चर्या (चरण) द्वारा जीवन को उन्नति के शिखर पर अथवा अवनति के गर्त में ले जा सकता है। ब्राह्मण को आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपेक्षाकृत अधिक अवसर उपलब्ध होते हैं। इस आध्यात्मिक उन्नयन हेतु अधिक वैचारिक (मानसिक) तप करना पड़ता है तथा अपने व्यवहार को इसलिए पूर्ण संयम में रखना पड़ता है क्योंकि ब्रह्म विद्यादि विषय अति सूक्ष्म परमतत्त्व के ज्ञान के लिये ऐसा जीवन अनिवार्य है। इतर तीन वर्णों के लिए विशेषतया शूद्र के लिये इस जन्म में कोई नवीन अवसर नहीं प्राप्त होता जहाँ इस प्रकार तपोनिष्ठ जीवन अपेक्षित हो। कार्यक्षेत्र की दृष्टि से ब्राह्मण काल में विभिन्न वर्णों में परस्पर कोई विशिष्ट सीमारेखा नहीं खींची गई थी। सभी के मंजुल समन्वय से सभी वर्ण के लोग अपना दैनिन्दन कार्य-व्यवहार संचालित करते थे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रतिदिन के आचरणीय कृत्यों की सीमा में रहते हुए निम्नांकित विषयों में से कार्यकलाप करने पड़ते थे :—

1. शिक्षा तथा तकनीकी विषयों पर परामर्शदाता प्रकृति वाले कार्य।

---

1. शूद्रे यदर्ये एनश्चकृमा वयम् तै॰ ब्रा॰ 2.6.6.1
2. शूद्र एव न दुह्यात्।…… ……अहविरेव तदित्याहुः। यच्छूद्रो दोग्धीति। तै॰ ब्रा॰ 3.2.3.9

2. सामान्य प्रशासन, विधि एवं सुरक्षा। 3. वित्त एवं व्यापार।

4. सफाई (स्वच्छता) एवं सार्वजनिक निर्माण के कार्य।

स्पष्ट है कि ये ही चार विषय चार वर्णों की विशेषताएँ थीं। समाज की आवश्यकताओं को देखते हुए एक व्यक्ति के जीवन में जो वर्ण विशिष्ट महत्त्व रखता था सामाजिक संघटन हेतु वही व्यक्ति का वर्ण बताया गया। जहाँ तक वर्णों, तथा उनके वैशिष्ट्य का प्रश्न है वर्णों में कोई कठोर भेदभाव नहीं रखा जाता था[1]। वर्णों को कर्म की दृष्टि से मानव शरीर की ही भाँति क्रमशः समाज के अंग यथा सिर, बाहु एवं वक्ष, उदर एवं जंघा तथा चरण बतलाया गया है।

व्रात्य :—व्रात एक वर्ग का नाम है, अतएव 'व्रात्य' का अर्थ 'वर्ग' से सम्बद्ध अथवा 'समूह विशेष है'। यह वर्ग अनैतिक कार्यकलापों में रत रहता है। इनका कोई कृषि व्यवसाय या व्यापार नहीं होता। ये दूसरों की खेती व खाद्यान्न को नष्ट करते रहते हैं तथा निरपराधियों को कष्ट पहुँचाते हैं। इनका सम्बन्ध वरुण से बतलाया गया है[2]। ये अपनी बोलचाल की भाषा में अपशब्द का प्रयोग करते हैं। इन्हें स्वयं पर ही नियन्त्रण नहीं रहता है। व्रात्यों के बारे में यह कहा गया है कि प्रतिष्ठा पाने हेतु व्रात्यों को अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन जीकर ही प्राक्तन जन्म के कर्मयोग से मुक्ति मिल सकती है। पंचब्राह्मण में व्रात्यों द्वारा शान्ति एवं पवित्रता के लिए अनुष्ठेय कतिपय स्तोमों का विधान किया गया है[3]।

---

1. "..........'Caste distinction is as natural and psychologically determined a social phenomena as 'class' distinction. Brahmana and Kshatriya were office holders, rather than Castes.'' घोष: इण्डोआर्यन लिट्रेचर एण्ड कल्चर, पृ० 249–250 पी० एल० भार्गव ने तीन वर्णों की तुलना इंग्लैण्ड के क्लर्जी (पादरी), 'बेनर' (सामन्त) तथा 'कामनन्स' (जनसामान्य) से की है। पी० एल० भार्गव: इण्डिया इन द वेदिक एज, पृ० 155 'क्लर्जी' की ब्राह्मण, 'बेरन' (योद्धा सामन्त) की क्षत्रिय तथा 'कामन्स' की समता वैश्य शूद्र-कर्मियों से की गयी है।
2. सर्वे व्राता वरुणस्याभूवन् इत्याह। तै० ब्रा० 1.7.4.3 'देव' एवं 'दैव' शब्द भी व्रात्य के साथ प्रयुक्त हुए हैं। देवा वै व्रात्याः सत्रमासत ·······ते ह वा अनिर्याच्य वरुणं राजानं देवयजनं दिदीक्षुः। तान् ह वरुणो राजा अनुव्याजहार अन्तरेमि वोयज्ञियादं भागधेयात् न देवयानं पन्थानं प्रज्ञास्यथेति। तस्मात्तेभ्यो न हविर्गृह्णन्ति न गृहम् पं० ब्रा० 24.9.20
3. हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्तिनहि ब्रह्मचर्यं चरितं न कृषिं न वाणिज्यम्।······ गरगिरो वा एते ये ब्राह्माद्यं जन्यं अन्नं अदन्ति अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः अदण्ड्यं दण्डेन

(शेष पृ० २८७)

राजनीति :—ब्राह्मणों में राजनीति एवं राज्यतन्त्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। राज्य का प्रमुख अथवा अध्यक्ष राजा हुआ करता था। राष्ट्र शब्द देश अथवा राष्ट्र के लिये प्रयुक्त होता था जिस पर राजा का शासनतन्त्र चलता था। राज्य एवं साम्राज्य शब्द अच्छी शासन पद्धति का द्योतक रहा है। विपुल एवं महान् गुणों से युक्त वही व्यक्ति सब पर आरूढ़ हो सकता था जो राज्यतन्त्र की कला में प्रवीण तथा शासन के अनिवार्य गुणों से सम्पन्न होता था[1]। जब कभी शासक की आवश्यकता उत्पन्न होती थी ऐसे ही सर्वथा समर्थ पुरुष को राज्याधिप पद हेतु चयनित किया जाता था। उस समय राजसूय याग सम्पादित होता था[2]। राजसिंहासन पर आरूढ़ होते समय जो कर्मकाण्ड सम्पादित होता था उसे राज्याभिषेक कहा जाता[3] है। राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त ही चयनित यजमान राजा सिंहासन पर आरूढ़ कराया जाता था और तभी प्रजावृन्द उसे अपना शासक मानते थे। अभिषेक क्रिया में ऋत्विक् ब्राह्मण राजा का हाथ पकड़कर एकत्र प्रजा के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उसका परिचय समुपस्थित समुदाय से कराता है। ऋत्विक् कहता है, 'यह इस विशाल जनराज्य का राजा तथा आपका भर्ता (भरन पोषण करने वाला) रक्षक है[4]। यहां जनराज्य शब्द का प्रयोग महत्त्व पूर्ण है। यह इस बात का द्योतक है कि यद्यपि उस समय राज्यतन्त्र की पद्धति थी और राजा को अभिषिक्त कर राज्य सिंहासन पर बैठाया जाता था, किन्तु वस्तुतः जनता का राज्य था, क्योंकि वास्तविक सत्ता जनता में निहित हुआ करती थी।

राजा प्रजा का रक्षक व पोषक था जिसके कारण समूचे राष्ट्र की प्रजा को

घ्नन्तः चरन्ति अदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति। षोडशो वा एतेषां स्तोमः पाप्मानं निर्हन्तुमर्हति। पं० ब्रा० 17.1.2 आर० आर० भागवत ने इसका अर्थ करते हुए कहा है कि व्रात्यों को जो समाज में पतित थे वैदिक जनजीवन में पुनः प्रविष्ट कराया गया। द्रष्टव्यः अ चेप्टर आव् द ताण्ड्य ब्राह्मण' आदि, जे० बी० बी० आर० ए० एस० 19 1895-97, पृ० 357-364

---

1. क्षत्रं व एष प्रपद्यते या राष्ट्रं प्रपद्यते। क्षत्रं हि राष्ट्रम्। ऐ० ब्रा० 34.22 राज्यं दुष्टशिष्टा शिष्टपरिपालनरूपं राजकृत्यम् तै० ब्रा० 2.7.1.5 भाष्ये भट्ट भास्करः।
2. तस्य (राज्ञः) मृत्यो चरति राजसूयम्। स राजा राज्य मनुमन्युतागिदम्। तै० ब्रा० 2.7.15.2
3. राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। श० ब्रा० 5.1.1.12
4. महते क्षत्राय महत अधिपत्याय महते जानराज्याय इत्याह आशिषमेवैतामाशास्ते। एष वो भरता राजा। तै० ब्रा० 1.7.4.2

वह अपनी सन्तान की तरह मानता था । 'प्रजा' का अर्थ ही 'सन्तति होता है'[1] । अपने अधीन सम्पूर्ण राष्ट्र में राजा शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित करता था तथा समाज में व्याप्त समस्त अवष्टम्भक और बाधक (वृत्र) शक्तियों का विनाश कर समाज में कल्याण स्थापित करता था[2]। राजा का प्रमुख कर्तव्य धर्म की रक्षा करना तथा सन्तुलित प्रशासन सुनिश्चित करना था[3] ।

देश के जटिल एवं श्रमसाध्य प्रशासन में राजा को अनेक व्यक्तियों से सहायता प्राप्त होती थी । इन सहायकों में ब्राह्मण का स्थान अन्यतम था । जन कल्याण से सम्बद्ध कार्यकलापों एवं योजनाओं के अनुपालन तथा शासन-तंत्र के अन्य महत्त्वपूर्ण मामलों में राजा और पुरोहित दोनों ही अपरिहार्य अंग होते हैं । ब्राह्मण पुरोहित को जनसामान्य पर धर्म नियन्त्रण सुनिश्चित करना पड़ता था[4] । जिस राजा का इस प्रकार विद्वान् एवं रक्षक ब्राह्मण पुरोहित होता है उसकी प्रजा राजा के साथ एकमत होती है और परस्पर एकमत होकर राजा के सम्मुख होती है । किसी भी कार्य में प्रजा विमुख नहीं होती है । राजा की तरह वह ब्राह्मण भी राष्ट्र धर्म का रक्षक तथा जनता का साक्षात् पुरोहित था । 'पुरोहित' का अर्थ कल्याण कृत्य को समक्ष रखना है । अतएव ब्राह्मण राजा तथा प्रजा दोनों का पुरोहित था । राज्य शासन प्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण विन्दुओं पर राजा ब्राह्मण पुरोहित से सत्परामर्श प्राप्त करके ही निर्णय लिया करता था[5] । ऑल्डस हक्स्ले की संवीक्षा है कि प्रगतिशील एवं व्यावहारिक समाज वह है जिसमें बुद्धिजीवी राज्यसत्ता को उसके गन्तव्य एवं लक्ष्य का मार्ग दर्शन कराने एवं उपदेश करने में समर्थ हों एवं ऐसे शासक हों जो ऐसे उदात्त ऋषियों का परामर्श सादर स्वीकार करते हों[6] ।

---

1. राष्ट्रमेवास्यै प्रजा भवति । तै० ब्रा० 1.7.8.6
2. अयं नो राजा वृत्रहा राजा भूत्वा वृत्रं वध्यात् इत्याह । आशिषमेवैतामाशास्ते । तै० ब्रा० 1.7.3.7
3. धृतव्रतो वै राजा । न वा एष सर्वस्मा इव वदनाय न सर्वस्मा इव कर्मणे । यदेव साधु वदेत् यत्साधु कुर्यात् तस्मै वा एष च श्रोत्रियश्च । एतो ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ । तस्मादाह निसषाद धृतव्रत इति । श० ब्रा० 5.4.1.5, धर्मस्य गोप्ता, ऐ० ब्रा० 3.9.17
4. ब्राह्मणो वै प्रजानां उपद्रष्टा । तै० ब्रा० 2.2.1.3 तस्मै विशः संजानते । सम्मुखा एकमनसः यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः । ऐ० ब्रा० 40.25
5. अयक्ष्माणोऽपि प्रजापालनाय पुरोहितं वृणुयात् ।·········सायण ।
6. ऑल्डस हक्सले—'पेरेनियल फिलासफी; द्रष्टव्य—पृ० 142

रत्निन् :—रत्निन् राज्य व्यवस्था में राजा की सहायता हेतु नियुक्त कतिपय पदों व अधिकारियों के नाम इंगित करते हैं। ये प्रशासकीय अधिकारी 12 होते हैं:—1. ब्राह्मण, 2. राजन्य (क्षत्रिय-सरदार), 3. महिषी (पट्टमहिषी), 4. वावाता (प्रेयसी रानी), 5. परिवृक्ति[1] (अपुत्रा उपेक्षिता रानी), 6. सेनानी (प्रधान सेनापति), 7. सूत (रथियों का प्रमुख), 8. ग्रामणी (ग्राम प्रधान), 9. क्षत्र (शिविर सहायक), 10 संग्रहीता (कर वसूलने वाला), 11. भागधुक् (निर्धारित लगान देने वाला), 12. अक्षावाप (प्रभारी अधिकारी अक्ष-द्यूत क्रीड़ा भवन, क्रीड़ाध्यक्ष)। इन बारह रत्निन् के बारे में यह कहा गया है कि ये राष्ट्र निर्माण में सहायक ही नहीं होते, अपितु राष्ट्र का विघटन भी कर सकते हैं। इन रत्नियों का वर्णन-राजसूय में 'रत्निनां हवींषि' इष्टियों के रूप में किया गया है[2]। राजसूय यज्ञ में रत्नि-हवि में राजा रत्नी से कहता था कि वह (रत्नी) राजा के रत्न की भाँति ही है।

शतपथ ब्राह्मण में निम्नांकित ग्यारह रत्नियों का वर्णन मिलता है।

1. सेनानी, 2. पुरोहित, 3. महिषी, 4. सूत, 5. ग्रामणी, 6. क्षत्ता, 7. संग्रहीता, 8. भागदुध, 9. अक्षावाप, 10. गोविकर्त्ता, 11. पालागल।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में उपलब्ध वर्णन को देखते हुए शतपथ की उक्त सूची में वावाता एवं परिवृक्ति नहीं है तथा पालागल (प्रभारी अधिकारी सूचना विभाग सन्देशवाहन) रत्नी का नाम बढ़ाया गया है। इसके अतिरिक्त अक्षावाप के साथ गोविकर्त्ता भी वर्णित है। समूचे राज्यतन्त्र में विशिष्ट प्रशासकीय सत्ता इन रत्नियों में ही निहित थी। इन अधिकारियों के माध्यम से ही राजा वास्तविक सत्ता का उपभोग व नियन्त्रण किया करता था। अतएव रत्नियों को राष्ट्र में संवैधानिक

---

1. अथवा 'परिवित्ति'—य वा अपुत्रा पत्नी सा परिवित्ति इति सायणः।
2. रत्निनमेतानि हवींषि भवन्ति। एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः। एते पादातारः।……… बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपति ब्राह्मणो गृहे।……ऐन्द्रमेकादशकपालं राजन्यस्य गृहे। …… आदित्यं चरुं महिष्यै गृहे।…………भगाय चरुं वावातायै गृहे।……नैर्ऋतं चरु परिवृक्त्यै गृहे……। आग्नेयमष्टाकपालं सेनान्यो गृहे।……वारुणं दशकपालं सूतस्य गृहे।…… मारुतं सप्तकपालं ग्रामण्यो गृहे।……सावित्रं द्वादशकपालं क्षत्तुर्गृहे प्रसूत्यै।……… आश्विनं द्विकपालं संग्रहीतुर्गृहे।……पौष्णं चरुं भागदुघस्य गृहे।……रौद्रं गावीधुकं चरुमक्षावापस्य गृहे।…… द्वादशैतानि हवींषि भवन्ति।……यन्न प्रति निर्वपेत्। रत्निन आशिषोऽवरुन्धीरन्। तै॰ ब्रा॰ 1.7.3.1-7, तद्यद्रत्निनां हविर्भिर्यजेत एतेषां वै राजा भवति तेभ्य एवैतेन सूयते तान्स्वाननपक्रमिणः कुरुते। श॰ ब्रा॰ 5.2.5.12

नियन्त्रण, अक्षुण्ण बनाये रखने के उद्देश्य से रखा जाता था जिससे कि राजा कभी मार्गभ्रष्ट अथवा निरंकुश न हो जाय। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि राजभवन की रानियों का भी प्रशासनिक व्यवस्था व कूटनीति में पर्याप्त दखल व स्थान था। जायसवाल के मतानुसार ये 'रत्निन्' वैदिक कालीन समिति के सदस्य थे[1]। पंचब्राह्मण के अनुसार राज्य को सहायता पहुँचाने वाले निम्नांकित आठ प्रशासकीय अधिकारी होते हैं:—

1. राजभ्राता, 2. राजपुत्र, 3. पुरोहित, 4. महिषी, 5. सूत, 6. ग्रामणी 7. क्षत्तृ, 8. सङ्ग्रहीता[2]।

इन रत्नियों का सम्बन्ध देवताओं से भी बतलाया गया है। प्रत्येक रत्नी के बारे में यहां किंचित् विस्तार से विचार आवश्यक है।

1. ब्राह्मण अथवा पुरोहित :—ब्राह्मण अथवा पुरोहित प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण रत्निन् होता था। यजमान राजा का योगक्षेम सुनिश्चित करना इसका कर्तव्य कर्म था। यह समस्त यज्ञ कर्मकाण्ड सम्पन्न कराता था तथा सभी मांगलिक कृत्यों एवं सामरिक अभियानों में राजा को मार्गदर्शन कराता व मन्त्रणा देता था।

2. राजन्य :—ब्राह्मण ग्रन्थों में 'राजन्य' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द सामान्यतया क्षत्रिय जाति अथवा उन क्षत्रिय सामन्तों का अर्थ द्योतित करता था जो राजा को सहायता देते थे। राजा ऐसे क्षत्रिय सामन्त सरदारों को जो कि छोटे-छोटे राज्यों के अधिप होते थे रत्निन् ही समझता था।

3. महिषी :—रत्नियों में महिषी की गणना इस बात की प्रमाण है कि राजनीतिक, कूटनीतिक क्षेत्रों तथा राजदरबारों में प्रधान रानी का अपना विशिष्ट महत्त्व था। राज्य की शासन व्यवस्था में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था[3]। वाजपेय यज्ञानुष्ठान में महिषी यजमान राजा के साथ सिंहासन पर आरूढ़ होती थी[4]। वस्तुतः राजा कोई भी धार्मिक कृत्य अपत्नीक नहीं करता था। समस्त रानियों में पट्ट महिषी सर्वाधिक मान्यता प्राप्त होती थी।

---

1. काशीप्रसाद जायसवाल : हिन्दू राजतन्त्र भाग 2, पृ० 34
2. अष्टौ वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति। राजभ्राता च राजपुत्रश्च महिषी च सूतश्च ग्रामणी च क्षत्ता च सङ्ग्रहीता च। एते वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति। एतेष्वेव अध्यभिषिच्यते पं० ब्रा० 19.1.4
3. यू० एन० घोषाल : स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1957
4. श० ब्रा० 5.2.1.10

4. वावाता :—यह राजा की वल्लभा, (प्रियतमा) रानी होती थी। अतएव जो प्रभाव व रोबदाब विधिक दृष्टि से समर्थ रानी महिषी का होता था वह यह रानी रखती थी। राजकीय व दरबारी प्रकरणों में वावाता अपनी प्रियता का पूर्ण लाभ उठाया करती थी।

5. परिवृक्ति :—यह अपुत्रा रानी थी। प्रयोजन-विशेष हेतु संभवतः इसे रानी बनाया जाता था। इसे अन्यों की अपेक्षा कम सम्मान प्राप्त था।

6. सूत :—सम्भवतः सूत रथियों की सेना का अधिनायक होता था। प्रोफेसर अल्तेकर का यही अभिमत है[1]। शतपथ ब्राह्मण में सूत का उल्लेख ग्रामणी के साथ मिलता है[2]।

7. ग्रामणी :—सायण ने ग्रामणी को ग्रामवासियों का नेता 'मुखिया' बतलाया है। शतपथ में सूत के साथ इसका नाम लिया गया है। यह एक समृद्ध वैश्य मुखिया होता था जो राज्याभिषेक के समय उपस्थित रहता था।

8. क्षत्तृ :—क्षत्ता रनिवास का अध्यक्ष होता था[3]। राजभवन के अन्तःपुर में रानियों के अनुचरों-परिचारिकाओं की अति विशाल संख्या को देखते हुए इसमें आश्चर्य नहीं है कि उन सबका प्रशासन दण्डधारी यह वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध रत्नी किया करता था। विभिन्न विद्वानों ने इसे भोजन-वितरक, राजा का पारिपार्श्विक तथा 'पतिहार' कहा है।

9. संग्रहीता :—यह रत्नी कर वसूली विभाग का अध्यक्ष होता था। जे० एगिलग एवं कीथ ने इसे सारथि बतलाया है जो उचित नहीं प्रतीत होता। सायण इसे कोषाध्यक्ष मानते हैं।

10. भागदुध :—संभवतः यह वह मध्यवर्ती बिचौलिया व्यक्ति होता था जो सामान्य जनता से कर वसूल कर राजा को देता था[4]।

11. अक्षावाप :—अक्ष 'पांसा' खेलने के लिए नियत स्थान अथवा मनोरंजन हेतु अन्य क्रीडा भवन व क्रीडा व्यवस्था का प्रभारी अधिकारी होता था।

---

1. ए० एस० अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति अनुवादक : अनन्त सदाशिव, 1959
2. श० ब्रा० 5.4.4.18
3. श० ब्रा० 5.3.1.7–क्षत्ता नाम यष्टिहन्तोऽन्तःपुराध्यक्षः–सायण।
4. श० ब्रा० 5.3.1.9

द्यूतक्रीडा राजाओं का अतिप्राचीन मनोरंजन कर्म था जो राष्ट्र एवं विदेश की नीतियों एवं परराष्ट्र सम्बन्धों को भी प्रभावित करता था।

इस विवेचन से यह विदित होता है कि रत्निन बड़े महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय अधिकारी होते थे। ब्राह्मणों में उपलब्ध सामग्री से यह प्रतीत होता है कि ये अधिकारी यदाकदा अपनो अधिकार सीमा लांघ जाते थे तथा अनैतिक कार्य भी कर डालते थे। इस स्तर के राजपुरुष भले ही जाने या अनजाने अनुचित एवं अनीतिकर कर्म कर डालें, किन्तु देश के राजा के लिये यह कठोर नियम था कि वह कभी उच्छृंखल नहीं हो सकता। राजा को सदैव संयम में रहना पड़ता था तथा अनुचित कार्यकलापों से दूर रहना होता था[1]।

ब्रह्म-क्षत्र :—ब्राह्मणों में प्रतिपादित ब्रह्म-क्षत्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर विचार-विमर्श कर लेना आवश्यक है। ब्रह्म-क्षत्र सम्बन्धी अवधारणा पर इनमें अनेकशः विशद विवेचन किया गया है। ब्रह्म-क्षत्र परस्पर एक दूसरे की पूरक पोषक शक्तियां हैं। ब्रह्म शक्ति आध्यात्मिक शक्ति है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति की बौद्धिक व स्नायविक क्रियाओं से है जो व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। क्षत्र रक्षा तथा कार्य-संचालिका शक्ति होती है। ब्रह्म आभ्यन्तरशक्ति तथा क्षत्र व्यवहारात्मक भौतिक क्रियाकलाप से सम्बद्ध वाह्य शक्ति का द्योतक है। प्रथम अन्तर्निविष्ट सुप्त शक्ति है जबकि द्वितीय गतिशील जाग्रत शक्ति है। प्रथम बुद्धि-वहुल तथा द्वितीय क्रिया संकुल होती है। ऑल्ड्स हक्सले ने ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को 'मनो-भौतिक वर्ग-चिन्तननिष्ठ मानव एवं क्रियानिष्ठ मानव' कहा है[2]। ब्राह्मणों में चिन्तन-मनन रूप तप अत्युन्नतावस्था में रहता है, अतएव वे आध्यात्मिक गवेषणा में अग्रणी होते हैं। शक्तियुग्म के इस वैशिष्ट्य से यह बात निःसन्दिग्ध सिद्ध हो जाती है कि ये दोनों शक्तियां परस्पर अन्योन्याश्रित होती हैं तथा दोनों में कोई भी अकेली प्रभावशाली नहीं हो सकती। दिन एवं रात्रि की ही भांति ये दोनों शक्तियां सदा एक दूसरे के अधीन कार्यशील रहती हैं[3]। ब्रह्म शक्ति दिन तथा क्षत्र शक्ति रात्रि की निर्मात्री है। इस प्रकार ब्रह्म-क्षत्र एक निष्ठ होकर

---

1. बहु वै राजन्योऽनृतं करोति। उप जाम्यै हरते। जिनाति ब्राह्मणम्। वदत्यनृतम्। अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति। तै० ब्रा० 1.7.2.6
2. "Psycho-physical classes-men of thought and men of action"
   ए० हक्सले : पेरेनियल फिलॉसफी, पृ० 170
3. ब्रह्मणो वै रूपमहः। क्षत्रस्य रात्रिः। तै० ब्रा० 3.9.14.3

विश्व-प्रपंच की विविध क्रियाओं में सामञ्जसता बनाये रखते हैं। इनके परस्पर समभावात्मक एवं सामञ्जस्यपूर्ण व्यवहार के कारण ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सदा सन्तुलन स्थापित रहता है[1]।

इन दोनों के साहचर्य एवं सहभाव में यदि लेशमात्र भी न्यूनता आ जाती है तो उससे उत्पन्न होनेवाली अनिश्चितता से समूची व्यवस्था अस्त-व्यस्त व डांवाडोल हो जाती है। यही कारण है कि ब्राह्मणों में बारम्बार इनकी सन्तुलित गति की चर्चा की गई है।

ब्रह्म-क्षत्र के युग्म की तुलना सत्य एवं क्षत्र के युग्म से की जा सकती है। ब्रह्म सत्य को तथा क्षत्र ऋत को इंगित करता है। ब्राह्मणों में आये वर्णनों को देखने से यही प्रतीत होता है कि ये दोनों एक दूसरे के भिन्न-भिन्न रूप ही हैं[2]। यह पहले भी बताया गया है कि 'ब्रह्म' शब्द की निष्पत्ति बृह्-वर्धन से हुई है। 'क्षत्र' शब्द का अर्थ है जो क्षत्र से त्राण दिलाये क्षत-धातु तृ। देवों के सन्दर्भ में यदि विचार किया जाय तो अग्नि एवं बृहस्पति ब्रह्मस्वरूप हैं तथा इन्द्र मित्र एवं वृत्र क्षत्र के रूप हैं[3]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन्द्र को इसीलिये बलपति भी कहा गया है। देवों को, इस सिद्धान्त को आधार मानकर भी परस्पर विभाजित किया गया है। कतिपय देवगण अग्नि तथा कतिपय देवगण इन्द्र का अनुगमन करते हैं[4]। अग्नि

---

1. अथेन्द्राग्नी वा असृज्येताम्। ब्रह्म च क्षत्रं च। अग्निरेव ब्रह्म। इन्द्रः क्षत्रम्। तौ सृष्टौ नानैवास्ताम्। तावब्रूताम्। न वा इत्थं सन्तौ शक्ष्यावः प्रजाः प्रजनयितुम्। एकं रूपमुभावसावेति। तावेकं रूपं उभौ अभवताम्। श० ब्रा० 10.4.5 अहं च त्वं च वृत्रहन्निति ब्रह्मा यजमानस्य हस्तं गृह्णाति। ब्रह्मक्षत्रे एव सन्दधाति। तै० ब्रा० 3.8.4.3
"The constant cooperation based on mutual understanding between Brahma and Kshatra- sacerdotium and imperium-is thus according to Manu and Kautilya the true foundation of a prosperous and successful state" के० ए० एन० शास्त्री : मनु एण्ड कौटिल्य इन हिस्ट्री आव् फिलॉसफी-इस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, पृ० 114
2. द्रष्टव्य–प्रोफेसर ए० सी० बोस का ग्रन्थ–'द काल आव् द वेदज' पृ० 51–52
3. अग्निरेव ब्रह्म। इन्द्रक्षत्रम्। श० ब्रा० 10.4.1.9; तै० ब्रा० 3.9.16.3-4 मत्रः क्षत्रम् क्षत्रपतिः क्षत्रमस्मिन् यज्ञे यजमानाय ददातु। इन्द्रो बलं बलपतिः। बलमस्मिन् यज्ञे यजमानाय ददातु स्वाहा। बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः। तै० ब्रा० 2.5.7.4.
4. अग्निं वा अन्वन्य देवताः। इन्द्रमन्वन्याः। तै० ब्रा० 3.7.1.8 इस विश्व में ये ही दो स्थित बताये गये हैं–द्वयं वावेदं ब्रह्म चैव क्षत्रं च। जै० ब्रा० 1.78

एवं बृहस्पति अध्यात्मप्रधान चेतना तथा इन्द्र, मित्र एवं वृत्र क्रियाप्राधान्य राजसिकता के द्योतक हैं।

ब्रह्म और क्षत्र के ऊपर 'आपः' के प्रभाव के फलस्वरूप ये दोनों अपना वर्चस्व एवं ऊर्जा अक्षुण्ण बनाये रखते हैं[1]। कभी-कभी यह भी कहा गया है कि इन दोनों में ब्रह्म मूलभूत है तथा क्षत्र ब्रह्म से ही उदभूत हुआ है। ब्रह्म क्षत्र का कारण है[2] तथा ब्रह्म में ही क्षत्र की सत्ता निहित है।

ब्राह्मणों का अभिमत है कि प्रत्येक मनुष्य में ब्रह्म एवं क्षत्र दोनों ही भाव न्यूनाधिक निवास करते हैं तथा उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करते रहते हैं। ब्रह्म एवं क्षत्र को 'विद' एवं विश्वेदेव कहा गया है[3]। किसी भी व्यक्ति में जिसमें इन दोनों में से एक भी तत्त्व सम्यक् सुसंस्कृत रूप से निविष्ट होता है दोनों के ही गुण विद्यमान हो जाया करते हैं। इनके वैशिष्ट्य की प्रधानता से विभूषित व्यक्तियों के वर्ग भी इनसे प्रभावित हो उठते हैं। उदाहरणार्थ, ब्रह्म एवं क्षत्र दोनों विशिष्टताएँ वर्ग विशेष के व्यक्ति को अलंकृत कर सकती हैं। ब्रह्म-तत्त्व-प्रधान क्षत्रिय भी राजा ऋषि हो जाया करता है। इसी प्रकार क्षत्रिय तत्त्व प्रधान ब्राह्मण भी क्षत्रिय हो जाता है। जिसमें प्राधान्येन ब्रह्मतत्त्व हो वह ब्राह्मण तथा जिसमें क्षत्र तत्त्व प्रधान्येन निहित हो वह क्षत्रिय कहलाता है[4]। क्षत्र का विट् से घनिष्ठ संबंध होता है, क्योंकि इसका क्षेत्र कर्म का क्षेत्र होता है[5]।

ऐतरेय ब्राह्मण में मानव का वर्गीकरण हुताद एवं अहुताद नामक दो वर्गों में किया गया है। जो व्यक्ति देवों को प्रथम समर्पित कर अन्न ग्रहण करते हैं वे ब्रह्मनिष्ठ तथा जो देवों को बिना समर्पित किये ही अन्न ग्रहण कर लेते हैं वे क्षत्रनिष्ठ राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य तथा शूद्र होते हैं[6]।

---

1. येन ब्रह्म येन क्षत्रम् येनेन्द्राग्नी प्रजापतिस्सोमो वरुणो येन राजा। विश्वे देवा ऋषयो येन प्राणाः। अद्भ्यो लोका दधिरे तेज इन्द्रियम्। तै० ब्रा० 3.7.14.2
2. ब्रह्म खलु वै क्षत्रम् पूर्वम्। ऐ० ब्रा० 40.1, पं० ब्रा० 11.1.2 ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम्। तै० ब्रा० 2.8.8.9 ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। ऐ० ब्रा० 40.2
3. इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः। विट् विश्वेदेवास्तदेतत् ब्रह्म क्षत्रं विट्। श० ब्रा० 10.4.1.8
4. ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः। तै० ब्रा० 3.9.1.42, श० ब्रा० 13.1.15.3 उभयं एव ब्रह्म च क्षत्रं चावरुन्धे राजा सन् ऋषिर्भवति य एवं वेद। जै० ब्रा० 1.222
5. व्यतिषिक्तं वै क्षत्रं विशा। तै० ब्रा० 3.7.18.5
6. प्रजापतिर्यज्ञमसृजत। यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्। ब्राह्मक्षत्रे अनु द्वय्यः प्रजा असृज्यन्त। हुतादश्चाहुतादश्च। ब्रह्मैवानु हुतादः। क्षत्रमन्वहुतादः। एता वै प्रजा हुतादो यद् ब्राह्मणा। अथैता अहुतादो यद्राजन्यो वैश्यः शूद्रः। ऐ० ब्रा० 34.19

ऐतरेय ब्राह्मण के इस वर्गीकरण से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक काल में चातुर्वण्य जन्म पर आधृत न होकर व्यक्ति की गुणवृत्ति पर आधृत होता था। ब्राह्मण की संज्ञा तभी चरितार्थ मानी जाती थी जब व्यक्ति में ब्रह्म तत्त्व का प्राधान्य हो और उस प्राधान्य की कसौटी उसके हुताद होने में मानी गयी हो। अर्थात् वह व्यक्ति जो देवगण को अन्न उत्सर्ग कर लेने के उपरान्त उनके प्रसाद के रूप में उसे ग्रहण करता था वह हुताद कहलाता था, अतएव वह ब्राह्मण था। जो व्यक्ति देवों को बिना उत्सर्ग किये ही अन्न ग्रहण कर लेते हैं वे ब्रह्म व देवत्त्व गुणवृत्ति से दूर रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों में आसुरी वृत्ति का प्राधान्य हुआ करता है क्योंकि वे मुख्यत: भोगपरक व स्वार्थी हुआ करते हैं। अत: अहुताद की श्रेणी में राजन्य 'क्षत्रिय' वैश्य व शूद्र गिनाये गये। क्षत्र शक्ति को प्राय: ओजस् की संज्ञा दी गयी है[1]। ओजोगुणवृत्ति विशेषकर राजन्य 'क्षत्रिय' वर्ग द्वारा अंगीकृत होती है[2]। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण समाज में 'क्षत्र' शब्द राज्य के समस्त रक्षा एवं व्यवस्था संबंधी प्रबन्ध-कौशल का द्योतक होता है। जनसुरक्षा की यह विशेषता ही राष्ट्र का अभिन्न स्वरूप मानी गयी है[3]। वैदिक वर्ण-व्यवस्था पर विचार करते समय यह पहले ही कहा गया है कि समाज की क्षत्र शक्ति क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र वर्ग में विभक्त है जो कि राज्य के उन क्रियाकलापों को संगठित व संचालित करती है जिनका संबंध क्रमश: जन-सुरक्षा, उत्पादन एवं विभिन्न सेवाओं से है। वास्तव में क्षत्र शक्ति ब्रह्म की सामाजिक चेतना के अभिव्यक्त भौतिक रूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—अभि गन्तैव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रिय:। इसी कारण क्षत्र को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ बतलाया गया[4]।

पुनर्जन्म :—ब्राह्मण ग्रन्थों में परलोक जीवन के बारे में कोई विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। प्राय: यह कहा गया है कि इतर लोक में कोई भी जीव अथवा पशु जन्म नहीं लेते[5]। जबकि पृथ्वी लोक में जीवन व जीव सृष्टि का सविस्तर वर्णन किया गया है। वैदिक काल में मानव का पूर्ण जीवन काल एक सौ वर्ष का माना गया है। एक सौ वर्षों तक की पूर्ण जीवन अवधि तक जीना श्लाध्य

---

1. ओज: क्षत्रम्। ऐ० ब्रा० 8.2.4.3
2. क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद् राजन्य:। श० ब्रा० 13.1.5.3.3 तथा 5.1.5.3
3. क्षत्रं हि राष्ट्रम्। ऐ० ब्रा० 7.22
4. ब्रह्मण: क्षत्रं निर्मितम् तै० ब्रा० 2.8.8.9, श० ब्रा० 14.4.2.23 पं० ब्रा० 1.1.1.2
5. न हि अमुष्मिल्लोके पशव: प्रजायन्ते। पं० ब्रा० 20.16.71

माना गया है[1]। आर्यों की यह धारणा रही है कि यज्ञानुष्ठान से प्रसन्न होकर देवगण मनुष्य को एक सौ वर्षों का सम्पूर्ण जीवन काल प्रदान कर सकते हैं।

पृथिवीलोक पर एक सौ वर्ष जीने के बाद आत्मा को इतर लोक में प्रयाण करना होता है। शतपथब्राह्मण में उन लोकों का वर्णन किया गया है जिनका उपभोग वे व्यक्ति करते हैं जो पृथ्वी लोक से प्रयाण कर जाते हैं। पृथ्वी लोक में व्यतीत की गयी जीवन की पूर्ण एक सौ वर्ष की अवधि भी वर्णित है। ऐसा शतायु व्यक्ति अमृतत्त्व प्राप्त करता है। वे व्यक्ति जो बीस एवं चालीस वर्ष की आयु के मध्य इह लोक से प्रयाण कर जाते हैं वे अर्धमास प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति चालीस एवं साठ वर्ष की आयु के बीच प्रयाण करते हैं वे मास को प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति साठ एवं अस्सी वर्षों की अवस्था के मध्य चले जाते हैं वे ऋतु प्राप्त करते हैं। जो अस्सी एवं सौ वर्षों की अवस्था के मध्य चले जाते हैं वे संवत्सर प्राप्त करते हैं तथा जो व्यक्ति एक सौ अथवा उससे अधिक की अवस्था में इस धराधाम से प्रयाण करते हैं वे अमृत लोक प्राप्त करते हैं[2]।

शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में अविलम्ब अग्न्याधान कर्म प्रारम्भ कर देना चाहिये तथा किसी भी विघ्न बाधा एवं आनेवाले कल की अप्रिय घटनाओं के डर से आक्रान्त होकर उसे समाप्त नहीं करना चाहिए[3]।

---

1. प्राणापानौ मामा हासिष्ठमित्याह। नैनं पुरायुषः प्राणापानौ जहितः। तै० ब्रा० 1.4.6.7; तिरो मा सन्तं अयुर्मा प्रहासीत। तै० ब्रा० 1.2.1.27
......प्रजपतेस्त्वा प्राणेनाभि प्राणिमि। पूष्ण पोषेण मह्यम्। दीर्घायुत्वाय शतशारदाय शत शरद्भ्यः आयुषे वर्चसे। जीवात्यै पुण्याय। तै० ब्रा० 1.2.1.19-20;
......हित्वा शरीरं जरसः परस्तात्। आभूतिं भूतिं वयमश्नवामहै। तै० ब्रा० 2.5.6.5
2. यो वा शतं वर्षाणि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति तस्मात् ये चैतद्विदुर्ये च न लोक्या शतायुतेत्येवाहुस्तस्मादु ह न पुरायुषः स्वकामी प्रेयादलोक्यं है त उ वाव लोका यदहोरात्राण्यर्द्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरः। तद्येऽर्वाग्विंशेषु वर्षेषु प्रयन्ति। अहोरात्रेषु ते लोकेषु रुज्यन्तेऽथ ये परोविंशेष्ववर्वाक्चत्त्वारिंशेष्वर्द्धमासेषु तेऽथये परश्चत्वारिंशेष्ववर्वाक्षष्ठेषु मासेषु तेऽथये परं षष्ठेष्ववर्वागशीतेष्वृतुषु तेऽथये परोऽशीतेष्ववर्वाक्शतेषु संवत्सरे तेऽथ य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतदतमाप्नोति। श० ब्रा० 10.2.6.7-8
3. तस्माद्यदैवैनं कदा च यज्ञ उपनमेदथाग्नी अदधीत न श्वः श्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद। श० ब्रा० 2.1.3.9 कः संवत्सरं जीविष्यतीति। तै० ब्रा० 1.8.4.3

मृत्यु जीवन के सिर पर मण्डराती रहती है तथा जीवन के साथ-साथ अवश्यम्भाव्य पथिक की तरह होती है[1]।

संवत्सर (काल-तत्त्व) ही मृत्यु अथवा अन्तक है। मानव की बाल यौवन जरा आदि अवस्थाएँ काल की अवयव हैं। दिन प्रतिदिन मानव की अवस्था ढलती जाती है।[2]

ब्राह्मणों में परलोक को ले जाने वाले दो मार्गों देवयान एवं पितृयान का उल्लेख मिलता है[3]। इन्हें स्रुती कहा गया है[4]। सम्भवतः यज्ञ के होम कुण्ड से इन दोनों के नामकरण का अनुमान लगा होगा। होम कुण्ड से उठने वाली अग्नि की ज्वाला ऊर्ध्वगामी होकर सीधे आकाशमार्ग की ही ओर जाती है। इसके विपरीत धूम यद्यपि ऊपर उठता दिखलायी देता है, किन्तु वह वृत्ताकार में घूमता-घूमता कुछ ऊपर उठकर अन्त में नीचे आ गिरता है। अग्नि ज्वाला एवं धूमवृत्त के इस विचित्र व्यवहार में उक्त दो परलोक-गामी मार्गों में चरित्र-गत साम्य दिखलायी देता है। ब्राह्मणों में पुनर्जन्म एवं भूत जन्म का विशद वर्णन मिलता है। कभी-कभी पुनर्जन्म के स्थान पर पुनर्मृत्यु का वर्णन मिलता है[5]। देवों से प्रार्थना की गयी है कि वे भूत एवं भावी जन्मों का ज्ञान प्रदान करें[6]। ब्राह्मणों के अनुसार अमरत्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान (विद्या) अनिवार्य है। बिना ज्ञान के मात्र कर्म इस मार्ग में सहायक नहीं होता। यह कहा गया

---

1. तदाहुः एको मृत्युर्बह्वा इत्येकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयात् यदहासावमुत्र तेनैकोऽथ यदिह प्रजासुःबहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः। तदाहुः अन्तिके मृत्युर्दूरा इत्यन्तिके च दूरे चेति ह ब्रूयात् यदहायमिहाध्यात्मं तेनान्तिकेऽथ यदसावमुत्र तेनो दूरे। श० ब्रा० 10.5.2.16-17 सर्वेषु वा एषु लोकेषु मृत्यवोऽन्वायत्ताः। तै० ब्रा० 3.9.15.1
2. एष वै मृत्युः यत् संवत्सरः। एष हि मर्त्यानां अहोरात्राभ्यां आयुः क्षिणोति।……… एष एवान्तकः। एष हि मर्त्यानां अहोरात्राभ्यां आयुषोऽन्तं गच्छति। स यदग्निं चिनुते एतमेव तदन्तकं मृत्युं संवत्सरं प्रजापतिमग्निमाप्नोति। श० ब्रा० 10.3.3.1-10
3. ये देवयानाउत पितृयाणाः तै० ब्रा० 3.7.9.8;
देवानामेवायनेनैति। तै० ब्रा० 3.9.22.23;
त्वं पन्था भवसि देवयानः। तै० ब्रा० 2.4.2.6
4. द्वे स्रुती अश्रृणवम् पितृणाम्। अहं देवानाम् उत मर्त्यानाम्। तै० ब्रा० 1.4.2.3
5. अपुनर्मारमेव गच्छति। तै० ब्रा० 3.9.22.4; अप पुनर्मृत्युं जयति तै० ब्रा० 3.9.10.5
6. पूर्वं देवा अपरेण अनुपश्यन् जन्मानि अवरैः पराणि। वेदानि देवा अयमस्मीतिमाम्। अहं हित्वा शरीरं जरसः परस्तात् तै० ब्रा० 2.5.6.5 यो दैव्यानि मानुषा जनूंषि। अन्तर्विश्वानि विद्मना जिगाति तै० ब्रा० 2.8.2.4

है कि जो सवितृ विद्या जानता है वह पुनर्मृत्यु के चक्र के पार निकल जाता है[1]। इस जन्म के अनन्तर का सायुज्य एवं उनके लोकों की प्राप्ति का भी भूरिशः वर्णन मिलता है[2]। एक स्थान पर तो सशरीर स्वर्ग लोक प्रयाण की बात की गई है[3]। यज्ञानुष्ठान का प्रयोजन भौतिक सुखोपलब्धि के अतिरिक्त स्वर्गलोक की प्राप्ति भी बतलाया गया है। यज्ञ कर्म परम पवित्र धार्मिक अनुष्ठान तो है ही, साथ ही स्वर्ग प्राप्ति भी प्रदान करता है[4]।

त्रिजन्म :—इसी क्रम में मानव के त्रिजन्म के बारे में भी चर्चा करनी आवश्यक प्रतीत होती है। त्रिजन्म की धारणा भी यज्ञ के माहात्म्य के साथ ही धीरे-धीरे स्थिर हुई। माता-पिता के शुक्र-शोणित संयोग से मनुष्य का प्रथम भौतिक जन्म होता है। यज्ञोपवीत संस्कार के सम्पन्न हो जाने पर द्वितीय जन्म होता है तथा यज्ञानुष्ठान कर्म हेतु दीक्षित हो जाने पर तृतीय जन्म सम्पन्न होता है।

वैज्ञानिक विचार :—ब्राह्मणों में शरीरक्रिया एवं नक्षत्र शास्त्रीय विचारों का प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त इनमें चिकित्सा आयुर्विज्ञान तथा विज्ञान सम्बन्धी फुटकर विचार भी व्यक्त किये गये हैं। विभिन्न विषयों को लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यक्त किये गये वैज्ञानिक विचारों की संक्षिप्त चर्चा यहां कर देनी आवश्यक है। ब्राह्मणों में व्यक्त किये गये ये विचार विज्ञान के इतिहास में उतने ही बहुमूल्य हैं जितने कि इस प्रकार के कोई भी आधुनिक विचार हो

1· कश्चिद्धवा अस्माल्लोकात्प्रेत्य। आत्मानं वेद। अयमहमस्मीति। कश्चित्स्वं लोकं न प्रति प्रजानाति। अग्निमुग्धो हैव धूमतान्तः एवं लोकं न प्रति प्रजानाति। अथ यो हैवैतमग्निं सावित्रं वेद। स एवास्माल्लोकात्प्रेत्य। आत्मानं वेद। अयमहमस्मीति। स एवं लोकं प्रति प्रजानाति तै० ब्रा० 3.10.10.6-7······ अप पुनर्मृत्युं जयति। य एवं वेद। तै० ब्रा० 3·10.10.5

2 आदित्यस्य च सायुज्यं गच्छति। तै० ब्रा० 2.3.7.2 स एतेषामेव सलोकतां सायुज्यमश्नुते। तै० ब्रा० 3.10.10.5 अग्नेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति। य एवं वेद। वयोर्वा एतानि नामधेयानि। वायोरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति।·········इन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति। बृहस्पतेरेव·········प्रजापतेरेव·········ब्राह्मण एव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति। तै० ब्रा० 3.10.11.6-7

3. सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति तै० ब्रा० 3.11.7.3

4· स्वर्गकामो यजेत। ताण्ड्य ब्रा० 16.15·5 तथा ह यजमानः सर्वमायुरस्मिंल्लोक एत्याप्नोति अमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके। कौ० 13.5,9,14; य एवं वेद सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति। तै० ब्रा० 3.11.7.3; स्वर्गो वै लोको यज्ञः। कौ० ब्रा० 14.1

सकते हैं[1]। यज्ञों के सूक्ष्म अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि ये यज्ञ एक प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोग थे तथा याज्ञिक धर्म प्राकृतिक नियमों की पूर्णता का प्रतिरूप रहा है। यज्ञ-कर्म वस्तुतः एक गवेषणाकृत्य ही रहा है। 'ऋत' का नियम एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक नियम है। प्रकृति में परिव्याप्त सामञ्जस्य एवं एकरूपता के पीछे 'ऋत' का ही नियम कार्यरत है। प्रकृति के व्यवहार में जो अहर्निश एक-रूपता एवं तालमेल दृष्टिगोचर होता है उसका आधार 'ऋत' का सनातन नियम है। इस वैदिक कालीन मान्यता की पृष्ठभूमि में जादू-टोना तथा अज्ञात रहस्यवाद कारण नहीं थे प्रत्युत 'ऋत' की सार्वभौम विधि कारण है जो इस आस्था पर टिकी है कि प्राकृतिक उपादानों की क्रिया एवं व्यवहार में एक समञ्जसता एवं सार्वभौमता अन्तर्निविष्ट है।

शरीर क्रिया :—ब्राह्मण प्रणेताओं को मानव शरीर के विभिन्न अंगोपांगों के नामों तथा क्रिया की पर्याप्त जानकारी थी। तैत्तिरीयब्राह्मण मेरुदण्डीय (वर्टिब्रेट्स) एवं अमेरुदण्डीय (इनवर्टिब्रेट्स) जीवों का उल्लेख करता है। कुछ जीव (प्रजा) शरीर की हड्डी के ढाँचे पर खड़े होते हैं तथा कुछ मांस-पेशियों पर[2]। पशुओं की पसलियों में छब्बीस हड्डियों का उल्लेख मिलता है तथा इन हड्डियों को दृढ़ एवं शक्तिशाली माना गया है। मांस को थुलथुला किन्तु सुगठित बतलाया गया है[3]। समस्त शरीर का मांस त्वचा से ढका हुआ बताया गया है। भिन्न-भिन्न प्रकरणों में वर्णित शरीर के निम्नाङ्कित अवयवों का उल्लेख मिलता है:—सिर, मुख (चेहरा), चक्षु (आँखें), पक्ष्म (आँख की बरौनियाँ), नथुने, श्रोत्र (कान), कन्धे, बाहु, दो हाथ, उरु (छाती), उदर, नाभि,

---

1. 'Primitive beliefs and practices, howewer cannot be called superstitions. Deductions based on mistaken theories or savage traditions may be called ignorance and not superstitions. A belief becomes superstition with the discovery of the true cause of the natural phenomena. Indeed, there are many so-called enlightened persons at present who discard old forms of superstition only to accept without hesitation new fancies and irrational beliefs;
   बी० एल० गोर्डन: रोमान्स आव् मेडिसिन पृ० 3,13
2. तस्मादस्थ्नाऽन्याः प्रजाः प्रतितिष्ठन्ति। तै० ब्रा० 3.3.8.7
3. षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयः। तै० ब्रा० 3·6·6.3 सन्ततमिव हि मासम्।......दारुणमिव हि अस्थि। श० ब्रा० 1:2·1.8 त्वचा मांसं छन्नम्। तै० ब्रा० 3.2.8.4

गुदा, पुरुष प्रजननाङ्ग, योनि, श्रोणी, जघन, (नाभि के नीचे का भाग) जानु (घुटने), जंघा, पाद, मस्तिष्क, जिह्वा, दाँत, हृदय, वपा, यकृत (लिवर), मतस्ने (यकृत के समीप के दो मांस के टुकड़े) तथा (क्लोम अथवा हृदय के दोनों तरफ की हड्डियाँ), प्लीहा, अन्त्राणि (आंतें) प्लाशी[1] (आँतों का एक भाग, वनिष्ठु (रेक्टम) उस्ताद अथवा गुदबन्द (बड़ी आँत) तथा वस्ति (ब्लैडर), अस्थि (हड्डियों), मज्जा, मांस, असृक् अथवा लोहित (रक्त), पित्त, मेदस् (चर्बी), पीव, त्वचा, स्नाव, अथवा स्नायु तथा लोम अथवा रोम (रोयें) को शरीर के मूलभूत अवयव माना गया है[2]। मस्तिष्क को पिष्ट कहा गया है। यह भलीभाँति हड्डियों आदि से आवृत-सुरक्षित रहता है, अन्यथा जीव की मृत्यु हो सकती है[3]। सिर की खोपड़ी को अष्टकपाल कहा गया है[4]। इसका तात्पर्य है कि कपाल (खोपड़ी) के आठ भाग होते हैं। धातुएँ सिर में रहती हैं[5]।

नासिका रन्ध्रों को वायुमार्ग कहा गया है। मनुष्य के धड़ के मध्यभाग में हृदय होता है[6]। गिद्ध (श्येन) पक्षी के पंख की तरह प्लीहा होता है[7]।

आकार में वनिष्ठु को उलूक (उल्लू) के समान बतलाया गया है[8] तथा

---

1. मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्। आन्त्राणि स्थाली मधु पिन्वमाना। गुदा पात्राणि सुदुघा न धेनुः। श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिः। आसन्दी नाभिरुदरं न माता। कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिः। यस्मिन्नग्र योन्यां गर्भो अन्तः। प्लाशीर्व्यक्तः शतधार उत्सः। तै० ब्रा० 2.6.4.3-4
2. तद्वै लोमेति द्वेऽक्षरे। त्वगिति द्वे असृगिति द्वे मेद इति द्वे मांसमिति द्वे स्नावेति द्वे अस्थीति द्वे मज्जेति द्वे ताः षोडशकलाः। श० ब्रा० 10.4.1.17 त्वङ्मांसंस्नावा ऽस्थि मज्जा। एतमेव तत्पञ्चधा विहितमात्मानम् ..... । तै० ब्रा० 1.5.9.7 पाङ्क्तोऽयं पुरुषः पञ्चधा विहितो लोमानि त्वङ्मांसमस्थि मज्जा ऐ० ब्रा० 7.14.30; तै० ब्रा० 2.6.5.8; श० ब्रा० 6.1.2.17; 10.1.8.5; 10.3.1.23; पं० ब्रा० 4.9.21
3. मस्तिष्क एव पिष्टानि। श० ब्रा० 1.1.5.2; मस्तिष्को वै पुरोडाशः। तं यन्नाभिवासयेत्। आविर्मस्तिष्कस्यात्। अभिवासयति। तस्माद्गुहा मस्तिष्कः। तै० ब्रा० 3.2.8.7
4. अष्टाकपालं पुरुषस्य शिरः। तै० ब्रा० 3.2.7.4
5. त्रिधातु हि शिरः। तै० ब्रा० 3.2.7.11 त्रिवृच्छिरो भवति।
6. पं० ब्रा० 6.4.6
7. श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिः। तै० ब्रा० 2.6.4.3
8. कुम्भो वनिष्ठुः जनिता शचीभिः। यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भो अन्तः। तै० ब्रा० 2.6.43; वनिष्ठुमस्य मा राविष्ट। उरूकं मन्यमानाः। तै० ब्रा० 3.6.6.3-4

यह गर्भ एवं योनि के मध्य स्थित होता है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि उदर एवं गर्भ एक मांशपेशि से सम्बद्ध होते हैं तथा एक दूसरे के समीप होते हैं। हृदय उदर के ऊपरी भाग में स्थित है[1]। इस प्रकार हृदय उदर तथा गर्भ—शरीर के तीन अंग इसी क्रम से शरीर के अन्दर स्थित हैं।

वायु प्राणवायु बनकर नासिका रन्ध्रों से शरीर में प्रविष्ट होती है तथा भोजन के माध्यम[2] से अपान बनकर मध्यभाग उदर-गर्त में प्रवेश पाती है। शरीर के विभिन्न अंगों व अवयवों के स्वचालित कार्यकलापों के अद्‌भुत रूप से एक निश्चित ढंग से संतत चलते रहने के तथ्य को रहस्यात्मक कहा गया है। आँख यद्यपि बाह्य रूप से दो दिखलायी देती हैं, किन्तु अन्दर यह एक ही रहती है[3]। इस निष्कर्ष का कारण यह बतलाया गया है कि यदि ऐसा न होता तो आँखें एक समय में दो पदार्थों को देखतीं जबकि ऐसा नहीं होता। वे एक समय में एक ही (सम्बद्ध) पदार्थ देखती हैं। मैथुन कर्म में शुक्र का ही क्षरण होता है, मूत्र का नहीं। इसी प्रकार जब गर्भ बाहर आता है तो उसका आवरण प्रसव के समय गिर जाता है[4]। ये अद्‌भुत क्रियाएँ ऋत एवं सत्य के नियम से संचालित होती हैं।

ब्राह्मणों में प्रतिपादित भ्रूण-विज्ञान पर चतुर्थ अध्याय में सविस्तर विचार किया ही जा चुका है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में गुर्दों (किडनी) तथा गुदा (रेक्टम) पर भी विचार किया गया है। शतपथब्राह्मण में पाचनक्रिया के विषय पर पर्याप्त विमर्श हुआ है[5]।

प्राण :—प्राण तत्त्व को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित तथ्यों के प्रकाश में इस विषय पर विचार कर लेना समीचीन होगा। ब्राह्मण-साहित्य में प्राण को शीर्षस्थ स्थान दिया गया है। इसे सर्वोच्च देवता

1. मांसेन वा उदरं च योनिश्च संहिते पूर्वातिच्छन्दा भवत्यपरा पुरीषवत्युत्तरं ह्युदरमधरा योनिः।......हृदयमुबा उत्तममथोदरमथ योनिम्। श० ब्रा० 8.6·2.14-15
2. मध्यतो ह्यन्नमशितं धिनोति। तै० ब्रा० 1.2.6.2
3. एकं सत् चक्षुर्द्वेधा। ऐ० ब्रा० 9.32
4. रेतो मूत्रं विजहाति। योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृतः। उल्बं जहाति जन्मना ऋतेन सत्यमिन्द्रियम्। तै० ब्रा० 2.6.2.2
5. उदरं वा अन्नमत्ति।···यदा उदरं अन्नं प्राप्नोति अथ तज्जग्धं यातयामरूपं भवति। श०ब्रा० 8.6.2.13

मानते हुए इसकी भूरि-भूरि प्रशस्ति की गई है। यह तथ्य ब्राह्मणों में अंकित इस चेतावनी से और भी समर्थित हो जाता है कि प्राणों के अतिरिक्त अथवा प्राणों के और आगे किसी भी तत्त्व की सत्ता सोचनी भी नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से कहीं मस्तिष्क बेचैन और विक्षिप्त न हो जाय[1]। प्राणों को ऋषि तथा साध्यदेव कहा गया है। इसीलिए इन्हें किसी संरक्षण की आवश्यकता नहीं है[2]।

प्राण शब्द के निम्नांकित विशिष्ट प्रयोग वर्णित हैं—(1) जीवन हेतु अनिवार्य वायु, (2) सामान्य श्वास प्रश्वास प्रक्रिया, (3) इन्द्रिय के अर्थ में तथा, (4) घ्राण (सूंघने) के अर्थ में।

(1) **जीवन हेतु अनिवार्य वायु :**—प्राण को जीवधारियों की प्रियतम वस्तु कहा गया है[3]। नासिका रन्ध्रों को प्राणों का मार्ग बतलाया गया है[4]। सम्पूर्ण विश्व में एक प्राणतत्त्व ही है जो सर्वाधिक क्रियाशील तत्त्व है[5]। इस व्यापक विस्तृत ब्रह्माण्ड में विचरण करता हुआ प्राणतत्त्व सब में व्याप्त अत्यधिक जागरूक शक्ति है जो रक्षा करता रहता है[6]। प्राण का तादात्म्य ब्रह्म एवं पशु से किया गया है[7]। सोम तथा आपः को साक्षात् प्राण कहा गया है[8]। प्राण को प्रजापति भी कहा गया है[9]। प्राण षोडश कलाओं से पोषित होता है। जब तक शरीर में प्राण विद्यमान रहता है तभी तक समस्त जीवों के शरीर के विभिन्न घटक अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। वाणी भी तभी तक बोलती है[10]। ब्राह्मणों का यह भी कथन है कि प्राण का आत्मतत्त्व से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। आत्मा तथा प्राण वास्तव

---

1. यद्वै ब्रह्मचारिन्प्राणमत्यप्रक्ष्यः। मूर्धा ते व्यपतिष्यत्। तै० ब्रा० 3.10.9.5; प्राणेनैव जुहोति प्राणे हूयते। जै० ब्रा० 1.1
2. प्राणा ऋषयः। श० ब्रा० 7.2.1.5
3. प्राणो हि प्रियः प्रजानाम्। तै० ब्रा० 2.3.9.5
4. तै० ब्रा० 2.6.4.4
5. प्राणो वा भुवनेषु जागरः। जै० ब्रा० 1.20
6. प्राणो रक्षति विश्वमेजत्। इर्यो भूत्वा बहुधा बहूनि। स इत्सर्वं व्यानरो। यो देवो देवेषु विभूरन्तः। आवृदूदात्क्षेत्रियध्वगद्वृषां। तमित्प्राणं मनसोपशिक्षत। अग्रं देवानामिदमत्तु नो हविः। तै० ब्रा० 1.5.1.1
7. प्राणा वै ब्रह्म। प्राणाः पशवः। तै० ब्रा० 3.2.8.8-9
8. प्राणो हि सोमः। पं० ब्रा० 9.9.1. तथा 9.9·4
9. प्राजापत्यः प्राणः॥ तै० ब्रा० 3.3·7.2
10. एतावद्वै पुरुषस्य स्वम्। यावत्प्राणाः। तै० ब्रा० 2.2.1·7

में एक ही तत्त्व हैं[1]। प्राण ही प्रजापति है। जब इन्द्रियां कार्यरत नहीं रहतीं तो जीव सो जाता है। निद्रावस्था में इन्द्रियां प्राणतत्त्व में विलीन हो जाती हैं तथा अपने-अपने पदार्थों का ज्ञान नहीं करा पातीं। इस स्थिति में यह धारणा बनती है कि जीव सो रहा है। इन्द्रियां जब प्राणतत्त्व के बाहर आती हैं तो जीव जाग्रतावस्था में वापस आकर पुनः क्रियाशील हो जाता है। निद्रा की अवस्था में भी प्राण कार्यरत रहता है।

शतपथ ब्राह्मण में प्राण एवं आयु में भेद किया गया है। शरीर में प्राण की स्थिति अस्थिर (अध्रुव) हुआ करती है। अतएव यह ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है कि अग्नि की साधना आयु के रूप में करनी चाहिए प्राण के रूप में नहीं। सामान्यतया प्राण जीव-शरीर के समस्त अंगों में पिनद्ध रहता है, विशेषकर यह सिर में स्थित रहता है। प्राण का प्राणत्व इसलिये है कि यह शरीर के समस्त अंगों में न केवल सर्वश्रेष्ठ है, बल्कि उन्हें यह नियन्त्रित भी करता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित इस धारणा का प्रभाव आयुर्वेद शास्त्र पर पड़ा प्रतीत होता है, क्योंकि इस शास्त्र में काय-चिकित्सा में काय (अग्नि) को ही मूर्धन्य स्थान प्रदान किया गया है। चिकित्स्य पुरुष-शरीर में अग्नि की ही चिकित्सा अभीष्ट मानी गयी है।

(2) श्वास प्रश्वास प्रक्रिया के रूप में प्राण :—प्राण शब्द का साधारण अर्थ श्वास प्रक्रिया है। 'प्राण' शब्द के श्वास अर्थ के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि इस शब्द के साथ ही 'अपान' शब्द भी सम्पृक्त रहता है। 'प्रणापानौ' शब्द में प्राण तथा 'अपान' दोनों शब्द क्रमशः सांस लेने एवं सांस छोड़ने का अर्थ द्योतित करते हैं। इस द्विवचनात्मक शब्द में प्रयुक्त 'प्राण' एवं 'अपान' शब्दों के तात्पर्यार्थ पर पर्याप्त अनिश्चितता की स्थिति रही है तथा इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। वैदिक साहित्य के सम्बद्ध स्थलों के अर्थ-विवेचन में डा० यूर्यिग[2] का यह मत है कि प्राण अन्दर सांस लेना है तथा अपान बाहर सांस छोड़ना है। उनका तात्पर्य है कि अपान शरीर के अधोभाग में श्वास-वायु होती है। प्रोफेसर जी० डब्ल्यू०

---

1. आत्मैवाग्निः प्राणाः शिक्य प्राणैर्ह्ययमात्मा शक्नोति स्थातुं। श० ब्रा० 6.5.1.20 प्राणं हीमानि सर्वाणि भूतान्यनुप्रयन्ति ।। ऐ० ब्रा० 10.8 वातं प्राणं मनसाऽन्वारभामहे। प्रजापतिं यो भुवनस्य गोपाः। स नो मृत्योस्त्रायतां पात्वंहसः। तै० ब्रा० 3.7.7.2
2. आर्थर एच० यूर्यिगः हिन्दू कन्सेप्शन ऑव द फन्क्शन्स ऑव ब्रेथ' जे० ओ०ए० एस० 22

ब्राउन ने निष्कर्ष निकाला है कि ये 'थोरेसिक' एवं उदर की वायु है जो हृदय के अन्दर एवं बाहरी भागों में अवस्थित रहती हैं[1]। डॉ० कैलेण्ड की धारणा नितान्त भिन्न है। उनका कहना है कि प्राण श्वास का बाहर निकालना है तथा अपान अन्दर श्वास लेना है[2], डॉ० पी० इजर्टन ने प्रोफेसर ब्राउन का समर्थन किया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक वाक्य के आधार पर प्रो० ड्यूमान्ट[3] डॉ० कैलेण्ड के मत के समर्थन में अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी विद्वानों ने तैत्तिरीय ब्राह्मण के निम्नाङ्कित वाक्य पर ध्यान नहीं दिया :—'सप्तदशकृत्वोऽपान्यात्। आत्मानमेव समिन्धे[4]। सायणाचार्य ने इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'अपान्यात्' का अर्थ श्वास को अन्दर लेना है। यहाँ 'अपान्य' का अर्थ है श्वास लेना। यहाँ सांस बाहर निकालने का अर्थ संदर्भ के अनुरूप नहीं होगा। शब्द 'समिन्धे' इस प्रकार का अर्थ करने में सहायक भी है। जिस प्रकार अग्नि को प्रज्वलित करने हेतु वायु फूंकी जाती है उसी प्रकार शरीर के अन्दर की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये वायु अन्दर ली जाती है। वायु को अन्दर लेने का अपान शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है तथा इसके समर्थक 'प्राण' शब्द का वायु बाहर निकालने का अर्थ भी समझ में आ जाता है। सचमुच यह कितने आश्चर्य की बात है कि शरीर के बाहर निकलने वाली वायु को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है।

प्राण एवं अपान का तादात्म्य मित्रावरुण से किया गया है[5]। ये मुख द्वारा शरीर के अन्दर अन्न के रूप में प्रवेश करते हैं और शरीर को सुन्दर बनाते हैं। बाह्यरूप से ये दो दर्भों की भाँति ही पवित्र होते हैं। ये उसी प्रकार शरीर को पवित्र करते हैं जिस प्रकार होम के लिये आज्य को दर्भ पवित्र करते हैं। यजमान पवित्र के दोनों छोरों को पकड़कर जिस प्रकार आज्य को मथकर उसे पवित्र करता है इसी प्रकार प्राण एवं अपान शुद्धि के कार्य में प्रवृत्त किये जाते हैं। मानव शरीर के लिये प्राणापान पवित्र का ही कार्य करते हैं। दर्भ का

---

1. जॉर्ज डब्ल्यू ब्राउन : प्राण एण्ड अपान, जे० ओ० ए० एस० 39, 1919, पृ० 104
2. 'प्राण इज ब्रीदिंग फॉरवर्ड, अपान इज ब्रीदिंग डाउनवर्ड' ज़िमर, पृ० 144
3. ड्यूमाण्ट (जे० ओ० ए० एस०) ने अपने कथन के समर्थन में शङ्कराचार्य से उद्धरण दिया है।
4. तै० ब्रा० 2.3.2.1
5. प्राणापानौ मित्रावरुणौ। तै०ब्रा० 3.3.6.9; पं० ब्रा० 9.8.16

पवित्र यहाँ ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में[1] परमतत्त्व का प्रतिनिधिभूत प्रतीक है। बहुत संभव है कि इस कथन से वायु (आक्सीज़न) द्वारा फेफड़े में रक्त की शुद्धि की प्रक्रिया बतानी अभीष्ट रही हो। कभी-कभी तीन प्राणों का उल्लेख किया गया है—तीसरे को व्यान कहा गया है। व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। उदान नामक चौथे प्राण की भी चर्चा की गयी[2] है।

3. **इन्द्रिय के अर्थ में प्राण** :—ब्राह्मणों में प्राण शब्द को इन्द्रियार्थ में भी प्रयुक्त किया गया[3] है। इन्द्रियार्थ में प्राण शब्द का प्रयोग बहुवचन में (प्राणाः) मिलता है।

ब्राह्मणों में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में 'प्राण' की संख्या भिन्न-भिन्न अंकित है। यह संख्या पाँच, सात, नौ तथा दस बतायी गयी है। शतपथब्राह्मण के अनुसार निम्नांकित सात प्राण हैं :—1. घ्राण रूप प्राण, 2. चक्षु (आँख सम्बन्धी), 3. वाक् (वाणी सम्बन्धी) 4. मनस् 5. श्रोत्र (श्रवण सम्बन्धी) 6. प्रजनन प्राण (जननेन्द्रियां) तथा 7. अवैन प्राण (गुदा)। ये सभी सातों प्राण अन्योन्याश्रित हैं[4]। एक अन्य सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण में निम्नांकित पाँच प्राणों का उल्लेख है :—1. मनस्, 2. चक्षु 3. श्रोत्र, 4. प्राण एवं 5. वाक्। इससे स्पष्ट है कि प्रथम सूची के अन्तिम दो प्रजनन प्राण एव अवैन प्राण को दूसरी सूची में सम्मिलित नहीं किया गया है। जैमिनीय ब्राह्मण[5] में निम्नांकित पांच प्राणों का उल्लेख किया गया है, :—1. मन 2. चक्षु 3. श्रोत्र, 4. प्राण, एवं 5. वाक्।

---

1. तद्वा अतः पवित्राभ्यामेवोत्पुनाति। ......प्राणापानौ पवित्रे। ......पुनराहारम्। एवमेव हि प्राणापानौ संचरतः तै० ब्रा० 3.3.4.4 इमौ प्राणापानौ। यज्ञस्याङ्गानि सर्वशः। ......पवित्रे हव्यशोधने। तै० ब्रा० 3.7.4.11-12 पवित्रे करोति।......ते वै द्वे भवतः। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते......सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ्चप्रयङ्च ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानुमात्रां तस्माद् द्वे भवतः। श० ब्रा० 1.1.3.1-2
   यह उल्लेखनीय है कि यहाँ प्राण अपान के स्थान पर प्राण उदान अंकित है।
2. त्रयो वै प्राणाः तै० ब्रा० 3.3.7.2, 3.3.7.11, प्राणोऽपानो व्यानः। पं० ब्रा० 2.22; श० ब्रा० 6.3.3.5
3. यहां 'इन्द्रिय' शब्द प्रायेण शक्ति या बल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो मुख्यतः पुरुष जननेन्द्रिय से सम्बन्ध रखता है।
4. सत्येमे पुरुषे प्राणाः अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठिताः श० ब्रा० 10.2.4.9
5. जै० ब्रा० 1.1

इस ब्राह्मण ग्रन्थ में भी सात महत्त्वपूर्ण प्राणों की चर्चा को गयी है[1]।

प्राणों की संख्या जब दस बतायी गयी है तो जैमिनि ब्राह्मण के अनुसार मन को दसवां प्राण स्वीकार किया गया है[2] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार नाभि को दसवां प्राण माना गया है[3]। इन नौ अथवा दस प्राणों में से सात सिर में स्थित माने गये हैं[4] तथा शेष दो या तीन प्राण (नाभि को सम्मिलित कर) शरीर के अधोभाग से सम्बद्ध बताये गये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.9.6.3) पर टीका करते हुए सायण का कथन है कि नौ प्राण वस्तुतः शरीर के नौ द्वार हैं[5]। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्राणों के सन्दर्भ में स्पर्श से प्राप्त ज्ञान को नहीं सम्मिलित किया गया है तथा वाक् को वाणी एवं स्वाद (रसना) दोनों को इन्द्रिय कहा गया है। वाक् को सर्वोत्तम प्राण की संज्ञा दी गयी है[6]।

4. घ्राणार्थ में प्राण :—उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि सीमित अर्थ में प्राण घ्राणेइन्द्रिय भी है। प्राण गन्ध की प्राप्ति भी कराता है। सम्भवतः यह कथन इस तथ्य पर आधृत प्रतीत होता है कि श्वास को अन्दर खींचते समय ही गन्ध का अनुभव होता है, बाहर निकालने के समय नहीं।

भेषज :—ब्राह्मणों में रुद्र देवता एवं दो अश्विन् को देवगण के वैद्यों के रूप में वर्णित किया गया है। वात अथवा वायु को समस्त रोगों का कर्ता बतलाते हुए प्रार्थना की गयी है कि वह रोगों को दूर करे। सरस्वती को भी चिकित्सा उपचार की देवता बतलाया गया है। ब्राह्मणों में 'भेषज' शब्द दवा के अर्थ में, 'गद' शब्द रोग तथा 'अगद' शब्द स्वास्थ्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋत्विक् ब्रह्मा को भिषक्तम कहा गया है। यह ऋत्विक् यज्ञानुष्ठान में अधीक्षक का कार्य करता है। इसे यज्ञ-विधि सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया का ध्यान से पर्यवेक्षण करना पड़ता है तथा किसी प्रमाद या त्रुटि हो जाने पर उसके प्रायश्चित्त का मार्ग भी वह

1. सप्त मुख्याः प्राणाः। जै० ब्रा० 1.131
2. तै० ब्रा० 3.9.6.3; श० ब्रा० 1.4.3.5 तै० ब्रा० 1.3.7.4,1.8.5.3.3.2.3.3; जै० ब्रा० 1.132 तथा 1.137
3. नव वै पुरुषे प्राणाः। नाभिर्दशमी तै० ब्रा० 1.3.7.4
4. सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः तै० ब्रा० 3.8.10.2; पं० ब्रा० 2.1.42, सप्त वै शीर्षन् प्राणाः जै० ब्रा० 11.3
5. 'नवसु द्वारेषु इति', तै० ब्रा० 3.9.6.3 पर सायण का भाष्य।
6. प्राणानां वागुत्तमा। तै० ब्रा० 1.3.4.5

इंगित करता है[1]। अनेक रोगों के इलाज हेतु विशिष्ट मन्त्र विहित थे। पञ्च ब्राह्मण का कथन है कि अथर्वण मन्त्र शारीरिक वेदना अथवा मानसिक रोग के उपचार में अत्यन्त प्रभावशाली है[2]। इन मन्त्रों के सुनियोजित, विशिष्ट स्वरों के साथ उच्चारण करने के फलस्वरूप एक नाद अथवा झंकृति उत्पन्न होती थी जिसे आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावलि में 'रेडियो एक्टिव' तरंग की संज्ञा दी गयी है। यह नाद अथवा विशिष्ट झंकृति रोगों के उपचार में रुग्ण मन व शरीर पर अत्यन्त आह्लादकारी व आरोग्यकर प्रभाव डालता था[3]।

सूर्य (आदित्य) देवता से विशेष रूप से हृदयरोग एवं पीलिया (जॉण्डिस) से छुटकारा पाने हेतु प्रार्थना की गयी है[4]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नेत्र रोग से त्राण पाने तथा चील की-सी पैनी शक्तिशाली दृष्टि पाने हेतु प्रार्थना की गयी है[5]। हृदयरोग के निवारण हेतु एक भेषज (वनौषधि) का उल्लेख किया गया है[6]। जैमिनि ब्राह्मण में आँख में मोतियाविन्द की बीमारी का उल्लेख किया गया है। इसका उपचार भी बतलाया गया है[7]। खराव नख (नाखून) एवं खराब दाँत की चर्चा के प्रसंग में कहा गया है कि यह खराबी नख एवं दन्त रोग के कारण होती है[8]।

गर्भस्राव (गर्भपात) के उपचार की संभावना पर चतुर्थ अध्याय में भ्रूण विज्ञान के प्रकरण पर विचार करते हुए विमर्श किया जा चुका है[9]। यह कहा गया है कि विषूचिका व्याघ्र (चीता), भेड़िया, शेर एवं चील पर आक्रमण नहीं

1. ब्रह्मा वा ऋत्विजां भिषक्तमः। श० ब्रा० 1.6.2.19; ऐ० ब्रा० 1.358
2. भेषज आथर्वणानि। पं० ब्रा० 12.9.10
3. विशेष अध्ययन हेतु द्रष्टव्य-कैरेल: मैन द अन्नोन, पृ० 115, 1959
4. हृद्रोगं मम सूर्य। हरिमाणं च नाशय तै० ब्रा० 3.7.6.22
5. का मिहैकाः क इमे पतङ्गाः मान्थालाः कुलि परि मा पतन्ति। अनावृतैनान्प्रधमन्तु देवाः। सौपर्णं चक्षुस्तनुवा विदेय। तै० ब्रा० 2.5.8.4
6. यत्ते सुजाते हिमवत्सु भेषजम्। मयोभूश्शंतमा यद्धृदोऽसि। ततो नो देहि सीबले। तै० ब्रा० 2.5.6.4
7. अङ्गिरसां वै सत्रमासीनानां शर्करा.........नैव प्राश्नीयात्। जै० ब्रा० 1.168; पं० ब्रा० 15.1.9
8. कुनखिनि कुनखी श्यावदति। तै० ब्रा० 3.2.8.12
9. तै० ब्रा० 3.7.3.6

करती[1]। श्लोण नामक अश्व की एक बीमारी का वर्णन किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त कर्म में पूषा को चरु की हवि देने का उल्लेख किया गया है[2]।

ब्राह्मण ग्रन्थों में स्वास्थ्य सुरक्षा (Health hygiene) को शिक्षा भी दी गई है। अनेक स्थलों पर पवित्रता तथा असुरों-राक्षसों को दूर भगाने एवं चौकसी दिखाने के निर्देश दिये गये हैं। इस आशय की चेतावनी भी दी गयी है कि छोटे तालाब का पानी नहीं पीना चाहिए[3]। इससे यह आभास मिल जाता है कि छोटे-छोटे जलस्रोतों के पानी के विसंक्रमित होने की पर्याप्त जानकारी थी।

'ऋत' और 'सत्य' :—वैदिक वाङ्मय के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक मूल-कारणभूत, सर्वातिशायी, सर्वव्यापक एवं सर्वोत्कृष्ट नियामक परम तत्त्व है जिसे 'ऋत' कहा गया है। सृष्टि के नियमन-संचालन हेतु यही ऋत ही अन्ततोगत्वा उत्तरदायी है। सत्य ऋत की ही छायानुकृति एवं भौतिक स्वरूप है। गोचर-अगोचर समस्त ब्रह्माण्ड ऋत एवं सत्य के शाश्वत कठोर नियम से शासित-विनियमित होते रहते हैं। ब्राह्मणों में 'ऋत' का वर्णन ऋग्वेद एवं उपनिषदों की अपेक्षा कम मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सत्य 'आपः' द्वारा उत्पन्न हुआ[4] तथा इसी सत्य से ब्रह्म (प्रजापति) की उत्पत्ति भी हुई। 'ऋत' के आधार-भूत रूपी सिद्धान्त यज्ञों में परिव्याप्त हैं। ब्राह्मणों में सृष्टि का सम्पादन जिस प्रकार यज्ञों द्वारा वर्णित है ठीक उसी प्रकार 'ऋत' द्वारा भी सम्पन्न होता है। 'ऋत' सृष्टि- नियमन हेतु पूर्णतया क्षम है। इसीलिए यह काल के मापक उषः, सूर्योदय, सूर्यास्त तथा संध्या आदि को अपनी शक्ति से नियमित करता है।

पितरों ने ऋत के बल पर सूर्य को स्वर्ग में स्तम्भित किया था। संवत्सर 'ऋत' के बारह आरोंवाला चक्र है। आम्र (मधुभार) एवं पयस् जो कृष्णा गाय से प्राप्त होता है गौ का ऋत है।

यज्ञ में दी गयी आहुतियों को देवों तक पहुँचाने तथा देवों को आहुतियों

---

1. या व्याघ्रं विसूचिका। उभौवृकं च रक्षति। श्येनं पतत्रिणं सिंहम्। सेमं पात्वंहसः। तै० ब्रा० 2.6.1.5
2. तै० ब्रा० 3.9.1.2-3
3. तै० ब्रा० 1.5.10.7
4. 'ऋतस्य सामन्सरमारपन्तीत्याह। सत्यं वा ऋतं······।' तै० ब्रा० 3.8.3.6

तक आहूत करने का कार्य 'ऋत' ही सम्पन्न करता है 'ऋत' यज्ञ की वृद्धि करता है तथा उसे व्याप्त भी किये रहता है। यजमान द्वारा देवों के प्रति किये गये समस्त यागादि अनुष्ठान 'ऋत' द्वारा ही विनियमित होते रहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में से 'ऋत' एवं 'सत्य' में कोई भेद नहीं रखा गया है, प्रत्युत दोनों में तादात्म्य स्थापित किया गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि नैतिक स्तर पर 'ऋत' 'सत्य' का ही रूप होता है। सत्य चूंकि देवों का गुण है अतएव इसका तादात्म्य देवों एवं ब्रह्म से स्थापित किया गया है। शतपथब्राह्मण के अनुसार आपः ने सत्य का सृजन किया है। डॉ० दाण्डेकर के मतानुसार ऋत प्रायेण जगत्सृष्टि से सम्बद्ध वस्तुओं को उद्भासित कराने का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है[1]।

देवगण सार्वभौम एवं नियामक तत्त्व ऋत एवं सत्य की लीक पर ही चलते हैं, अन्यथा उन्हें भी मरणधर्मा स्वरूप धारण करने के लिए विराट् सृष्टि चक्र में प्रविष्ट होने के लिये विवश होना ही पड़ता है। जब ये दोनों शब्द एक साथ प्रयुक्त होते हैं तो सत्य मानसिक धरातल पर ऋत है जबकि उसका प्रत्यक्ष प्रस्फुटित भौतिक रूप सत्य है[2]। ऋत एवं सत्य अग्नि एवं आदित्य के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। दिन के समय अग्नि ऋत है तथा आदित्य सत्य है, रात्रि के समय इसके विपरीत अग्नि सत्य तथा आदित्य ऋत है[3]। यह इन दोनों के मध्य सामान्य भेद है। सत्य ठोस अथवा परिदृश्यमाण सत्य अथवा विधि रूप होता है जबकि 'ऋत' परोक्ष, अदृश्यमाण विधि है। सत्य सत्ता को सन्दर्भित करता है, यह वस्तु अथवा तत्त्व का मात्र 'होना' है[4]।

'ऋत' उस (सत्य) की पद्धति है। ऋत नियमित 'गति' है जिसका मार्ग सुनिश्चित रहता है[5]। सत्य मूलभूत वास्तविकता है तथा ऋत जीवन की पद्धति है जिसमें नैतिकता एवं अन्य महार्ह गुण एवं क्रियाकलाप सम्मिलित होते हैं। इसी

1. डॉ० रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर: युनिवर्स इन वेदिक थाट, पृ० 93
2. ऋतं सत्येऽधायि। तै० ब्रा० 3.7.7.4. 'ऋतं मानसं तथ्यं सत्ये वाचिके तथ्ये अधायि स्थापितम्' —भट्टभास्कर। 'मानसिकसत्यम् वाचिक सत्यम्'—सायण।
3. ऋतं वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायं परिषिञ्चति। सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रातः। अग्निर्वा ऋतम्। असावादित्यः सत्यम्। तै० ब्रा० 2.1.11
4. 'Satya is agreeing or agreement with reality. हिस्ट्री आव् फिलासफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न 1, पृ० 45.
5. दासगुप्त के अनुसार ऋत शब्दतः वस्तुओं का मार्ग ('the course of things') है, एच० आई० पी०

तथ्य को श्री पण्डित ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"Rta is Truth in manifestation the status of divine Truth turned towards manifestation[1]" ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। ऋत सत्य पर क्रिया के लिये निर्भर करता है। सत्य का अनुरक्षण ऋत पर सम्भव है। सत्य की संरक्षा ऋत के द्वारा होती है जबकि ऋत की गतिमत्ता सत्य के बल पर निर्भर है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि नियमित गति या क्रिया के कारण 'सत्ता' सम्भव है और चूंकि गति नियमित है, अतएव वस्तु की सत्ता है। श्री पुराणी का कथन है, "Satya means, beingness, or the 'Truth of Being' or 'the Truth of Existence'. Rta means 'Truth of movement' or 'Movement to wards Truth'. or 'Truth of action'..... it is the dynamic aspect of truth. It is the action of a supreme knowledge that determines the functions of things and beings[2]".

ऋत को वैश्वसृजचयन में प्रशास्ता कहा गया है। यहाँ इस कथन का तात्पर्य मात्र यह स्पष्ट करना है कि विश्व जीवित तथा जंगम (गतिमान्) है और ऋत के नियम के अर्न्तगत ऐसे ही सनातन रूप से जीवित व गतिमान बना रहेगा। ऋत सर्वोच्च एवं आनन्दमय प्रभुशक्ति है। इसके नियमों को कोई भी लांघ नहीं सकता। पृथिवी एवं समुद्र इस दिव्य व्यवस्था के अंग हैं[3]। ऋत सर्वश्रेष्ठ है[4]।

'ऋत' के सिद्धान्तों में से प्रजापति अन्यतम सिद्धान्त तत्त्व है। इसके अन्य सिद्धान्त हैं वाक् एवं अन्न जो न केवल अमृत एवं श्रद्धा के प्रभव हैं बल्कि संसार

---

1. एम० पी० पण्डित : अदिति एण्ड अदर डेटीज़, पृ 13
2. ए० बी० पुराणी : स्टडीज इन वेदिक इन्टर्प्रिटेशन, पृ 50-51
3. ऋतमेव परमेष्ठि। ऋतं नात्येति किञ्चन। ऋते समुद्र आहितः। ऋते भूमिरियं श्रिता। तै० ब्रा० 1.5.5.1

   That which is ordained by rta fills the wholew orld, but the particular manifestations of rta are in those Nature processes which always remain Constant and inevitably arouse the idea of regular recurrence......In the doings of man, rta operates as the moral law, which enjoins truth and the straight way.' जंग, साइकॉलाजिकल टाइप्स, पृ 257-258
4. ऋतं बृहत्। तै० ब्रा० 2.7.12.1. "It is Natures' harmony and order revealed to our understanding that give us a clue to its creation by an understanding of the highest order" (कान्ट) डब्ल्यू लिबी, इन्ट्रोडेक्शन टु हिस्ट्री आव् साइन्स, पृ० 148.

को स्थायित्व प्रदान करते हैं[1]।

यज्ञ को ऋत की योनि (उत्स) कहा गया है[2]। इस प्रकार सामान्यतया ऋत को यज्ञ के अर्थ में लिया गया। देवों का अनुगमन करना 'ऋत' का अनुगमन करना ही है[3]। विश्व का दृढ़ एवं ओजस्वी क्षत्र का सिद्धान्त भी ऋत का आधार है[4]। दीक्षा ऋत के नियमों-अनुवन्धों को पूर्णतया सुरक्षित रखती है। इसीलिये दीक्षा को ऋत की पत्नी कहा गया है[5]। वरुण ऋत का संचालन करते हैं तथा ऋत के साम्राज्य को व्यवस्थित करते हैं[6]।

अनृत :—'ऋत' का उल्टा अनृत है। विश्व में सत्य तत्त्व के इतर कुछ भी नहीं है, अतएव 'असत्य' की वस्तुतः कोई सत्ता नहीं होती। परिस्थिति-विशेष में अनुभव की गई वास्तविकता को अन्यथा ढंग से अभिव्यक्त करना अनृत है। 'ऋत' के परिपन्थी सिद्धान्त के रूप में अनृत का अर्थ विश्व को नैतिक व्यवस्था के प्रतिकूल करना अथवा जाना है[7]।

अमृत :—ब्राह्मणों में प्रयुक्त 'अमृत' शब्द भी विचारणीय है। इसका सम्बन्ध 'ऋत' से जोड़ा जाना भी सम्भव है। वैसे इसे 'मृत' का विपरीतार्थक माना गया है। भारतीय वाङ्मय में 'अमृत शब्द' प्रत्येक भारतीय हृदय व आत्मा को आध्यात्मिक एवं भौतिक रूप से आह्लादित कर देता है। शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपसर्ग 'अम्' 'ॐ' अथवा 'ओम्' का ही अर्थ व्यक्त करता है। 'ओम्' शब्द अ=उ तथा म् को मिलाकर निष्पन्न हुआ है। अमृत वही है जो ओमृत है।

1. प्रजापतिं प्रथमजामृतस्य। तै० ब्रा० 2.8.1·3., वागाक्षरं प्रथमजामृतस्य। वेदानां माता अमृतस्य नाभिः। तै० ब्रा० 2.8.8.5; श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा। तै० ब्रा० 3.1.2.32 ऋतस्य ब्रह्म प्रथमोत जज्ञे। तै० ब्रा० 2.4·7.10
2. यज्ञो वा ऋतस्य योनिः। श० ब्रा० 13.4.1.6, गीर्भिः कृणुध्वं सदने ऋतस्य। (यज्ञस्य सदने) तै० ब्रा० "Rta order, in moral world as Truth and 'right' and in religious world as sacrifice and rite." ए० ए० मैक्डॉनल: वेदिक माइथॉलॉजी, पृ० 11
3. यो वै देवानां पथैति य ऋतस्य पथैति श० ब्रा० 4.3.1.16
4. क्षत्रमसि ऋतस्य योनिः तै० ब्रा० 3.7·7.2
5. दीक्षा ऋतस्य पत्नी। तै० ब्रा० 3.7.7.4
6. ऋतेन मित्रावरुणा सचेये। तै० ब्रा० 2.8.5.6
7. 'अनृतं अर्थशून्यम्'। तै० ब्रा० 1.1.4.1 पर भट्ट भास्कर की टीका। अनृतं लोकविरुद्धं व्यापारम्। तै० ब्रा० 3.7.1.2; सत्यं प्रपद्ये। ऋतं प्रपद्ये। अमृतं प्रपद्ये। तै० ब्रा० 3.5.1.1 सायण।

अमृत 'ऋत' का ही भाव है जो आह्लाद, शान्ति, श्लाघा व यश आदि द्योतित करता है। अमृत परम तत्त्व-ब्रह्म है। व्यवहार जगत् में यह शब्द उन समस्त भौतिक पदार्थों के साथ सम्बद्ध रहता है जो स्वास्थ्य, सुख एवं शान्ति प्रदान करते हैं। इसी अमृत की उपलब्धि हेतु पौराणिक समुद्रमन्थन के आख्यान में मन्थन का प्रतीक निहित है।

ऋण :—ऋण का सिद्धान्त भी ऋत के नियम से दूर नहीं है। 'ऋण' शब्द में 'ऋ' धातु स्पष्टतः गति का अर्थ देती है। इसके अनुसार 'ऋ' का अर्थ वह है जो संसार को आगे चलाता चलता है। जीवन में प्रतिक्षण ऋण जन्म लेता रहता है। समस्त जीव ऋण से बँधे तथा इससे मुक्त होते रहते हैं। ऋण-बन्धन की अवधि ऋण की शक्ति अथवा उसके आवेग पर आधृत रहती है। ऋत ऋण से सम्बद्ध होता है। 'ऋण' शब्द प्राकृतिक पदार्थों एवं कर्म मार्ग अथवा द्वार का द्योतन करता है। जहां तक सांसारिक प्रगति का सम्बन्ध है, ऋण एवं ऋत एक दूसरे पर आश्रित हैं। 'ऋत' का भौतिक मार्ग ऋण की अपेक्षा करता है तथा ऋण की भौतिक प्रगति ऋत की बोधक है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पृथिवी लोक पर जीवधारियों में व्याप्त पारस्परिक बन्धन, कर्ज़ अथवा अनुग्रह-भाव ही ऋण है।

जन्म से लेकर प्रत्येक जीवधारी को ऋणत्रय बाँधे रहते हैं। मानव शरीर-धारी के प्रसंग में ये ऋणत्रय हैं—(1) देव-ऋण, (2) ऋषि-ऋण। आजीवन ज्ञानदीप को प्रज्वलित रखते हुए प्रत्येक जीव को चाहिए कि वह संसार से प्रयाण करने के पूर्व आने वाली पीढ़ी को उसे हस्तान्तरित कर जाय। (3) पितृ-ऋण।

जीव के ऊपर जन्म से ही पितरों एवं अन्य जनों एवं समाज का ऋण रहता है जो सुप्रजा (योग्य सन्तति) उत्पन्न कर वह चुका देता है[1]। दया, सेवा, परोपकार, दाक्षिण्यादि गुणों से कुल, परिवार, ग्राम तथा समाज की सेवा कर व्यक्ति, पितृ, एवं, मनुष्य ऋण, से छुटकारा पाता है।

---

1. ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। स यदेव यजेत। तेन देवेभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेभ्यो जुहोति। अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोत्यृषीणाम्निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः। अथ यदेव प्रजामिच्छेति। तेन पितृभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेषां सन्तताव्यवच्छिन्ना भवति। अथ यदेव वासयेत। तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्मा तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम्। स येन देवेभ्य ऋणं जायते। तदेनांस्तदवदयते। यद् यजते। श० ब्रा० 1.5.5.1-6

धार्मिक अनुष्ठान में दीक्षा लेकर भक्त-जीव स्वयं को समस्त देवगण को समर्पित करता है। यज्ञ में पशु के उत्सर्ग से वह देव-ऋण को चुका (निष्क्रीणीते) देता है[1]। देवता भी होम को ऋण मानते हैं। यही कारण है कि ब्राह्मणों में यह निर्देश अंकित है कि भक्त यजमान विशिष्ट उद्देश्य से देवों को आहुति दे जिससे कि देव उस उद्देश्य की पूर्ति कर स्वयं भी अनुग्रह बन्धन से मुक्त हो जायँ[2]। दक्षिणा देना भी ऋण से मुक्ति पाने का एक माध्यम या मार्ग है[3]।

ऋण का प्रभाव जितना व्यापक है उतना ही गहरा और वलवान् होता है। प्रतिक्षण यह दृढ़ होता जाता है। ऋण बन्धन से मुक्ति पाना सरल नहीं होता[4]। ऋण शनैः शनैः निश्चित ढंग से मुक्त होता है। ब्राह्मणों के मतानुसार मानव का सीमित मस्तिष्क ऋण के गाम्भीर्य, परिमाण, प्रकृति, दृढ़ता एवं विभिन्न आयामों को समझ नहीं सकता। मनुष्य यह नहीं जान पाता कि किन-किन जन्मों में तथा किन-किन स्तरों पर उसने स्वयं ये ऋण अर्जित किये हैं। इसीलिये देवों से बारम्बार प्रार्थना की गयी है कि वे मानव को उसके हर प्रकार के पूर्वार्जित ऋणों से मुक्ति प्रदान करें।

सर्वदा यही इच्छा व्यक्त की गयी है कि जीवन काल में ही ऋणमुक्ति हेतु प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस पृथिवी लोक में ही मानव-जीवन-अवधि के

---

1. सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते यो दीक्षते।...... स यदग्नी त्रषोमीयं पशुमालभते सर्वाभ्य एव तद्देवताभ्यो यजमान आत्मानं निष्क्रीणीते। ऐ० ब्रा० 6.3
2. यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्ते। ऋणमु हैव तास्तेन मन्यन्ते। यदस्मै तं कामं समर्द्धयेयुः यत्काम्या गृह्णाति। श० ब्रा० 11.2.1.9. देवानृणं निरवदाय अनृणा गृहानुप्रेतेति वावैतदाह। तै० ब्रा० 1.6.5.5. ते (देवाः) पाप्मना सन्दिता अजायन्त। तै० ब्रा० 3.10.9.1. यदापिपेष मातरं पितरम्। पुत्रः प्रमुदितो धयन्। अहिंसितौ पितरौ मया तत्। तदग्ने अनृणो भवामि। तै० ब्रा० 3.7.12.4. यहां ऋण को पाप कहा गया है।
3. य एवं विद्वान् दक्षिणां प्रतिगृह्णाति। अनृणामेवैनां प्रतिगृह्णाति तै० ब्रा० 2.2.5.6
4. :Indian ethics is Cosmo—biological 'inevitable Consequence is that every action is bound to its due reaction'—बी० हीमन, इण्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलॉसफी, पृ० 72, 'If you love and serve your men, you cannot by any hiding or strategem escape the remuneratim. Secret retributions are always restoring the level when disturbed of the divine justice. It is impossible to tilt the balance.' इमर्सनः लेक्चर्स एण्ड बायोग्राफिकल स्केचेज, पृ० 186

अन्दर ही ऋण मुक्ति संभव मानी गयी है । सर्वथा ऋणमुक्ति पाना मानव का पुरुषार्थ माना गया है[1] ।

मीमांसा :—यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यज्ञ-प्रक्रिया का प्रतिपादन करना रहा है । इनमें विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों की विधियां वर्णित हैं । ब्राह्मण ग्रंथों में इन प्रकरणों को बहुधा 'तदाहुः' अथवा 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' जैसे वाक्यों से आरम्भ किया गया है । जहां-जहां इंगित दृष्टिकोण अथवा परिपाटी से वैमत्य पाया गया है उसे 'अथो खलु' जैसे अभि-कथन से स्पष्ट किया गया है । इस सन्दर्भ में कतिपय प्रकरणों में 'मीमांसा' शब्द विशिष्ट ढंग से प्रयुक्त किया गया है[2] ।

प्रायः विभिन्न तकनीकी बिन्दुओं पर प्रश्नों को ब्रह्मवादियों द्वारा उठाया गया है तथा उनका समाधान किया गया है । कर्मकाण्ड में मन्त्रों की उपयोगिता अथवा महत्त्व पर भी यदा कदा विचार विमर्श किया गया है । किसी भी कृत्य के सम्पादन हेतु ब्रह्मवादियों द्वारा किये गये तर्कों के अनुरूप ही कारण बतलाया गया है ।

किसी मत का निरस्तीकरण प्रायेण यह कहकर किया गया है कि उस पर ध्यान ही नहीं देना चाहिए । कभी-कभी दो विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं जिनके पक्ष में तर्क भी दिये गये हैं । ब्रह्मवादियों के इन कथनों में हमें ब्राह्मण ग्रन्थों के महत्त्व की जानकारी प्राप्त होती है । इस प्रकार के विचार-विमर्श पूर्व-मीमांसा पद्धति के अनुसार ही ब्राह्मणों में किये गये हैं । ब्राह्मणों एवं पूर्वमीमांसासूत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन स्वयं में अति महत्त्वपूर्ण गवेषणा का विषय है । यहाँ प्रसंगतः कतिपय उदाहरणों पर विचार करना उचित होगा । प्रातः एवं सायं कालीन होम हेतु प्रयोज्य अग्निहोत्र सम्बन्धी मन्त्रों जैसे, 'अग्निर्ज्योतिः.......' को किञ्चित् संशोधन के साथ अपनाया गया है । इसके समर्थन में संगत तर्कों एवं दृष्टान्तों सहित स्पष्टीकरण भी दिया गया है । किसी भी गृहस्थ के घर में

---

1. इहैव सन्तः प्रति तद् यातयामः । जीवा जीवेभ्यो निहराम् एनत् । अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् । तृतीये लोके अनृणाः स्याम । ये देवयाना उत पितृयाणाः । सर्वान् पथो अनृणा आक्षीयेम । तै० ब्रा० 3.7.9.8-9
2. सैषा मीमांसा अग्निहोत्र एव सम्पन्ना । अथो आहुः । सर्वेषु यज्ञक्रतुषु इति । तै० ब्रा० 3.10.9.2 तत्रोभयोर्मीमांसा । तै० ब्रा० 3.3.4.5

जब दो तपःपूत अतिथि ठहरे हों तो उनके आतिथ्य सत्कार पर विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। यदि गृहस्थ एक को अपमानित कर दूसरे का सम्मान करता है तो वह वस्तुतः दोनों अतिथियों का अनुग्रह खो देता है। इसी प्रकार यजमान सूर्य एवं अग्नि दोनों ही देवों की पूजा उपर्युक्त ढंग से मन्त्रों को वाञ्छित संशोधित करके सम्पादित करता है[1]।

आधान कर्मकाण्ड में होम किया जाता है अथवा नहीं, यह समस्या उठायी गई है। ब्राह्मण प्रणेता का कथन है कि कर्मकाण्ड के मध्य में विहित होम या आहुति करने से प्रधान कर्मकाण्ड का क्रम खण्डित हो जाएगा, किन्तु इसके विपरीत यदि इस होम को न किया जाये तो अग्निदेव का अपमान होगा। इस संशय के समाधान हेतु अविवादित रूप से यह विकल्प निकाला गया है कि प्रयोज्य-मन्त्र-रहित होम सम्पन्न किया जाय[2]।

शतपथब्राह्मण में पुरोडाश की माप को लेकर एक रोचक चर्चा हुई है। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि पुरोडाश घोड़े के खुर के माप का होना चाहिए, किन्तु घोड़े अथवा उसके खुर की मानक माप कहीं भी अंकित नहीं की गयी है। इस आपत्ति को और अधिक मुखर करने के निमित्त यह पूछा गया है कि कौन व्यक्ति अश्वों अथवा अश्व के खुर की माप जानता है। इससे यह परिलक्षित होता है कि उक्त विधान उचित नहीं कहा जा सकता। अतः इसके फलस्वरूप यह निश्चित निष्कर्ष निकाला गया कि होम में प्रयोज्य पुरोडाश का माप व आकार यजमान की इच्छा पर निर्भर करता है[3]। इसी प्रकार पञ्चब्राह्मण (5.9.6) में पूर्वगामी कथन के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया गया है कि सभी ऋत्विज महाव्रत साम का गान करें अथवा नहीं। आपत्ति यह उठायी गयी कि अध्वर्यु आदि ऋत्विक् कैसे सामगान करने में क्षम हैं क्योंकि सामगान हेतु

---

1. यदग्नये सायं जुहुयात्। आ सूर्याय वृश्च्येत। यत्सूर्याय प्रातर्जुहुयात्। आग्नेय वृश्च्येत। देवताभ्यस्तमदं दध्यात्। अग्निर्ज्योतिः ज्योतिस्सूर्यः स्वाहेत्येव सायं होतव्यम्। सूर्यो ज्योतिः ज्योतिरग्निस्स्वाहेति प्रातः। तथोभाश्यां सायं हूयते। उभाश्यां प्रातः। त देवताभ्यस्समदं दधाति। तै० ब्रा० 2.1.2.13-14
2. ब्रह्मवादिनो वदन्ति। होतव्यमग्निहोत्रां इन्न होतव्या इ मिति। मद्यजुषा जुहुयात्। अयथापूर्वमाहुती जुहुयात्। यन्न जुहुयात्। अग्निः पराभवेत्। तूष्णीमेव होतव्यम्। यथापूर्वमाहुती जुहोति। नाग्निः पराभवति। तै० ब्रा० 1.1.6.9
3. अश्वशर्फमात्रं कुर्यात् इत्यु हैक आहुः।·········स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येत एवं कुर्यात्। श० ब्रा० 1.1.6.10

ऋत्विज स्वतन्त्र रूप से अलग निर्धारित किये गये हैं। इसका सीधा सरल समाधान यह निकाला गया कि निर्धारित ऋत्विजों के स्थान पर स्वयं उद्गाता इन सामों का गान करे[1]।

इष्टि सम्पादित किये जाने के पूर्व दिवस को उपवास किया जाय अथवा नहीं—इस विषय पर स्पष्टीकरण वाञ्छनीय है। प्रश्न यह उठाया गया है कि केवल पितरों को कव्य देते समय यजमान पूर्णरूपेण उपवास रखे अथवा वह कुछ खा सकता है। इसके समाधान में पूर्ण उपवास का विधान बताया गया किन्तु देवों को हव्याहुति देते समय यजमान को पूर्ण उपवास रखना आवश्यक नहीं है। इस अवसर पर यजमान ऐसा अन्न ग्रहण कर सकता है जो वन्य (अकृष्य, स्वयं-रुह) प्रकृति का हो, अन्यथा बिना देवों को आहुति दिये हुए अन्न को ग्रहण करना नियमों के विपरीत होगा[2]।

इस प्रश्न का इस जीवन में पृथिवीलोक में इतनी अधिक इच्छाओं का विधान क्यों हुआ है, उत्तर दिया गया है।

देवों को विभिन्न पशुओं अथवा द्रव्यों की आहुति देने के परिणामस्वरूप इस संसार में उसकी फलप्राप्ति भी ध्रुव है। इन आहुति द्रव्यों के भिन्न-भिन्न प्रकार तथा भिन्न-भिन्न के गुणों के होने के कारण तदनुसार ही मनुष्य के मन में विभिन्न तृष्णाएं, इच्छा-अनिच्छा आदि का प्रादुर्भाव होता है[3]।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.3.9.1.) में वायु प्रभृति देवों का प्रतीकत्व इंगित किया गया है। पञ्चब्राह्मण में यज्ञ के अर्थ को समझाने हेतु पर्याप्त इंगित दिया गया है। गर्ग त्रिरात्र का वर्णन करते हुए यह ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ के तीन दिवसों की तुलना आकाश मार्ग से संक्रमण करते हुए सूर्य के तीन सोपानों से करता है। जिस प्रकार एक धागा अनेक गुरियों को उनके मध्य से जाते हुए एक साथ बाँधे

---

1. सर्वे सहर्त्विजो महाव्रतं............उद्गातैव सर्वेण उद्गापयेत। श० ब्रा० 5.9.6
2. यो मनुष्येष्वनश्नत्सु......सवा आरण्यमेवाश्नीयात्। श० ब्रा० 11.1.8.9. तैत्तिरीय ब्राह्मण में पिण्डपितृ यज्ञ में इसी प्रकार के प्रश्न का समाधान यह कहकर किया गया है कि भोज्य वस्तु को सूंघ लेना चाहिए—'अवघ्रेयमेव। तै० ब्रा० 1.3.10.6-7
3. ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्मात्सत्यात् अस्मिंल्लोके बहवः कामा। ......तस्मात् लोके बहवः कामाः तै० ब्रा० 3.9.3.2-3

रखता है कि उसी प्रकार त्रिरात्र भी भुवनों के बीच से गुजरता हुआ उन्हें परस्पर आबद्ध रखता है[1]।

श्रद्धा :—अब तक किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों की कल्पना तथा उनका अनुष्ठान करने वाले ऋषि मानव के रूप में साक्षात् देवता थे। दैहिक, दैविक एवं भौतिक दुःखों के प्रशमन हेतु तो यज्ञ थे ही, स्वर्ग लोक की प्राप्ति तथा आगामी जन्म के स्वरूप निर्धारण में भी यज्ञ सहायक थे। यज्ञोपरान्त दीक्षित यजमान यज्ञ के समान ही पवित्र हो उठता था। विना श्रद्धा के यज्ञ-कर्म अकल्पनीय है। यज्ञ का बाह्य पक्ष हवि के अर्पण से तथा आभ्यन्तर पक्ष मन्त्र-ध्यान और देव चिन्तन से सम्बद्ध होता है। ब्राह्मणों में अशरीरा आहुतियों का उल्लेख इसका प्रमाण है। यज्ञ का बाह्य भौतिक कर्मानुष्ठान श्रद्धा से संयुक्त होकर ही सफल होता है। मन से वाक् (वाणी) का संयोग होने पर मन्त्र यज्ञ का वहन करते हैं[2]। इन दोनों के संयोग से ही यज्ञ का विस्तार संभव है[3]। जो व्यक्ति श्रद्धा के साथ यज्ञ करता है, उसका इष्ट नष्ट नहीं होता[4]। श्रद्धा सत्य की प्रथम सृष्टि है[5]। श्रद्धा और सत्य मिथुनवृत्ति में रहते हैं[6]। श्रद्धा ही सत्य को सिद्ध करती है। श्रद्धा ही यज्ञ का आत्म तत्त्व है।

नीतिशास्त्र :—कतिपय विद्वानों की यह धारणा रही है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में नीति-शास्त्र पर विचार नहीं किया गया है। डॉ० विन्टरनित्ज़ का मत है कि इन पवित्र ग्रन्थों में नैतिकता के सिद्धान्त पर कोई विचार नहीं किया गया है[7]। डॉ० एच० आर० कर्णिक तथा प्रोफेसर बी० सी० बनर्जी ने इस विषय पर सुन्दर अध्ययन किया है। इस विद्वद्-द्वय ने यह सोदाहरण विवेचित किया है कि ब्राह्मणों में नैतिकता पर पर्याप्त विमर्श हुआ है[8]।

---

1. तद्यथा वा अक्षे मणौ सूत्रमोतं एवमेव लोकेषु त्रिरात्र ओतः। पं० ब्रा० 20.16.2
2. मनसा है व वाक् च यजो देवेभ्यो यज्ञं वहतः। श० ब्रा० 1.4.4.1.
3. श० ब्रा० 3.5.3.11
4. स यः श्रद्धधानो यजते तस्येष्टं न क्षीयते। कौ० ब्रा० 7·4.
5. तै० ब्रा० 3.12.3.2.
6. ऐ० ब्रा० 7.10.
7. ......'Morality is a thing with which these works have nothing to do' विन्टरनित्ज एच० आई० पी० आई० पृ० 208
8. डॉ० कर्णिक का 'मॉरल्ज इन द ब्राह्मणज' शीर्षक से 'द लिजेण्ड आव प्रजापति' शोधपत्र में प्रकाशित हुआ है। द्रष्टव्य—ए० आई० ओ० सी० 12, पृ० 246

वैदिक साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन से यह विदित होगा कि धर्मसूत्रों के रचयिताओं का यह मत कि वेद ही समस्त धर्म के मूल स्रोत हैं सर्वथा तर्कसंगत प्रतीत होता है। वेदों में प्राविधानित कर्मकाण्ड परोक्षतः यह शिक्षा देते हैं कि संसार में मनुष्य को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये। नैतिक जीवन से सम्बद्ध अनेक स्थल अवलोकनीय हैं[1]। कभी-कभी नैतिक मान्यताएँ निर्णय हेतु छोड़ दी गयी हैं। ब्राह्मणों में 'रेतस्', 'योनि', 'मिथुन', 'प्रजनन' तथा 'प्रजा' अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। यह सामान्य विचार व्यक्त किया गया है कि मानव शरीर की नाभि के नीचे के सभी अंग अशुद्ध होते हैं[2]; किन्तु उपर्युक्त वाक्य नैतिकता पर कोई प्रकाश नहीं डालते हैं। ब्राह्मणों में पुरुष-स्त्री के यौन सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा इन्हें मानव जीवन के स्तर निर्माण एवं विश्व स्तरीय सनातन प्राकृतिक नियमों के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। मानव जीवन की पूर्णता के लिए सन्तति प्राप्ति उतनी ही आवश्यक है जितनी जीवन की कोई अन्य उपयोगी वस्तु[3]।

श्री भवेशचन्द्र बनर्जी ने ब्राह्मणों में वर्णित निम्नांकित गुणों का उल्लेख किया है[4] :— 1. सत्यवादिता, 2. पवित्रता (Chastity) तथा 3. संयम। डॉ० कर्णिक ने निम्नांकित नैतिक विषयों पर ब्राह्मणों में अंकित धारणाओं पर विवेचन किया है[5] :— 1. अहिंसा, 2. सत्यवादिता, 3. ब्रह्मचर्य, 4. तप, 5. आत्मनियन्त्रण एवं सहिष्णुता, 6. सुचरित, 7. आतिथ्य सत्कार आतिथेय, 8. श्रद्धा, 9. ज्ञान, 10. उदारता, 11. परिमितता-मध्यमगामी, 12. निष्ठा तथा 13. मैत्री। अपने एक निबन्ध में उन्होंने अधोलिखित दुर्गुणों को निन्दनीय बतलाया है[6] :— 1. घमण्ड (अभिमान), 2. उपेक्षा (अवहेलना), विश्वासघात एवं धोखा तथा 3. चोरी। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों से अनेकानेक गुण उद्धृत किये जा सकते हैं।

---

1. तस्मान्नाति मन्येत। पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः, श० ब्रा० 11.1.8.1
2. अस्तिवैपत्न्या अमेध्यं यद्वाचीनं नाभेः। श० ब्रा० 13.1.1.3
3. प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः, तै० ब्रा० 3.3.10.4
4. 'आर्यन मोरालिटी इन द ब्राह्मण पीरियड,' के० बी० पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० 15.22
5. 'मॉरल्ज इन द ब्राह्मणज,' जार्नल आव, द बाम्बे युनिवर्सिटी (आर्ट्स), 27(एम० एस०) पार्ट 2, 1958, पृ० 95-127
6. 'सम मॉरल टेल्ज इन द, शतपथब्राह्मण इम्प्लाइंग कन्डेम्नेशन् आव् सर्टेन वाइसेज,' ए० आई० ओ० सी० 10, पृ० 29-39

अतिथि सत्कार :—ब्राह्मणों में उस व्यक्ति को 'आर्यावसति' कहकर पुकारा गया है जो सच्चरित्र आर्य महानुभावों का स्वागत-सत्कार करता था[1]। सम्मान्य अतिथि का स्वागत-सम्मान करना उस समाज में धार्मिक उत्सव मनाने की भाँति ही आह्लादकारक माना जाता था। यज्ञशाला में जब 'सोम' लाया जाता है तो उसके सम्मान में आतिथ्येष्टि सम्पन्न की जाती है। उस समय सोम का स्वागत-सम्मान राजा की ही भाँति किया जाता है। ब्राह्मणों में आहिताग्नि को यह चेतावनी दी गयी है कि सम्भ्रान्त अतिथि का बिना सत्कार किये तथा बिना उसे भोजन-जलपान कराये घर में नहीं रखना चाहिए[2]। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि एक सम्भ्रान्त अतिथि को आहिताग्नि के घर में बिना भोजन किये हुए नहीं ठहरना चाहिए। जिस प्रकार उद्दीप्त अग्नि में ही हवि की आहुति डाली जानी श्रेयस्कर है ठीक उसी प्रकार अतिथि को उसका प्रिय एवं मृदु वचनों से सम्यक् स्वागत करने के अनन्तर ही भोजन देना चाहिए[3]। अर्थात् अतिथि हेतु पूर्णतया अनुकूल वातावरण बनाकर ही उसे भोजन ग्रहण करने के लिये उत्साहित किया जाना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि अतिथि को वही भोजन प्रदान करना चाहिए जो आतिथेयी स्वयं ग्रहण करता है भले ही वह अतिथि सम्बन्धी हो अथवा मित्र हो या अपरिचित हो[4]। जब कभी दो अतिथि आ जायं तो आतिथेयी को इस प्रकार स्वागत शुश्रूषा करनी चाहिए कि दोनों में से किसी अतिथि को कदापि यह अनुभव न हो कि उसके प्रति उपेक्षा बरती जा रही है। इस सिद्धान्त को अग्निहोत्र के समय आहवनीय में दो आहुतियों के डाले जाने के प्रसंग में पूर्णतः स्पष्ट किया गया है। प्रथम आहुति डालने के बाद यजमान को चाहिए कि स्रुवा को नीचे रखे तथा गार्हपत्य की ओर सादर दृष्टिपात करे[5]। जब कभी किसी को प्रदेय कोई वस्तु यजमान के समीप रखी हो तो उसे उसी अभीष्ट व्यक्ति को देना चाहिए। इसी क्रम में ब्राह्मणों में स्पष्ट निर्देश अंकित है कि बिना आहवनीय में आहुति डाले यजमान को

---

1. दानकामा अस्मै प्रजा भवन्ति। ...... आर्यावसतिरिति वै तमाहुर्यं प्रशंसन्ति। तै० ब्रा० 2.3.5.3
2. नास्य ब्राह्मणोऽनाश्वान् गृहे वसेत्। तै० ब्रा० 1.1.4.2
3. आदीप्तायां जुहोति समिद्धमिव हि ब्रह्मवर्चसम्। अथो यथा अतिथिं ज्योतिष्कृत्वा परिवेवेष्टि। तादृगेव तत्। तै० ब्रा० 2.1.3.9
4. यथा ज्ञातिभ्यां वा सखिभ्याम् वा सहागताभ्यां समानं-ओदनं पचेत्। श० ब्रा० 1.5.3.3
5. गार्हपत्यं प्रतीक्षते। अननुध्यायिनमेवैनं करोति। तै० ब्रा० 2.1.4.3

गार्हपत्य के समीप स्रुवा नीचे नहीं रखनी चाहिए[1] । तत्तिरीय ब्राह्मण में एक सन्दर्भ में यह कहा गया है कि जो गृहस्थ घर आये हुए अतिथि का स्वागत-सत्कार किये बिना भोजन ग्रहण कर लेता है वह घोर पाप करता है[2] ।

ब्राह्मणों में निहित आतिथ्य सत्कार एवं सद्व्यवहार से सम्बद्ध शैली एवं प्रक्रिया न केवल भक्त याज्ञिक को यज्ञानुष्ठान विधियों में आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान करना था, अपितु अपने इष्ट-मित्रों आगन्तुकों एवं जनसामान्य के प्रति सद्व्यवहार की शिक्षा भी प्रदान करना रहा है जिससे उनका सामाजिक जीवन सौहार्दपूर्ण एवं सार्थक बने ।

सत्यवादिता :—सत्यवादिता वह गुण है जिसके माध्यम से मनुष्य वह बोलता है जो कि वास्तविकता हो तथा जिसका उसे अनुभव प्राप्त हो । अपनी अनुभूति के विपरीत भाषण करना असत्य अथवा मिथ्या है । ब्राह्मणों ने यह बात एक सामान्य नियम की तरह स्वीकार की है कि मनुष्य को कभी असत्य अथवा अवास्तविक वचन नहीं बोलना चाहिए । सामान्य अनुभव यह है कि असत्य भाषण करना मनुष्य का स्वभाव होता है किन्तु इस प्रवृत्ति पर सदैव नियन्त्रण पाना चाहिए । देवों को सत्यमय तथा मनुष्यों को अनृत कहा गया है । मनुष्य आखिर मनुष्य है । रागद्वेषादि से प्रभावित होकर वह स्वार्थसाधन हेतु असत्य भाषण करता है । सत्य पवित्रता का प्रतीक है । असत्य एक अपवित्र दुर्गुण होता है[3] । ऐसे महापुरुष भी जो दिव्यगुणों से मण्डित होते हैं सत्यनिष्ठ होते हैं । ब्राह्मणों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि देश काल अथवा प्रयोजन वश यदा-कदा असत्य का आश्रय ले लेना भी अनुमन्य था । उन विशिष्ट परिस्थितियों में सत्य के नियम में शैथिल्य का भी विधान था । सत्य के शाश्वत नियम से शिथिलीकरण हेतु शर्तों को इंगित किया गया है । ब्राह्मणों का यह वाक्य कि सन्ध्याकाल में असत्य-भाषण से दूर रहना चाहिये[4] यह सिद्ध करता है कि किन्हीं-किन्हीं विशिष्ट परि-स्थितियों में मनुष्य की सीमाओं एवं सहज कमजोरियों को दृष्टि में रखते हुए

1. नाहोष्यन्नुपसादयेत् । यदहोष्यन्नुपसादयेत् । यथान्यस्मा उपनिधाय । अन्यस्मै प्रयच्छति तादृगेव तत् । आस्मै वृश्च्येत् । तै० ब्रा० 2.1.3.6-7
2. केवलाघो भवति केवलादी । तै० ब्रा० 2.8.8.3
3. सत्यमेव देवाः । अनृतं मनुष्याः । श० ब्रा० 1.1.1.4, कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं वदितुम् । सत्य संहिता वै देवाः अनृतसंहिता मनुष्याः इति ऐ० ब्रा० 2.6, अमेध्यो वै पुरुषः यदनृतं वदति । श० ब्रा० 1.1.1.1
4. वरुणस्य सायम् । तत्पुण्यं तेजस्व्यहः तस्मात्तर्हि नानृतं वदेत । तै० ब्रा० 1.5.3.3

सत्यवादिता के नियम में ढील दी जा सकती थी। किन्तु ऐसी किसी भी विशिष्ट परिस्थिति में दीक्षा प्राप्त आहिताग्नि को इस प्रकार की छूट प्रदान नहीं की गयी थी[1]।

पवित्रता :—पवित्रता के गुण पर भी ब्राह्मणों में प्रकाश डाला गया है। पवित्रता से बाह्य अथवा शारीरिक गुण एवं आभ्यन्तर अथवा मानसिक गुण से तात्पर्य था। दीक्षित यजमान दम्पति के लिये शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही ढंग की पवित्रता अनिवार्य थी[2]। इसी सन्दर्भ में व्रतों का उल्लेख किया गया है। व्रतों से शारीरिक एवं आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार की पवित्रता प्राप्त होती थी। दीक्षित यजमान की अनुष्ठान अवधि में लिये गये व्रत के निर्वहन में इन्द्रियों पर अंकुश, आहार-विहार पर नियन्त्रण, निद्रा आदि विभिन्न दैनिक क्रियाओं के नियमन आदि सम्मिलित थे।

लालच :—इस ग्रन्थ में पहले भी यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि आधुनिक विद्वानों ने याज्ञिक दक्षिणा को लालच के ही उदाहरण स्वरूप माना है। जब-जब दक्षिणा का प्रकरण आता है, वे उसे लालच की संज्ञा दे देते हैं। किन्तु इस एकांगी विचार का खण्डन किया गया है। आधुनिकों की यह धारणा यथार्थ से परे है। वास्तव में दक्षिणा में लेशमात्र भी लालच का भाव निहित नहीं है। ब्राह्मणों में बारम्बार यह व्यक्त किया गया है कि दक्षिणा का विधान इसलिए था कि यजमान को सुख, समृद्धि एवं दीर्घायुष्य प्राप्त हो साथ ही प्राप्तिकर्ता भी सुखी व सन्तुष्ट रहे। ब्राह्मणों में प्रतिपादित धारणा यह रही है कि काम (इच्छा) ही दक्षिणा देने तथा पाने वाले को प्रेरित करता है। काम की सीमा सामान्य शक्ति से परे बतायी गयी है। काम का क्षेत्र सागर के समान ही असीम बताया गया है[3]। काम सम्बन्धी इन विचारों को देखते हुए इस बात में लेशमात्र भी संशय

---

1. तस्मादाहिताग्निर्नानृतं वदेत्। तै० ब्रा० 1.1.4.2, दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्। ऐ० ब्रा० 26
2. अनृतात् सत्यमुपैमि। मानुषाद्दैव्यमुपैमि। दैवीं वाचं यच्छामि। तै० ब्रा० 1.2.1.15
3. वयो दात्र इत्याह। वय एवैनं कृत्वा सुवर्गलोकं गमयति। मयो मह्यमस्तु प्रतिग्रहीत्र इत्याह। यद्वै शिवम्। तन्मयः।.........अनृण्यमेवैनां प्रतिगृह्णाति। तै० ब्रा० 2.2.5.4-6 वयो रात्रे मयो मह्यं प्रतिग्रहीमे। पं० ब्रा 183, दक्षिणा ग्रहण किये जाने के विषय में अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। उदाहरणार्थ दक्षिणा गायक (गाते हुए अथवा गायन व्यापार-रत) से तथा मत्त (शराबी) अथवा 'अव्यवस्थित चित्त क्रोधी से नहीं ग्रहण करनी चाहिए :—तस्माद् गायतश्च मत्तस्य च न प्रतिगृह्यम्।

   यत्प्रतिगृह्णीयात्। शमलं प्रतिगृह्णीयात्। तै० ब्रा० 1.3.2.7

नहीं रह जाता कि दक्षिणा लेने का प्रयोजन 'लालच' स्वप्न में भी कल्पित नहीं था। तत्कालीन तपोनिष्ठ आश्रमजीवन की समस्याओं तथा जीवन को दिव्य बनाने की आर्यों की उत्कट अभिलाषा को देखते हुए दक्षिणा प्रजावर्ग में अर्थ वितरण को सन्तुलित करने के निमित्त एक सामाजिक आवश्यकता थी।

पाप :—ब्राह्मणों में पाप पर भी पर्याप्त विचार मिलता है। अनेक प्रार्थनाओं में पाप से मुक्ति पाने की इच्छा व्यक्त की गयी है। इन प्रार्थनाओं में पाप के दृश्य अंकित मिलते हैं। सामान्यतया पाप का अर्थ स्वाभाविक सहज स्थिति व मर्यादा का अतिक्रमण करने में निहित माना गया है। यह अतिक्रमण विहित मर्यादा या मानक स्थिति से ऊपर जाने अथवा उससे निम्न स्तर पर चले जाने में सन्निहित होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि मनुष्य की स्वभावतः पापोन्मुख प्रवृत्ति हुआ करती है। पुरुष के शरीर का प्रत्येक अंग वातावरण से प्रभावित होकर विहित मर्यादित मार्ग से डांवाडोल हो उठता है[1]। निश्छलभाव से सीधा-सादा व्यवहार सर्वदा श्लाघनीय व व्यवहार में वक्रता पाप अथवा दुश्चरण कहा गया है। वृजिन अथवा वक्र व्यवहार भी पाप माना गया है[2]। 'पाप' शब्द के अतिरिक्त 'एनः,' 'अंहः,' 'रपः' एवं 'दुरितम्' शब्द भी पापार्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

सुख-शान्त्यर्थ अनुष्ठेय होमों में प्रयोज्य मन्त्रों में पाप करने की संभावनाओं का उल्लेख किया गया है। इन मन्त्रों में देवों से यह प्रार्थना की गयी है कि वे जाने अनजाने में देवों, पितरों, बन्धु-बान्धवों एवं जातीयों के विरुद्ध किये गये तथा दिन अथवा रात्रि में, जाग्रत् अथवा सुषुप्तावस्था में, ग्राम के अन्दर अथवा बाहर, सभास्थल में अथवा स्वयं अपने विरुद्ध आचरित पापों से मुक्ति प्रदान करें[3]। सोम को पेरना भी एक पाप माना गया है। अतएव इस पाप से क्षमा

1. अङ्गे-अङ्गे वै पुरुषस्य पाप्मोपश्लिष्टः। तै० ब्रा० 3.8.17.4; व्यतिषिक्तो वै पुरुषः पाप्मभिः। तै० ब्रा० 2.7.18.5
2. पाहियाऽग्ने दुश्चरितादा मा सुचरिते भजेत्याह। अग्निर्वाव··············वृजिनमनृतं दुश्चरितम्। ऋजुकर्म सत्यं सुचरितम्। ···आत्मनो गोपीयाय। तै० ब्रा०3.3.7.9-10
स्वप्न, तन्द्रालु, क्रोध, क्षुधा एवं द्यूत में अत्यधिक रुचि तथा रतिक्रिया को पाप की श्रेणी में गिनाया गया है—स्वप्नं तन्द्रीं मन्युं अशनयां भक्षकाम्यां स्त्रीकाम्यां इति। एते ह वै पाप्मानः पुरुषं अस्मिन् लोके सचन्ते। जै०ब्रा०1.98
3. यद्देवा देव हेडनम्। देवासः चकृमा वयम्। अग्निर्मातस्यादेनसः विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ततो वरुण नो मुञ्च। तै० ब्रा० 2.6.6.1-2 देवकृतस्य एनसाऽवयजनमपि, पितृकृतस्य······ एवम् एनसोऽवयमसि। पं० ब्रा० 1610, तै० ब्रा० 3.7·1.2

हेतु सोम से प्रार्थना की गयी है[1]। अग्निदेव से प्रार्थना की गई है कि वह उस नाव की भांति जो जल के ऊपर से उस पार पहुंचा देती है, ठीक उसी प्रकार यजमान को पाप के पार पहुँचा[2] दें। वैदिक देवों में वरुण मानव-व्यवहार के नियामक देवों में से एक माने गये हैं। वस्तुतः वरुण उन व्यक्तियों को पकड़ कर दण्डित करते हैं जो सन्मार्ग से च्युत हो जाते हैं तथा उसके लिये पश्चात्ताप भी नहीं करते। वरुण ही ऐसे पापियों को अपने पाश में बांध लेते हैं[3]।

अपमान :—अपमान की स्थिति के बारे में तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक हितकारी वाक्य प्रयुक्त हुआ है जिसमें यह कहा गया है कि अपमानित किये जाने पर भी मनुष्य को उत्तेजित नहीं होना चाहिये, क्योंकि अपमानित करने वाला अपमानित किये जाने वाले व्यक्ति का पाप स्वयं ले लेता है[4]। इस कथन से यह आभास मिलता है कि ब्राह्मणकालीन समाज में भी यह आम धारणा थी कि सामान्यतः पुरुषों में परनिन्दा अथवा छिद्रान्वेषण की सहज प्रवृत्ति होती थी। साथ ही परोक्षतया यह शिक्षा भी मिलती है कि कटु आलोचना एवं दोष से आरोपित होकर मनुष्य को उद्विग्न व उत्तेजित नहीं होना चाहिये। इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रकार की आलोचना मनुष्य को सदैव जागरूक रखती है जिससे कि वह संयमी बने तथा अनुचित कृत्यों से दूर रहे।

गणित :—ब्राह्मण ग्रन्थों में अन्य वैज्ञानिक विचारों के अतिरिक्त गणित के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। गणित की वर्तमान तीनों विधाओं—अङ्कगणित, रेखागणित एवं बीजगणित का ज्ञान मिलता है[5]। विभिन्न प्रकार की याज्ञिक वेदियों के निर्माणप्रसंग में रेखागणित के बारे में पर्याप्त इंगित प्राप्त होता है[6]।

---

1. यत्ते ग्राव्णा चिच्छिदु सोम राजन्।......अनागसो अधर्मत संक्षयेय। तै० ब्रा० 3.7.13.1
2. विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः। सिन्धुं सिन्धुंनं नावा दुरितातिपर्षि। अग्ने रक्षाणो अंहसः। ......वितार पाहि यद्रपः॥ तै० ब्रा० 2.4.1.5-6-7
3. अनृतवादिनो वरुणो हिनस्ति। अनृते खलु वै क्रियमाणे गृह्णाति। तै० ब्रा० 1.7.2.6; तै० ब्रा० 1.5.3.3 तथा 1.6.5 पर भट्टभास्कर की टीका भी द्रष्टव्य है।
4. तेय एनं पुरस्तादायान्तमुपवदन्ति। य एवास्य पाप्मानः। तास्तेऽपघ्नन्ति। पुरस्तादितरान्पाप्मनस्सचन्ते। (एवं दक्षिणतः पश्चात् उत्तरतः।) तस्मादेवं विद्वान्। वाव नृत्येत्। प्रेव प्रलते।........उत मे पाप्मानमपहन्युरिति। तै० ब्रा० 2.3.9.7-9
5. द्रष्टव्य दत्त एवं सिंह : हिन्दू मैथमैटिक्स, पृष्ठ 1
6. आर० एन० आप्टे : 'सम प्वाइन्ट्स कनेक्टेड विद कन्स्ट्रक्टिव् ज्योमिट्री आव् द वेदिक आल्टर्स', ए० बी० ओ० आर० आई० 7, 1926, पृ० 1-16

सौ तक की गिनतियों का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक सौ से ऊपर की संख्याएं वर्णित हैं—शत, सहस्र, अयुत, (दस हजार), नियुत (एक लाख), प्रयुत (दस लाख), न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त एवं परार्ध। ग्रन्थ में कहा गया है कि प्रत्येक परवर्ती संख्या पूर्वगामी संख्या से दसगुनी अधिक होती है। अर्बुद को वाक् (वाणी) कहा गया है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि इस संख्या की तो चर्चा मात्र पर्याप्त है, इसका व्यावहारिक प्रयोग शायद ही हो। प्रायेण न्यर्बुद संभवतः संख्या परिगणना में अन्तिम संख्या हो। इसके ऊपर की संख्या का हिसाब लगाना सामान्य प्रज्ञा के मनुष्य की सीमा के परे था[1]।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि 'त्रिवृत्' (तीन का तीन गुना) जैसे शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय गुणा की जानकारी थी[2]।

मानचित्र :—ब्राह्मणों में प्रयुक्त कतिपय वाक्यों एवं शब्दों को देखकर यह आभास मिलता है कि उस समय मानचित्र-कला (Mapdrawing) की भी जानकारी थी। 'उदान' का अर्थ 'ऊपर' अथवा 'ऊपर की ओर' एवं 'उत्तर' शब्द का अर्थ उत्तर दिशा है। कपड़े अथवा काष्ठ के फलक पर चित्रकारी या रेखाचित्र बनाकर दीवाल पर टाँगने आदि के वर्णन से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि मानचित्र-निर्माण का ज्ञान था। मानचित्र निर्माण में प्रयुक्त उपकरणों के ऊपरी भाग से उत्तर दिशा का सम्वन्ध इंगित किया गया है। इससे यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि उत्तर दिशा एवं 'ऊपर की ओर' का बोध कराने हेतु एक ही नामकरण था। एक स्थल पर यह निर्देश है कि आहवनीय के पूर्वी छोर

---

1. शताय स्वाहेत्याह।······अयुताय···नियुताय·······प्रयुताय·········त्रय इमे लोकाः। ·········अर्बुदाय·········। वाग्वा अर्बुदम्।·········न्यर्बुदाय······ यो वै वाचो भूमा। तन्न्यर्बुदम्। समुद्राय······मध्याय···अन्ताय····परार्धाय। तै० ब्रा० 3.8.16.2-4 'सर्वाश्चैताः शतादयः परार्धपर्यन्ताः संख्या दशोत्तराः।' भट्टभास्कर। देवा देवेषु श्रयध्वम्। प्रथमा द्वितीयेषु श्रयध्वम्। द्वितीयास्तृतीयेषु श्रयध्वम्। तृतीयाश्चतुर्थेषु·····पञ्चमेषु······ षष्ठेषु···सप्तमेषु·····अष्टमेषु······नवमेषु······दशमेषु······एकादशेषु······द्वादशेषु······ त्रयोदशेषु······चतुर्दशेषु······पञ्चदशेषु·····षोडशेषु······सप्तदशेषु·····अष्टादशेषु······ एकान्नविंशेषु······विंशा······एकविंशेषु·····द्वाविंशेषु·······त्रयोविंशेषु·······चतुर्विंशेषु··· ···पञ्चविंशेषु······षड्विंशेषु·······सप्तविंशेषु·····अष्टाविंशेषु·····एकान्नत्रिंशेषु········ त्रिंशेषु······एकत्रिंशेषु······द्वात्रिंशेषु······द्वात्रिंशाः त्रयत्रिंशेषु श्रयध्वम्। तै० ब्रा० 3.11.2
2. त्रिरेकादशाः (देवाः)। तै० ब्रा० 3.7.5.1

पर दो समिधाओं के 'उदीचीनाग्र' रखे जाने का विधान है[1]। भट्टभास्कर ने 'उदीचीनाग्र' को ऊपर की ओर (उदीची) संकेत करते हुए ऊर्ध्वाग्र बतलाया है। भूमण्डल-चित्र के उत्तरी भाग को ऊपरी भाग माना जाता था।

गुरुत्वाकर्षण :— तैत्तिरीय ब्राह्मण कदाचित् गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के बारे में धुँधली जानकारी देता है। यदि कोई भी व्यक्ति गायब हो जाय अथवा कहीं छिप जाय तो यह माना गया है कि वह पृथिवी लोक पर ही उपलब्ध हो सकता है। इस मान्यता का कारण यह बतलाया गया है कि कोई भी जीव इस पृथिवी के पार तिरछे अथवा ऊपर की ओर जा अथवा उठ नहीं सकता[2]। यहां 'अत्येतुम्' शब्द का प्रयोग यह भाव व्यक्त करता है कि कोई भी जीव इस पृथिवी के पार न तो जा सकता है और न जी सकता है। जीव आकाश मार्ग से उड़ तो सकता है, किन्तु वहां अधिक देर तक ठहर नहीं सकता।

वायु को वर्षा का वाहक बतलाया गया है। वर्षा कराने हेतु सोमाहुति का विधान बतलाया गया है। वर्षा का नियमन व धारण आदित्य (सूर्य) करता है। वर्षा का अपना विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि यह तीनों लोकों का पोषण करती है[3]।

बाट एवं माप :— ब्राह्मणों में विभिन्न मापों का उल्लेख मिलता है। अरत्नि, वितस्ति, हस्त, अंगुल कतिपय लम्बाई नापने के माप बताये गये हैं। परिमाण अथवा आयतन मापने हेतु 'इतनी मात्रा' अथवा 'इतना परिमाण' के द्योतक शब्द 'मात्र' अथवा 'सम्मित' प्रयुक्त हुए हैं। शब्द 'दघ्न' स्तर अथवा तल का भाव व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ, 'जामदघ्न' शब्द का अर्थ 'घुटने' तक, का है।

धर्मनिरपेक्ष संस्कृति एवं पुरुषार्थचतुष्टय प्राप्ति :—

ब्राह्मणकालीन समाज यज्ञीय संस्कृति का समाज था। जीवन की संस्कृति

---

1. उदीचीनानाग्रे निदधाति प्रतितिष्ठ्यै। तै० ब्रा० 3.6.6.10, उदीचीनाग्र इति ऊर्ध्वाग्र इत्येतत्। 'गोलापेक्षया उदीच्या ऊर्ध्वत्वात्। भट्टभास्कर।
2. यो वा अस्यां नश्यति यो निलयते। अस्यां वाव तं विन्दन्ति। न वा इमां कश्चनेत्याहुः। तिर्यङ् नोर्ध्वोऽत्येतुं अर्हति इति। तै० ब्रा० 3.9.13.2
3. वायुर्वै वृष्ट्यै दापयिता। सूर्येण वा अस्मिंलोके वृष्टिः धृता। तै० ब्रा० 1.1.7.1 अग्नेर्वै धूमो जायते धूमात् अभ्रम् अभ्रात् वृष्टिः। श० ब्रा० 5.3.2.17, चन्द्रमसो वै वृष्टिर्जायते। ऐ० ब्रा० 40.5 श० ब्रा० 1.2.2.6; वृष्टिर्वा इमान् लोकान् अनुपूर्वं कल्पयति। तै० ब्रा० 3.3.1.2; एतया स्तुते वर्षुकः पर्जन्यो भवति। पं० ब्रा० 2.2.2 यदि कामयेत वर्षुकः पर्जन्यः स्यादिति। अग्रतः समज्यात्। तै० ब्रा० 3.3.1.2

का सीधा सम्बन्ध विश्वस्तरीय तत्त्वों से था जिनमें देवत्व व असुरत्व के अपने-अपने लक्षण व स्वरूप स्पष्ट किये गये थे । यज्ञ की सार्वभौम प्रक्रिया एवं निरन्तर तप व श्रम द्वारा मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सकता है । इसके विपरीत उद्दाम वासनाओं में पड़कर मनुष्य अपनी मौलिक वृत्तियों को राजसिक-तामसिक क्षेत्रों की ओर उन्मुख कर विनष्ट भी कर सकता है । ब्रह्म एवं क्षत्र के सिद्धान्तों द्वारा यह गम्भीर घोष किया गया है कि जन्म इनका निर्धारक नहीं है, अपितु जीव की वृत्ति एवं गुण-कर्म ही इन दोनों का नियमन-नियन्त्रण करते हैं । ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी व्यक्ति अपनी गुण कर्मवृत्ति से क्षत्रप्रधान (क्षत्रिय वैश्य व शूद्रवत्) व्यवहार करता है और क्षत्रिय कुल में जन्म पाकर भी अपने गुणों एवं वृत्तियों पर काबू पाकर जीव 'ब्रह्म' की चेतना का बोध कर सकता है । जीव के गुण-कर्म की व्यावहारिक वृत्ति ही उसे ब्राह्मण अथवा क्षक्षिय का नाम देती थी । देवविषयिणी परिकल्पना हमें प्रकृति के 'महत्' तत्त्व के बहुआयामी स्वरूप का दर्शन कराती है । इनकी व्यावहारिक, विविध विच्छित्तियां व छायाएं ही इन्हें अनन्त देवों के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं जबकि वस्तुतः ये सभी देव रूप एक ही मूल तत्त्व के अंगोपांग हैं । इन्हें मानव-मेधा अपने सामर्थ्य व रुचि के अनुसार अनन्त आकृतियों व शैली में अभिव्यक्त करती है । इस अवधारणा को मानते हुए संसार के किसी धर्म व देववाद से कोई भेद भाव या विरोध नहीं रह जाता । स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति सार्वभौम, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन विश्व संस्कृति है। शापेन-हॉवर जैसे पाश्चात्य चिन्तकों ने इस रूप को सही-सही पहचाना है । यह संस्कृति जो मन्त्र-ब्राह्मण काल में जन्मी व पुष्पित हुई आगे चलकर आरण्यक और उप-निषत् काल में फलीभूत व दृढ़ हुई । इसीलिये उपनिषद् परम रहस्य (परम गोपनीय-तत्त्व) माने गये हैं ।

वैदिक कालीन मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में एकरूपता थी । जो-जो कृत्य-कर्मकाण्ड व्यक्तिगत जीवन के लिये थे वे ही सामाजिक स्तर पर सामूहिक रूप से विश्व भर के लोगों द्वारा अनुष्ठेय बताये गये हैं । इस जीवन-पद्धति से व्यक्ति, देश, समाज तथा सम्पूर्ण विश्व का सुख-सौभाग्य जुड़ा हुआ है । यही विश्वशान्ति के मूल में है । व्यक्ति तथा समाज में यह पारस्परिक सम्बन्ध-बोध ही इस संस्कृति को सभी धर्मों की समन्वित संस्कृति बना देता है । ऋग्वेद की निम्न उद्घोषणा इसका ज्वलन्त प्रमाण है :—

'सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं नो मनांसि जानताम् ।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।

समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।'

ऋग्वेद 10.191.2-4

अर्थात् हम सभी एक मार्ग पर एक साथ चलें, एक बात (विवादरहित) कहें। हमारे मन के संकल्प को सभी समझें। हम सब का मन्त्र एक हो, हमारी सभा (प्रजातान्त्रिक विमर्श हेतु जनसभा) समान (एक) हो, हमारे मन के भाव (जनाकांक्षाएँ, विचारधाराएँ) एक हों। हमारे निर्णय विवेक पर आधृत हों व निर्विरोध हों। तात्पर्य यह है कि समाज व राष्ट्र के विभिन्न वर्णों एवं वर्गों के व्यक्तियों के सभी प्रकार के उद्देश्य, पुरुषार्थ एवं गन्तव्य बहुमत पर आधृत व एक समान हों। मन सम्बन्धी एवं भावगत एकता पर बहुत बल दिया गया है। आर्यों की इच्छा थी कि सभी वर्गों के लोगों में भावात्मक ऐक्य स्थापित हो तथा सबके हृदय सौमनस्यपूर्ण बनें। 'आकूति' मन की विवेक शक्ति को कहते हैं। इस प्रार्थना में मन एवं हृदय के पारस्परिक सामञ्जस्य एवं सहयोगिता पर अधिक बल दिया गया है। यहाँ सम्पूर्ण समाज व राष्ट्र एक अति विशाल मन के रूप में परिकल्पित है जिसमें सद्भावना तथा सहअस्तित्व विद्यमान हो।

ऐसी जीवन शैली जीते हुए समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसके धर्म, अर्थ, काम एवं मुक्ति (तत्त्वावबोध) सम्बन्धी आवश्यकताओं व आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु पूर्ण अवसर मिलता है। भौतिक वस्तुओं-पदार्थों का उपभोग वाञ्छित सीमा व उपयोग तक ही अनुमन्य था। इस सीमारेखा का अतिक्रमण करने वाला असुरत्व वृत्ति की ही श्रेणी में माना गया। इन्द्रिय-निग्रह हेतु मनस्तत्त्व पर नियन्त्रण पाना अत्यावश्यक बतलाया गया। मन जब तक अन्य कर्मेन्द्रियों की भाँति साधनभूत एक उपकरण है तभी तक जीवन में सर्जन व विकास सम्भव हैं। जैसे ही यह स्वामी बना दिया जायगा यह विघटन एवं विनाश का कारण बन सकता है। जनकल्याण हेतु तप एवं श्रम देवत्व के मूल में माने गये और ये ही मानवता को अन्धी शक्तिमत्ता से दूर रखने में सहायक हो सकते हैं।

शुभम्।

परिशिष्ट

"क"

शब्द-सङ्केत-सूची

संकेत	पूर्ण नाम	संकेत	पूर्ण नाम
अ० प०	अथर्वपरिशिष्ट	तां० (तां०म०ब्रा०)	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
अभि० शा०	अभिज्ञानशाकुन्तलम्	तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
आ० गृ० सू०	आश्वलायनगृह्यसूत्र	तै० ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मण
आप० श्रौ०	आपस्तम्बश्रौतसूत्र	तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता
ऋक् सं०	ऋक्संहिता	पं०ब्रा०, पंचब्राह्मण	पञ्चविंशब्राह्मण
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण	पा० गृ०	पारस्करगृह्यसूत्र
का० श्रौ०	कात्यायनश्रौतसूत्र	पा० यो०	पातञ्जलयोगसूत्र
का० सं० (काठ० सं०)	काठकसंहिता	वा० श्रौ०	वाराहश्रौतसूत्र
काठ० गृ० सू०	काठकगृह्यसूत्र	बौ० ध०	बौधायनधर्मसूत्र
के० प०	केशवपद्धति	बौ० श्रौ० सू०	बौधायनश्रौतसूत्र
कौ० गृ०	कौथुमगृह्यसूत्र	मै० सं०	मैत्रायणीसंहिता
कौ० ब्रा०	कौषीतकिब्राह्मण	श० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
कौ० सू०	कौशिकसूत्र	शां० गृ०	शांखायनगृह्यसूत्र
खा० गृ०	खादिरगृह्यसूत्र	शां० ब्रा०	शांखायनब्राह्मण
गो० ब्रा० (गो०)	गोपथब्राह्मण	शौ०	शौनकीयअथर्ववेदसंहिता
गो० गृ०	गोभिलगृह्यसूत्र	ष० ब्रा०	षड्विंशब्राह्मण
जै० गृ०	जैमिनीयगृह्यसूत्र	हि० गृ०	हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
जै० ब्रा०	जैमिनीयब्राह्मण	हि० श्रौ०	हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र

"ख"

तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.12.9.2) तथा पंचब्राह्मण (25.18.4) में यथाक्रम वर्णित
वैश्वसृज-चयन हेतु ऋत्विजों की सूची।

आदर्शं अग्निं चिन्वानाः। पूर्वे विश्वसृजोऽमृताः। शतं वर्षसहस्राणि दीक्षिताः सत्रमासत।।

ऋत्विक्	तै० ब्रा०	पं० ब्रा०
1. गृहपतिः	तपस्	तपस्
2. पत्नी	इरा	इरा
3. अध्वर्युः	प्राणः	प्राणः
4· प्रतिप्रस्थाता	अपानः	अपानः
5. नेष्टा	त्विषिः	त्विषिः
6. उन्नेता		ऊर्क्
7. ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म
8. ब्राह्मणाच्छंसिन्	तेजस्	ओजस्
9. आग्नीध्रः	श्रद्धा	अग्निः एव
10. पोता	अपचितिः	अपचितिः
11. होता	सत्यम्	सत्यम्
12. प्रशास्ता (पं०ब्रा०मित्रावरुण)	ऋतम्	ऋतम्
13· अच्छावाकः	यशस्	यशस्
14· ग्रावस्तुत्	ओजस्	भग
15. उद्गाता	अमृतम्	अमृतम्
16. प्रस्तोता	भूतम्	भूतम्
17. प्रतिहर्ता	भविष्यत्	भविष्यत्
18· सुब्रह्मण्यः	वाक्	वाक्
19. उपगातारः	आर्तवाः	ऋतवः
20. सदस्यः	ऋतवः	आर्तवाः
21. शमिता	विशांपतिः	मृत्युः
22. चमसाध्वर्यवः	अर्धमासाश्च मासाश्च	
23· प्रेष्याः	मुहूर्ताः	
24· हविष्कृत्	आकूतिः	
25. हविष्येशिन्		आशा
26. इध्मवाहौ	क्षुत् तृष्ण	अहोरात्रे
27. ध्रुवगोपः	सहः	बलम्
28· पशुपाल्यौ	अहोरात्रे	
29· विशस्ता		दिष्टिः
30. धाता	मृत्युः	
31· राजासन्दी	ऊर्क्	

"ग"

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित **पुरुषमेध** हेतु देवता एवं **देवता-सम्बद्ध** पशुओं की **सूची**।
(वाजसनेयी संहिता में अंकित सूची **में** क्रम तथा देवता एवं पशुओं के संयोजन में भिन्नता है।)

(देवतायै)	(पशुं) आलभते	(देवतायै)	(पशुं) आलभते
1· ब्रह्मणे	ब्राह्मणम्	31· सन्धये	जारम्
2· क्षत्राय	राजन्यम्	32. गेहाय	उपपतिम्
3· मरुद्भ्यो	वैश्यम्	33. निर्ऋत्यै	परिवित्तम्
4. तपसे	शूद्रम	34. आर्त्यै	परिविविदानम्
5. तमसे	तस्करम्	35. अराध्यै	दिधिषूपतिम्
6· नारकाय	वीरहणम्	36. पवित्राय	भिषजम्
7. पाप्मने	क्लीबम्	37. प्रज्ञानाय	नक्षत्रदर्शम्
8. आक्रयाय	अयोगूम्	38. निष्कृत्यै	पेशस्यकारीम्
9. शमाय	पुँश्चलूम्	39. बलाय	उपदाम्
10· अतिक्रुष्टाय	मागधम्	40. वर्णाय	अनुरुधम्
11. गीताय	सूतम्	41. नदीभ्य:	मौञ्जिष्ठम्
12. नृत्याय	शैलूषम्	42. ऋक्षिकाभ्य:	नैषादम्
13. धर्माय	सभाचरम्	43. पुरुषव्याघ्राय	दुर्मदम्
14. नर्माय	रेभम्	44. प्रयुदभ्य:	उन्मत्तम्
15. नरिष्ठायै	भीमलम्	45. गन्धर्वाप्सरेभ्य:	व्रात्यम्
16. हसाय	कारिम्	46. सर्पदेवजनेभ्य:	अप्रतिपदम्
17. आनन्दाय	स्त्रीषखम्	47· अवेभ्य:	कितवम्
18. प्रमुदे	कुमारीपुत्रम्	48· इर्यतायै	अकितवम्
19. मेधायै	रथकारम्	49. पिशाचेभ्य:	विदलकारम्
20. धैर्याय	तक्षाणम्	50. यातुधानेभ्य:	कण्टककारम्
21. श्रमाय	कौलालम्	51· उत्सादेभ्य:	कुब्जम्
22. मायायै	कर्मारम्	52. प्रमुदे	वामनम्
23. रूपाय	मणिकारम्	53· द्वार्भ्य:	स्नामम्
24. शुभे	वपम्	54. स्वप्नाय	अन्धम्
25. शरव्याय	इषुकारम्	55. अधर्माय	बधिरम्
26· हेत्यै	धन्वकारम्	56. संज्ञानाय	स्मरकारीम्
27. कर्मणे	ज्याकारम्	57. प्रशनोद्याय	उपसदम्
28. दिष्टाय	रज्जुसर्जम्	58· अशिक्षायै	प्रश्निमम्
29. मृत्यवे	मृगयुम्	59. उपशिक्षायै	अनिप्रश्निमम्
30. अन्तकाय	श्वनितम्	60. मर्यादायै	प्रश्नविवाकम्

(देवतायै)	(पशुं) आलभते	(देवतायै)	(पशुं) आलभते
61. ऋत्यै	स्तेनहृदयम्	95. योगाय	योक्तारम्
62. वैरहत्याय	पिशुनम्	96. क्षेमाय	विमोक्तारम्
63. विवित्यै	क्षत्तारम्	97. वपुषे	मानस्कृतम्
64. औपद्रष्टाय	संग्रहीतारम्	98. शीलाय	अञ्जनीकारम्
65. बलाय	अनुचरम्	99. निर्ऋत्यै	कोशकारीम्
66. भूम्ने	परिष्कन्दम्	100. यमाय	असूम्
67. प्रियाय	प्रियवादिनम्	101. यम्यै	यमसूम्
68. अरिष्ट्यै	अश्वसादम्	102. अथर्वभ्य:	अवतोकाम्
69. मेधायै	वास:पल्पूलीम	103. संवत्सराय	पर्यारिणीम्
70. प्रकामाय	रजयित्रीम्	104. परिवत्सराय	विजाताम्
71. भायै	दार्वाहारम्	105. इदावत्सराय	अपस्कद्वरीम्
72. प्रभायै	आग्नेन्धम्	106. इद्वत्सराय	अतीत्वरीम्
73. नाकपृष्ठाय	अभिषेक्तारम्	107. वत्सराय	विजर्जराम्
74. व्रघ्नस्य विष्टपाय	पात्रनिर्णगम्	108. संवत्सराय	पलिक्नीम्
75. देवलोकाय	पेशितारम्	109. वनाय	वनपम्
76. मनुष्यलोकाय	प्रकरितारम्	110. अन्यतोऽरण्याय	दावपम्
77. सर्वेभ्योलोकेभ्य:	उपसेक्तारम्	111. सरोभ्य:	धैवरम्
78. अवर्त्यैबधाय	उपमन्थितारम्	112. वेशन्ताभ्य:	दाशम्
79. सुवर्गाय लोकाय	भागदुघम्	113. उपस्थावरीभ्य:	बैन्दम्
80. वर्षिष्ठाय नाकाय	परिवेष्टारम्	114. नड्वलाभ्य:	शौष्कलम्
81. अर्मेभ्य:	हस्तिपम्	115. पार्याय	कैवर्तम्
82. जवाय	अश्वपम्	116. अवार्याय	भार्गारम्
83. पुष्ट्यै	गोपालम्	117. तीर्थेभ्य:	आन्दम्
84. तेजसे	अजपालम्	118. विषमेभ्य:	यैनालम्
85. वीर्याय	अविपालम्	119 स्वनेभ्य:	पर्णकम्
86. इरायै	कीनाशम्	120. गुहाभ्य:	किरातम्
87. कीलालाय	सुराकारम्	121. सानुभ्य:	जम्भकम्
88. भद्राय	गृहपम्	122. पर्वतेभ्य:	किंपूरूषम्
89. श्रेयसे	वित्तधम्	123. प्रतिश्रुतकाय	ऋतुलम्
90. अध्यक्षाय	अनुक्षत्तारम्	124. घोषाय	भषम्
91. मन्यवे	अयस्तापम्	125. अन्ताय	बहुवादिनम्
92. क्रोधाय	निसरम्	126. अनन्ताय	मूकम्
93. शोकाय	अभिसरम्	127. महसे	वीणावादम्
94. उत्कूलविकूलाभ्यां	त्रिस्थिनम्	128. क्रोशाय	तूणवध्वम्

129.	आक्रन्दाय	दुन्दुभ्याघातम्
130.	अवरस्पराय	शङ्खध्मम्
131·	ऋभवे	अजिनसन्धायम्
132.	साध्येभ्यः	चर्मम्णम्
133.	जभित्सायै	पौल्कसम्
134.	भूत्यै	जागरणम्
135.	अभूत्यै	स्वपनम्
136.	तुलायै	वाणिजम्
137.	वर्णाय	हिरण्यकारम
138.	विश्वेभ्यो देवेभ्यः	सिध्मलम्
139.	पश्चाद्दोषाय	ग्लावम्
140.	ऋत्यै	जनवादिनम्
141.	वृद्ध्यै	अपगल्भम्
142.	संशराय	प्रच्छिदम्
143.	हसाय	पुंश्चलूम्
144.	शीताय	वीणावादंगणकम्
145.	यादसे	शाबुल्याम्
146.	नर्माय	भद्रवतीम्
147.	नृताय	तूणवध्मं, ग्रामण्यम् पाणिसंघातम्
148.	मोदाय	अनुक्रोशकम्
149.	आनन्दाय	तलवम्
150.	अक्षराजाय	कितवम्
151.	कृताय	सभाविनम्
152.	त्रेतायै	आदिनवदर्शम्
153.	द्वापराय	बहिःसदम्
154.	कलये	सभास्थाणुम्
155·	दुष्कृताय	चरका
156.	अध्वने	ब्रह्मचारिणम्
157.	पिशाचेभ्यो	सैलगम्
158.	पिपासायै	गोव्यच्छम्

159.	निर्ऋत्यै	गोघातम्
160.	क्षुधे	गोविकर्तम्
161.	क्षुत्-तृष्णाभ्याम्	तं यः गां, विकृन्तत मांस भिक्षमाण उपतिष्ठते
162.	भूम्यै	पीठसर्पिणम्
163.	अग्नये	अंशलम्
164.	वायवे	चाण्डालम्
165.	अन्तरिक्षाय	वंशनर्तिनम्
166.	दिवे	खलतिम्
167.	सूर्याय	हर्यक्षम्
168·	चन्द्रमसे	मिर्मिरम्
169.	नक्षत्रेभ्यः	किलासम्
170·	अह्ने	शुक्लं पिंगलम्
171.	रात्रियै	कृष्णं पिंगाक्षम्
172.	वाचे	पुरुषम्
173·	वायवे	प्राणं अपानं व्यानं उदानंसमानं तान्
174.	सूर्याय	चक्षु
175.	चन्द्रमसे	मनस्
176.	दिग्भ्यः	श्रोत्रम्
177.	प्रजापतये	पुरुषम् अथ एतान् अरुपेभ्यः,आलभते
178.	अतिह्रस्वं	अतिदीर्घम्
179.	अतिकृशं	अत्यंसलम्
180.	अतिशुक्लं	अतिकृष्णम
181.	अतिश्लक्ष्णं	अतिलोमशम्
182.	अतिकिरिटं	अतिदन्तुरम्
183.	अतिमिर्मिरं	अतिमेमिषम्
184·	आशायै	जामिम्
185.	प्रतीक्षायै	कुमारीम्

"घ"

सहायक ग्रन्थ-सूची (आर्ष एवं हिन्दी ग्रन्थ)

अनन्तराम डोगरा : पारस्करगृह्यसूत्र, चौखम्बा, वाराणसी, 1939

अमर सिंह : अमरकोश ।

आचार्य पं० वलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य एवं संस्कृति ।

आचार्य पं० सत्यव्रत सामश्रमी : ऐतरेयालोचनम्, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता-16

आपस्तम्ब : आपस्तम्बपरिभाषासूत्र धर्मसूत्र, हरदत्तमिश्र द्वारा वृत्ति, चिन्नस्वामी तथा रामनाथ शास्त्री द्वारा संशोधित, डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय द्वारा व्याख्या, चौखम्वा संस्कृत सीरिज़ आफिस वाराणसी, 1932

आर० एन० आप्टे : निबन्ध ।

आर० शर्मा शास्त्री : वौधायनगृह्यसूत्र, युनिवर्सिटी आव् मैसूर, 1920
: वेदांगज्योतिषम्, मैसूर, 1936

उदयनारायण सिंह : वाराहगृह्यसूत्रम्, शास्त्र पब्लिशिग हाउस, मधुरापुर, पो० विधुपुर बाजार, जिला मुजफ्फरपुर 1934

उर्मिला देवी शर्मा : शतपथब्राह्मण–एक सांस्कृतिक अध्ययन, नयी दिल्ली ।
शतपथब्राह्मण, विज्ञान भाष्य प्रकाशक-राजस्थान वैदिक तत्त्व शोध संस्थान, जयपुर, 1956

ए० एस० अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, अनुवादक : अनन्त सदाशिव 1959

काशी प्रसाद जायसवाल : हिन्दू राजतन्त्र भाग 2

कर्काचार्य : कात्यायनश्रौतसूत्रम्, सम्पादक—नित्यानन्द पन्त, भाग 1, चौखम्वा, वाराणसी, 1927

कात्यायन कात्यायनपरिभाषासूत्र ।

कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तलम्, एस०के० बेल्वल्कर द्वारा सम्पादित ।
: रघुवंश ।

कुमारिलभट्ट	: तन्त्रवार्तिक ।•
	: श्लोकवार्तिक, महादीपिका ।
गंगाप्रसाद उपाध्याय	: शतपथब्राह्मण ।
गोविन्द स्वामी	: बौधायनधर्मसूत्रम्, सम्पादक—चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्बा, वाराणसी, 1934.
जयकीर्ति	: छन्दोऽनुशासनम्
तित्तिर	: तैत्तिरीय संहिता, सम्पादक-विश्वबन्धु, 1963
दयानन्द सरस्वती	: ऋगादिभाष्यभूमिका ।
दुर्गाचार्य	: निरुक्तवृत्ति, आनन्दाश्रम पूना, भाग 1-2, 1924-26
नित्यानन्द शुक्ल	: ब्राह्मणों में सृष्टिविचार, वाराणसी ।
पतञ्जलि	: व्याकरणमहाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्) भाग 1–5, गुरुकुल झज्जर (रोहतक) 1961–64
पाणिनि	: अष्टाध्यायी, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1985
बे० रामचन्द्र शर्मा	: जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, तिरुपति, आन्ध्र ।
	: देवताध्याय-संहितोपनिषद्-वंशब्राह्मण ।
	: सामविधानब्राह्मण, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति, आन्ध्र, 1980
भगवद्दत्त	: वैदिक वाङ्मय का इतिहास (वैदिक एवं आरण्यक ग्रन्थ)
	: अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा ।
भट्टभास्कर	: तैत्तिरीयसंहिता-भाष्यम् ।
भरत	: नाट्यशास्त्र
मनु	: मनुस्मृति ।
मंगलदेव शास्त्री	: उपनिदानसूत्रम् (सम्पादित), राजकीय संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, 1931
	: ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद 1931
	: कौषीतकिब्राह्मणपर्यालोचनम् (सम्पादित) ।

यास्क : निरुक्त, चन्द्रमणि विद्यालंकार पालिरत्न कृत वेदार्थदीपक भाष्यसहित I–II भाग ।

रघुवीर : वाराहगृह्यसूत्र (गंगाधर एवं वशिष्ठ की संक्षिप्त पद्धति सहित) सम्पादित, पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर, 1932

राजेन्द्रलाल मित्र : गोपथब्राह्मण, जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता, लाला रामकपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत ।

रामगोविन्द त्रिवेदी : वैदिक साहित्य (प्रथम संस्करण) ।

राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता

रुद्रस्कन्द : खादिरगृह्यसूत्र (वृत्तिसहित), ए० महादेव शास्त्री एवं एल० श्रीनिवासाचार्य, गवर्नमेन्ट ऑव् मैसूर, 1913

लक्ष्मणस्वरूप : निघण्टुसमन्वितं निरुक्तम्, पंजाब विश्वविद्यालय 1927

वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन ।
: वेदरश्मि, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी 1964

व्यास : महाभारत

शबरस्वामी : मीमांसासूत्रभाष्य ।

शंकराचार्य : वृहदारण्यकोपनिषद् (भाष्य)
: श्वेताश्वतरोपनिषद् (भाष्य) ।

शंकरदत्त ओझा : संस्कृत को रघुवंश की देन, राजस्थान प्रकाशन मण्डल, लखनऊ-1984

श्रीनारायण : शांखायनगृह्यसूत्र, (भाष्य), राजकोट, 1932
: आश्वलायनगृह्यसूत्र, (भाष्य), गोविन्द पुरुषोत्तम रानाडे शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना-1936
: श्रीमद्भगवद्गीता

षड्गुरुशिष्य : ऐतरेयब्राह्मण (व्याख्या), अध्याय-1

सत्यव्रत शर्मा : निदानसूत्रम् (सम्पादित), कलकत्ता, 1896

सायण : आर्षेयब्राह्मण (वेदार्थप्रकाश सहित) ।
: ऋग्भाष्यभूमिका, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी ।
: ऋग्वेद संहिता भाग—1—5, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933–1951
: ऐतरेय ब्राह्मण (भाष्य), 1925
: षड्विंशब्राह्मण (वेदार्थप्रकाश सहित) तिरुपति, आन्ध्र ।
: सामविधानब्राह्मण (भाष्य) ।
: तैत्तिरीय संहिता, भाग—1—6, आनन्दाश्रम, पूना, 1940–48
: अथर्ववेद

सूर्यकान्त शास्त्री : ऋक् तन्त्रम्, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, 1933
: वैदिक कोश, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1963

"च"

सहायक ग्रन्थ सूची (अँग्रेजी में ग्रन्थ)

Agrawal, Vasudeo Sarana : India As Known to Panini.
: Vedic Symbolism. J.I.H. 41, 1963.

Aiyer, B. V, Kameshwar : The Lunar Zodiac in the Brahmanas I, A 48, 1919.

Albright & Dumont : A Parallel Between India and Babylonian Sacrificial Ritual.

Alexander : Everything is motion, Space time & deity vol. I Page 320

Apte, R. N. : Some Points Connected with Constructive Geometry of the Vedic Altars; A.B.O.R.1:7, 1926.

Apte, V.M. : Is Diti in Rgveda a mere Reflex of Aditi, S.B.B.A. 1948.

Apte, V.S. : Sanskrit English Dictionary.

Arnold, E. V. : Vedic Metre, Preface

Aurobindo, Maharsi : On the Veda.
: Foundation of Indian Culture.
: Synthesis of Yoga.

Banerji, B. C. : A. I. O, C. 12

Basu, Y. : India of the age of the Brahmanas.

Belvalkar, S.K. : History of Indian Philosophy.

Bhagwat, R. R. : A Chapter of the Tandya Brahmana JBBRAS 19-1985-97

Bhandarkar, R. G. : The Aryans in the land of the Asuras- Collected works I.

Bhargava, P. L. : India In the Vedic age. (2nd Edition) Lucknow, 1971

Bloomfield, Maurice : The Religion of the Vedas, New York, 1908.
: The Atharva Veda and the Gopatha-Brahmana, Strassburg, 1899.
: The Kaushika Sutras of Atharvaveda (Edited), New Haven, 1889, Motilal Banarasi Das, 1972

Bose, A.C. : The call of the Vedas.

Brondis : Forest Flora of North west and Central India.

Brown, J. W. : JOAS 39, 1919.

Burgen : La Religion Vedique,3, Poona 1969.

Caland, W. : Satapatha Brahmana, (Edited) 1905.
: Kathaka Grihyasutra (Edt.) DAV College, Lahore. 1925
: Jaimini Grihyasutra (Edt.) Motilal Banarasidas, Lahore 1922
: The Baudhayana Srauta Sutra (Edt.) Asiatic Society, Calcutta. Vol.I-III,

Choudhury, T. : History of Philosophy Eastern & Western, Vol. I.

Cole-Brooke : Miscellaneous Essays.

Dandekar, R. N. : Universe in Vedic Thought, Poona.
: Vedic Religion and Mythology.
: Vedic Bibliography, Bori, Poona, 1973.

Das, A. C. : Rigvedic India

Dasgupta, S. N. : History of Indian Philosophy.

Deshmukh, P. S. : Origin and Development of Religion in Vedic Literature, 1933.

Dikshit, V.V. : Relation Between Epics and the Brahmanas, Poona, 1952.

Dumont, P. E. : J.A.O.S., 78, 1958. (Rejoinder to Edgerton's Article,)

Edgerton, F. : Beginnings of Indian Philosophy.

Eggeling, Julius : The Satapatha Brahmana. (5 Volumes) S.B.E.12, Introduction.

Elliot : Races of the North west Provinces.

Emerson : Lectures and Biographical Sketches. Encyclopaedia Britannica Vol, 18.

Ewing Arthur H. : The Hindu Conception of the functions of the Breath, J. A. O. S., 22.

Gadgil, B.A. : J.B.R.A.S. vol. 19,

Ghosh, Bata Krishna : Collections of the Fragments of Lost Brahmanas, Calcutta, 1935.

Ghoshal, U.N. : Studies in Indian History and culture, calcutta, 1957
: The Gathas and Narasamsis, the Itihasa and Puranas of the Vedic Literature. I.H.Q.18, 1942.

Goldustucker : Quoted by Macdonnel & Keith.

Gorden, B. L. : Romance of Medicine.

Griffith, T.H. : The Hymns of the Rigveda, Vol I,II, Chowkhamba, 1963

: The Hymns of the Samaveda. (Fourth Edition) Chowkhamba, 1963

Gune, P. D. : Brahmana Quotations in the Nirukta, Commemorative Easays Presented to R.G. Bhandarkar.

Haug, Martin : The Aitareya Brahmana of the Rigveda, Vol. I, Introduction.

: Essays on the Parsis.

Heemann, B. : Kathenotheism Danastutis, A.B. O.R.I. 28, 1947.

Heres, R.V.H. : S.J. The Kingdom of Magadha, B.C. Law, Vol.I.

Hillebrandt, A. : Vedische Mythologie (2nd edition), 1927-29.

Hopkins, E. W. : The Religions of India, Boston, 1895. Problematic Passages in the R.V., J. A. O.S.15, 1893.

Theories of Sacrifices as Applied to RV PAOS. 1895.

Huxley A, Aldous : Perennial Philosophy.

Isuji, N.S. : Brahmanas and Srauta Sutras Tokyo, Japan, 1952

Jung, Carl, C. : Psychology of the unconscious.

Kant, w. Libby. : Introduction to History of Science.

Karnik, H.R. : 'Morals in the Brahmanas' Journal of the Bombay University (Arts), 27 (N.S.) Part II 1958.

: Some moral tales in the Satapatha brahamana implying condemnation of certain vices; A.I.O.C. 10

Kereny & Jung : Science of Mysthology.

Keith, A. B. : Aitareya Aranyaka.
: Taittiriya Samhita,
: Motilal Banarasi Das, Delhi, 1967.
: The Religion and Philosophy of the Vedas and UPanisads, Harvard Univerrsty Press, 1925.
: Rigveda Brahmanas Moti Lal Banarssi Das.

Kumaraswami, A.K. : A New Approach to the Vedas.

Law, B. C. : Ancient Indian Flora, Indian Culture, Volume . 1-4

Louis Renou : Vedic India, Calcutta, 1957
: Bibliographic Vedique, Paris, 1931

Lunia, B. N. : Evolution of Indian Culture.

Macdonnell Arthur, A. : Att. story of Sanskrit Literature, 1905.
: Vedic Mythology, Varanasi, 1963.

Macdonnell Arthur, A & Keith, A.B. : Vedic Index, Vo l. & II, Motilal Banarasi Das, Delhi, 1958.

Max Mueller, F. History of Ancient Sanskrit Literature, 1912.
: India-what Can it Teach Us.

Oldenberg, H. : Religion Des Veda.
: Gobhilagrihya Sutra (English Translation). Sacred Books of the East, Volume-XXX.

Pandita, M. P. : Mystic Approach to Veda and Upanisads. Calcutta University, 1927

Pandita, S.P. : Aditi and other Deties.

Pathak, Sridhara Sastry : Lectures On Dharmasutra, A.B.O.R.I. 14, 1932.-33

Potdar, K. R. : Sacrifices in the Rigveda, Bharatiya Vidya Bhavan Bombay, 1953.

: Sacrificial Setting of the Philosophical Hymns of the Rigveda, B.B. 1.2. 1951.

Purani, A. B. : Studies in Vedic Interpretation.

Puri, B. N. : India In Patanjali.

Pushalkar, A. D. : Vedic Age. London. 1951.

Raja, C. Kunhan : Poets and Philosophers of the Rigveda.
: Survey of Sanskrit Literature.

Ranade, R.D. : Universe of Vedic Thought. Poona. Vedic Bibliography, Bori, Poona :

Rao, S.K. Ramchandra : Development of Psychological Thought in India.

Rele : Vedic Gods.

Roth, R. : On the Morality of the Veda, J.A.O.S 3, 1853

Sengupta, Prabodhachandra : Age of the Brahmanas, I.H.Q. 10, 1934

Shastri A. Chinna-Swamy : Objects of offerings in the Srauta sacri- : fices, Princess of wales, Saraswati Bhawan Studies I, 1938.

Shastri, Dakshina Ranjana : A short History of Indian Materialism

Shastri, K.A.N. : Manu and Kautilya In History of Philosophy, Eastern & western.

Shastri, Kapali. : Lights on the Veda.

Sastri, Vidhu Sekhar : Vedic Interpretation and Tradition,

Singh Balawant & Chunekar K.C. :

Singh, Fateh. : Vedic Etymology.

Stewart and Brondis : Forest Flora of North-west and Central India.

Suryanarayan, R. N. : Universal Religion of the Veda J.A.O.S 3, 1853

Thite, Ganesh Umakant : Sacrifice in the Brahmana Texts, Poona University press, poona, 1975

Vedanta Vagish, Anand Chandra : Bibliothica, Indica 1870, 1874

Venkateshwar, S.V. : Indian Culture Through the Ages, Vol. I.

Weber, A. : Indische Studien, Part I,

: History of Indian Literature, Third edition, London, 1892.

White : God and the Unconscious.

Whitney, W.D. : Atharvaveda Pratisakhya, Chawkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi. 1962

on the so called Henotheism of the Veda PAO.S. New Haven, 1881

: On the Etymology of Vrata, P A.O.S. 1884.

: Atharvaveda Samhita (Vol.I-II), Motilal Banarasi Das, Delhi, 1962.

William's, M. Monier, : Sanskrit English Dictionary.

Wilson, H.H. : J.R.A.S., On Human Sacrifice In the Ancient Religious life of India,

Winternitz, M. : A History of Indian Literature, (Vol) Calcutta, 1927

Zimmer, H. : Hindu Medicine.

"छ"

लेखक—संदर्भ—संकेत

F.N.—Foot note

"ज"

अँग्रेजी शब्द-सङ्केत

H.O.S.	: Harvard Oriental series.
H.I.L.	: History of Indian Literture.
J.A.O.S.	: Journal of the American Oriental Society.
A.B.O.R.I	: Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute (Poona).
S.B.E.	: Sacred Books of the East
A.I.O·C	: All India oriental Conference.
Q.J.M.S	: Quarterly Journal of the Mythic Society, Bangalore.
I.H.Q.	: Indian Historical Quarterly (Calcutta).
J.I·H	: Journal of Indian History, Trivandrum formerly Madras.
J.R.A.S	: Journal of the Royal Asiatic Society, London.
J.O.A.S	: Journal of oriental Art Society.
J.B.B.R A.S	: Journal of the Bombay branch of the Royal Asiatic Society.
H.I.P.I.	: History of Indian Political Institutions.

"झ"

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति (ऊपर से)	अशुद्ध	शुद्ध
15	2	सहिताएं, था	संहिताएं, थीं
21	1	गृह्मसूत्र	गृह्यसूत्र
30	9	बिषय	विषय
33	14	ऋिषि	ऋषि
41	8	सामिश्रमी	सामश्रमी
49	29	दृष्टव्य	द्रष्टव्य

पृष्ठ	पंक्ति (ऊपर से)	अशुद्ध	शुद्ध
50	24	अविष्कार	आविष्कार
50	25	शाम	साम
60	30	आकंलन	आकलन
67	8	एव	एवं
73	19	जैंविक	जैविक
75	10	वाद	बाद
76	8	विधायावास्यंम्	विधायावास्यम्
86	8, 13	मध्यान्ह	मध्याह्न
87	24	पतिर्स्संवत्सर	पतिस्संवत्सर
88	12	चड़कर	चढ़कर
90	25	दर्वी	दार्वी
96	2	जाता	जाती
97	22	पराङ्युख	पराङ्मुख
97	23	दीक्षिन	दीक्षित
99	25	पूर्वार्घ्दे	पूर्वार्द्ध
100	7	चषकों भरकर	चषकों में भरकर
102	14	विध्नभय	विघ्नभय
103	8, 10	ग्रावास्तुत	ग्रावस्तुत्
106	14	छरि	छोर
107	21	पक्ति	पंक्ति
108	6	चौकर	चौकोर
108	20	है	हैं
112	11	ध्नन्ति	घ्नन्ति
116	10	नष्ठिक	नैष्ठिक
123	18	ब्राह्य	बाह्य
125	8	पबित्र	पवित्र
127	9	tne	the
130	6	असंभव	असंभव है।
130	15	पृष्ठभूमि	पृष्ठभूमि
135	14	स्वभाब	स्वभाव
135	19	अविष्कारक	आविष्कारक
147	11	संवत्सरं	संवत्सर
148	26	तन्डुल	तण्डुल

पृष्ठ	पंक्ति (ऊपर से)	अशुद्ध	शुद्ध
153	5	सवितॄ	सवितृ
154	5	धमनियों	नाडियों
160	3	रुद्रपिनाकपाणि	रुद्र पिनाकपाणि
161	6	आदित्य एवं सविता	'आदित्य एवं सविता
162	14	धोड़ों	घोड़ों
166-67	17-1	वृह	वृह्
167	4	मधवन्	मघवन्
169	3	(Reflexaition)	(Reflex action)
169	7	नियंत्रग	नियन्त्रक
172	टि० की 13वीं	एस० पी० पण्डित	एम० पी० पण्डित
184	14	सवद्ध	सम्वद्ध
185	14	है	हैं
187	8	आम्यन्तर	आभ्यन्तर
187	9, 10	संर्घष	संघर्ष
187	12	है	हैं
188	7	आवश्कता	आवश्यकता
188	25-26	पड़ पड़	पड़
189	8-9	को के	के
192	8	आवृष्कृत	आविष्कृत
192	12	है	हैं
196	21	बैठना हैं	बैठना है
199	15	दृश्यभाण	दृश्यमाण
212	20	पने	अपने
223	2	विद्य	विद्या
227	24, 25	सेल	'सेल'
228	2	पुंबीज	पुम्बीज
228	9	गर्भावक क्राम्ति	गर्भावक्रान्ति
228	14	म्रूण	भ्रूण
229	1	(वृपण)	(वृषण)
231	2	मरुत	मरुत्
233	7	(सियार) मृग	(सियार), मृग
233	8	(मेष)	(मेष),
233	20	(चील)	(चील),

पृष्ठ	पंक्ति (ऊपर से)	अशुद्ध	शुद्ध
234	12	मधृ	मधु
235	10	वनस्पतिया	वनस्पतियां
237	3	पाणिन	पाणिनि
238	23	पशुपक्षिओं	पशुपक्षियों
239	14	कपिकच्छ	कपिकच्छू
239	15, 16	भूम्यामेलकी	भूम्यामलकी
245	9	र्सा......	समिधा
254	15	विहित	विहित
255	9-10	श्लेष्मातक	श्लेष्मान्तक
258	4	गया	गया है।
260	15	उद्घृत	उद्धृत
264	19	हमारा	हमारी
264	24	उदात	उदात्त
265	24	पदाथों	पदार्थों
275	22	अंगोपागो	अंगोपांगों
276	10	'शलमलि'	'शालमलि'
277	2	चिमटा)	(चिमटा)
280	7	है	है।
286	टि०1की 5वीं	'बेनर' 'कामनन्स'	'बेरन' 'कामन्स'
295	24	लेते।	लेते
297	1	मण्डराती	मडराती
297	3-4	बालयौवन जरा	बाल यौवन जरा
300	6	(हड्डियों)	(हड्डियाँ)
301	2	मांशपेशि	मांसपेशी
304	27	ड्यूमाष्ट	ड्यूमाण्ट
306	12	घ्राणे इन्द्रिय	घ्राणेन्द्रिय
311	4	ऋृत	ऋत
311	5	रखती	रखती है।
313	5	मुक्ति	मुक्त
314	13	ब्रह्मवादियां	ब्रह्मवादियों
314	22	अग्गिज्योंतिः	अग्निर्ज्योतिः
316	15	इश	इस
323	1	बह	वह

इसी लेखनी से

'शिवाराधन प्रकाशन की अन्य कृति
'प्राच्यन्याय में कथा का उद्भव एवं विकास'

इस ग्रन्थ में 'दर्शन' शब्द एवं 'दर्शन-शास्त्र' दोनों को पारिभाषित करते हुए विषय के प्रतिपाद्य दर्शन 'न्याय-शास्त्र' के परिचय, प्रादुर्भाव तथा उसके क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला गया है। न्याय की प्राच्य एवं नव्य दोनों ही धाराओं के ग्रन्थकारों एवं उनके ग्रन्थ से भी परिचित कराया गया है। साथ ही मध्य-न्याय जैन एवं बौद्ध न्याय के नैयायिकों ने कथा को किस रूप में लिया, यह भी आकलित किया गया है। 'कहानी' अर्थ में प्रयुक्त 'कथा' शब्द में 'विचार' पहले से ही बीजरूप में विद्यमान थे और बीजरूप में विद्यमान उन्हीं विचारों ने न्याय की 'कथा' में प्रधान रूप धारण कर लिया। प्राच्य न्याय का पारिभाषिक पद 'कथा' चर्चा या वार्तालाप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसके तीन भेद—वाद, जल्प तथा वितण्डा हैं। तत्त्व-जिज्ञासु की कथा वाद है। स्वपाण्डित्य प्रदर्शनार्थ कथा के दो भेद हैं—जल्प एवं वितण्डा। जल्प में अपने पक्ष का स्थापन तथा परपक्ष का खण्डन होता है, परन्तु वितण्डा में केवल परपक्ष का खण्डन ही अभीष्ट रहता है। कथा के ही द्वारा विद्वान् विवेचनीय विषय के निष्कर्ष पर पहुँच पाता है। आज के युग का वाद–प्रतिवाद, 'सेमिनार', 'सिम्पोज़ियम', न्यायालयों में वकीलों का कथनोपकथन तथा विधान-मण्डल एवं लोक-सभा आदि में सदस्यों के विचार-विमर्श जल्प कथा के ही परिवर्धित रूप हैं। इस प्रकार जल्प कथा का आज भी बने रहना 'कथा' की उपयोगिता एवं अपरिहार्यता सिद्ध करता है। इस समूचे प्रकरण पर पाण्डित्यपूर्ण विवेचन पुस्तक को अत्यन्त उपादेय बना देता है। न्याय दर्शन के शीर्षस्थ विद्वान् ब्रह्मलीन आचार्य पं० बदरीनाथ जी शुक्ल, भूतपूर्व कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने अपने आशीर्वचन से ग्रन्थ को विभूषित किया है।